



जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

2754



डॉ० हीराबाई बोरविया

सच्चं लोगम्नि सारभूयं



पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-

पार्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५७ सम्पादक : प्रो० सागरमल जैन

जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

भूमिका
प्रो० सागरमल जैन

लेखिका
डॉ० (श्रीमती) हीराबाई बोरदिया



सच्चं लोगम्मि सारभूयं
पार्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

प्रकाशक :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त)

आई० टी० आई० रोड, करौंदी, वाराणसी-५

फोन : ३११४६२



संस्करण : प्रथम १९९१

मूल्य : रुपए पचास मात्र



Jaina-dharma Kī Pramukha Sādhvīyān Evaṃ Mahilāyen

DR. (Smt.) HIRA BAI BORDIA

Price Rs. 50.00

First Edition 1991



मुद्रक :

वर्द्धमान मुद्रणालय

जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

प्रकाशकीय

‘जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ’ नामक यह ग्रन्थ पाठकों के कर कमलों में प्रस्तुत करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। भारतीय धर्मों में नारी को पुरुष के समकक्ष स्थापित करने में जैन धर्म विशेष रूप से अग्रणी रहा है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान ने इसके पूर्व भी ‘जैन एवं बौद्ध आगमों में नारी जीवन’ तथा ‘जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ’ नामक ग्रन्थ प्रकाशित कर जैन धर्म में नारी की महत्ता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उसी क्रम में हम ‘जैन धर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ’ नामक यह शोध प्रबन्ध प्रकाशित कर रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की लेखिका डॉ० (श्रीमती) हीराबाई बोरदिया हैं। प्रस्तुत कृति उनके उस शोध प्रबन्ध का ही संशोधित एवं संक्षिप्त रूप है, जिस पर उन्हें देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया गया था। उन्होंने अपनी इस कृति को पार्श्वनाथ विद्याश्रम को प्रकाशनार्थ प्रदान किया, अतः पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार उनके प्रति आभार व्यक्त करता है। ज्ञातव्य है कि डॉ० हीराबाई बोरदिया भारत के सुप्रसिद्ध क्षय-रोग चिकित्सक पद्मश्री नन्दलाल जी बोरदिया की धर्मपत्नी और (डॉ०) स्वामी ब्रह्मेशानन्द की माता हैं। उनके पति की लोकसेवा तो सर्व विश्रुत है ही, उनके पुत्र ने भी संन्यास ग्रहण करके अपने को मानव सेवा के प्रति समर्पित कर दिया है। पति एवं पुत्र की इस सेवा भावना के मूल में हीराबाई बोरदिया की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही होगी, इस तथ्य को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। आज तिहत्तर वर्ष की वय में भी हीराबाई बोरदिया में अध्ययन की जो अभिरुचि है, वह स्पृहणीय है। हमें आशा है कि उनकी प्रस्तुत कृति से पाठक वर्ग जैन धर्म की प्रमुख साध्वियों एवं विदुषी महिलाओं के जीवनवृत्त से परिचित होगा और उनके सामाजिक योगदान का सम्यक् मूल्यांकन कर सकेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन, प्रकाशन एवं भूमिका लेखन में संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन ने जो परिश्रम किया है, उसके लिए उनके प्रति प्र आभार प्रकट करना मात्र औपचारिकता ही होगी। प्रस्तुत भूमिका

में उन्होंने जैनधर्म में महिलाओं की स्थिति का मूल्यांकन करने का जो प्रयत्न किया है, उससे प्रस्तुत कृति के महत्त्व में भी अभिवृद्धि हुई है। ग्रन्थ प्रकाशन हेतु हमें बोरदिया परिवार से जो आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए भी हम उनके आभारी हैं।

यद्यपि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में लेखिका ने कुछ समकालीन (१९वीं-२०वीं शती) साध्वियों का विवरण प्रस्तुत किया था, किन्तु हमारी दृष्टि में उसे विस्तार देना आवश्यक था, अतः हमें समकालीन जैन साध्वियों के सन्दर्भ में जो भी सूचनात्मक एवं विवरणात्मक लेख प्राप्त हो सके उन्हें यथावत् या संक्षिप्त करके सम्पादक डॉ० सागरमल जैन ने ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में दे दिया है, अतः उन सभी लेखकों एवं प्रकाशकों के प्रति भी हम आभार व्यक्त करते हैं, जिनके लेखों का संकलन प्रस्तुत कृति में किया गया है।

प्रस्तुत कृति के सम्पादन और प्रूफ संशोधन में डॉ० इन्द्रेश चन्द्र सिंह ने जो विशेष श्रम किया उसके लिए संस्थान उनके प्रति आभार व्यक्त करता है। सम्पादन, प्रकाशन और प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में डॉ० शीतिकण्ठ मिश्र, डॉ० अशोक कुमार सिंह, श्री दीनानाथ शर्मा एवं डॉ० त्रिवेणी प्रसाद सिंह का भी सहयोग हमें प्राप्त हुआ है। हम इन सभी के आभारी हैं। अन्त में सुन्दर कलापूर्ण मुद्रण के लिए हम वर्तमान मुद्रणालय को धन्यवाद देते हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मंत्री

समर्पण



समाजसेवी पद्मश्री डॉ० नन्दलाल बोरदिया

जन्म
जनवरी १९०१ ई०

देह-विलय
सितम्बर १९८१ ई०

लेखकीय

तीर्थंकर महावीर के २५००वें निर्वाणोत्सव की बेला में मन में यह भाव सहज ही जागृत हुआ कि युगद्रष्टा एवं युगस्रष्टा भगवान् महावीर के उपदिष्ट आगमों में नारी का क्या स्थान और मूल्य रहा है—इसे समझा जाये। इसी आन्तरिक जिज्ञासा ने मुझे जैनधर्म के नारी-इतिहास की ओर मोड़ दिया।

महावीर जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर हुए हैं, इनके सम्बन्ध में आचार्य विनोबा भावे ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में अपना मत प्रगट करते हुए लिखा है, “महावीर के धार्मिक सम्प्रदाय में स्त्री-पुरुषों का किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं किया गया है। पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार प्राप्त हैं, महिलाओं को भी वे सब अधिकार प्राप्त हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नहीं रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे अधिक श्रमणियाँ थीं और यही प्रथा आज तक जैनधर्म में चली आ रही है।”

महावीर ने अपने चतुर्विध संघ में श्रावक एवं श्राविकाओं को भी समान स्थान दिया। उन्होंने स्त्री-पुरुषों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं रखा। वे अपने इस निर्णय पर दृढ़ प्रतिज्ञ रहे। उनके मन में स्त्रियों के लिए एक विशेष आदर था और वास्तव में यही उनकी महावीरता भी थी।^१ आचार्य विनोबा भावे द्वारा प्रस्तुत नारी के धार्मिक अधिकार के सम्बन्ध में महावीर का यह दृष्टिकोण मेरा प्रेरणा-स्रोत रहा है। एक जिज्ञासु की तरह मन में एक शुभ संकल्प आया कि जैनधर्म एवं सांस्कृतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य में प्रथम तीर्थंकर से लेकर बीसवीं सदी तक नारी का क्या स्थान रहा है? इसको प्रकाश में लाना आवश्यक है।

आगम ग्रन्थों में नारी को पुत्री, पत्नी, भगिनी, माता एवं तपस्विनी आदि रूपों में वर्णित किया गया है। जैन साहित्य में वर्णित जैन श्रमणियों एवं श्राविकाओं के जीवन वृत्त को एक कालक्रम में शृंखलाबद्ध करके उनका मूल्यांकन करने का लघु प्रयास मैंने इस शोध ग्रन्थ में किया है।

जैन परम्परा में नारी के महत्त्व का विवरण प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय से ही मिलने लगता है। ब्राह्मी ने सर्वप्रथम भगवती दीक्षा ग्रहण कर न केवल साध्वियों का नेतृत्व किया। अपितु बाहुबली को प्रतिबोधित भी किया। माता मरुदेवी पुत्र-स्नेह को त्याग कर केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध हुईं।

धर्म, कला एवं संस्कृति के इस प्रारम्भिक काल में नारी को—जो उच्च स्थान प्राप्त था—वह परवर्ती तीर्थंकरों के समय में भी यथावत् रहा। अनेकों भारतीय नारियों ने जैन साधना मार्ग को स्वीकार करके अपना आत्म कल्याण कर निर्वाण पद प्राप्त किया। नारी के इन धार्मिक अधिकारों में अनुक्रम से उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गई। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्ली नारी थे—इस तथ्य को स्वीकार कर श्वेताम्बर जैन परम्परा ने तो नारी को आध्यात्मिक पूर्णता के सर्वोच्च पद पर स्थापित कर दिया। आध्यात्मिक जगत् में नारी को दिया गया यह सर्वोच्च सम्मान तथा चतुर्विध संघ में उनका श्रमणियों एवं श्राविकाओं का समान अधिकार यह द्योतित करता है कि जैन परम्परा में नारी को विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।

आगमिक और आगमेतर जैन साहित्य अध्ययन के माध्यम से विभिन्न महिमामयी नारियों, तपस्वियों, साध्वियों, गृहस्थ और विदुषी श्राविकाओं का शृंखलाबद्ध विस्तृत इतिहास प्रस्तुत करना ही इस शोध प्रबन्ध का अभीष्ट है।

भारतीय धार्मिक परम्पराओं में नारी को कई रूपों में चित्रित किया गया है। वैदिक परम्परा नारी के पातिव्रत्य को अधिक महत्त्व देती है, उसमें नारी के लिए पुरुष की सहधर्मिणी बन, परछाईं की तरह उसके साथ चलने का निर्देश है। बौद्ध परम्परा नीति-प्रधान नारी जीवन को प्रोत्साहित करती है। जैन संस्कृति नारी जीवन में आध्यात्मिक भावना की ज्योति जगाकर उसे साधना के लिये अत्यन्त कर्तव्यशील और निष्ठावान बनाती है। जैन संस्कृति की उदार भावना के फलस्वरूप ही उसके धर्म संघ में साध्वियों एवं श्राविकाओं को क्रमशः साधु एवं श्रावकों के समान स्थान दिया गया।

प्रागैतिहासिक काल की जैन साध्वियों एवं विदुषी महिलाओं का विवरण तीर्थंकरों की मातायें, पत्नियाँ और उनकी संतति के रूप में मिलता है। इन जैन विदुषियों का व्यक्तित्व और कृतित्व परखा जाय, तो यह प्रतीत होता है कि ये विदुषी महिलाएँ अपने व्यक्तित्व को तीर्थंकरों

के व्यवितत्व में प्रतिबिंबित किये हुए थीं, और युगों-युगों से जन-मानस तीर्थकरों के माध्यम से ही इन विदुषी नारियों के व्यक्तित्व से परिचित रहा है।

उन युगों में जो भी जैन साध्वियाँ तथा विदुषी महिलाएँ हुईं, उनकी अपनी उपलब्धियाँ अवश्य रही होंगी, परन्तु ऐतिहासिक साधनों के अभाव में उन महिलाओं के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को उभार कर उनका वास्तविक चरित्र-चित्रण प्रस्तुत कर पाना कठिन है। इस ऐतिहासिक कमी की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए मुनि सुशील कुमार जी ने अपने उद्गार प्रकट किये हैं—“महावीर के समय चन्दनबाला साध्वी समाज की प्रमुखा थीं—महासती चन्दनबाला के मोक्ष गमन के बाद कौन सौभाग्यशालिनी साध्वी महासती प्रव्रतिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई, इसका वर्णन जैनधर्म के इतिहास में उपलब्ध नहीं है।”

इतिहासवेत्ता श्रीमान् अगरचन्द जी नाहटा ने भी अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखा है, “भगवान् महावीर की प्रथम एवं प्रधान शिष्या चन्दनबाला से लेकर अब तक के साध्वी-समाज का सिलसिलेवार इतिहास प्राप्त नहीं होता है।” डॉ० कोमलचन्द जैन ने अपनी पुस्तक “बौद्ध एवं जैन आगमों में नारी जीवन” में लिखा है कि “जैन आगमों को आधार बनाकर जैनधर्म में नारी जीवन पर आज तक कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा गया है।”

जैनधर्म के इतिहास की इस कमी ने मेरा ध्यान आकर्षित किया और मैंने माता मरुदेवी से प्रारम्भ कर वर्तमान काल तक की जैन साध्वियों एवं विदुषी महिलाओं के जीवन पर कथा ग्रन्थों एवं ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर प्रकाश डालने की कोशिश की है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सात अध्यायोंमें जैन धर्मकी साध्वियों एवं विदुषी महिलाओं के व्यवितत्व एवं कृतित्व का विवेचन एवं उनके विशिष्ट धार्मिक कार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रथम अध्याय में प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव से लेकर तेइस तीर्थकरों की माताओं, पुत्रियों, उनके समयकी विशिष्ट राज महिलाओं, साध्वियों आदि का वर्णन है। ये सभी विवरण प्रागैतिहासिक कालके है और मुख्यतः जैन कथा ग्रन्थों पर आधारित है।

द्वितीय अध्याय में तीर्थकर महावीर स्वामी के काल की महिलाओं को चार वर्गों में विभाजित किया गया है। महावीर के परिवार की महिलाएँ,

राजमहिषियाँ, श्रेष्ठिवर्ग की महिलाएँ एवं दासियाँ, इन सब के व्यक्तित्व के विशिष्ट गुणों की चर्चा करते हुए उनके त्यागमय जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

तृतीय अध्याय में तीर्थंकर महावीर के पश्चात् की साध्वियों और विदुषी महिलाओं [ई० पूर्व ५२७ से ईसा की प्रथम शती तक] का वर्णन है। इस अध्याय में उस समय की राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए जैन धर्म की प्रमुख महिलाओं की धर्म निष्ठा एवं आध्यात्मिक उपलब्धि की चर्चा की गई है।

चौथे अध्याय में दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक का वर्णन किया गया है। यद्यपि इस काल में महिलाओं के उल्लेख बहुतायत से प्राप्त नहीं होते हैं, तथापि आचार्यों की जननी एवं अन्य ऐसी विदुषी महिलाओं के रूप में इनका चित्रण अवश्य हुआ है, जिन्होंने कठिन परिस्थितियों में भी जैन धर्म से अपनी आस्था को डिगने नहीं दिया।

पाँचवें अध्याय में दक्षिण भारत की उन विशिष्ट महिलाओं का वर्णन है, जिनके त्याग, तपस्या एवं विशिष्ट ज्ञान ने जैन समाज को सदैव उत्प्रेरित किया है। इन महिलाओं ने अपनी निजी धनराशि से मंदिर, वसति, पौषधशाला, आयागपट्ट आदि बनवाये एवं उनके नियमित खर्च के लिए भी धनराशि की व्यवस्था की।

छठे अध्याय के अन्तर्गत आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी में हुई जैन साध्वियों एवं विदुषी महिलाओं के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। इस काल में जैन धर्म तपागच्छ, खरतरगच्छ, अंचलगच्छ एवं अन्य सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था। उस काल में भी महिलाओं ने दीक्षित होकर आत्म साधना की इस जीवनधारा को सूखने नहीं दिया।

सातवें अध्याय में सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक की जैन धर्म की साध्वियों एवं विदुषी महिलाओं के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

परिशिष्ट में समकालीन जैन साध्वियों का विवरण दिया है। मैं इस अध्याय का पुनर्लेखन करना चाहती थी, किन्तु वृद्धावस्था के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। अतः सम्पादक डॉ० सागरमल जैन के सुझावानुसार विभिन्न सम्प्रदायों की साध्वियों के सन्दर्भ में उपलब्ध लेख संकलित कर उन्हें संक्षिप्त करके प्रस्तुत कर दिया गया है और उनके लेखक और प्रकाशक का यथा स्थान उल्लेख कर दिया गया है।

अपनी इस रचना में त्याग-तपस्या की प्रतिमूर्ति नारी के परम्परागत जीवन-चरित्र को यथावत् एकत्रित कर उनके विशिष्ट गुणों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया गया है। इससे महिलाओं के इतिहास की पूर्ति हो सकेगी, इसी विश्वास के साथ यही विषय चुना था तथा जैसा भी बन पड़ा आपके सामने प्रस्तुत है।

इस प्रबन्ध को लिखते समय आज के वैज्ञानिक युग की विचारधारा भी मेरे समक्ष रही। वर्तमान के वैज्ञानिक धरातल में प्रत्येक शिक्षित विचारवान् व्यक्ति प्रमाणभूत सिद्धान्तों को अपनाना चाहता है। वह चमत्कारों एवं तिलस्मी कथाओं से दूर भागता है, क्योंकि उसके सामने तो प्रामाणिक सिद्धान्तों के उदाहरण बिखरे पड़े हैं। हमारे वैदिक, जैन एवं बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों में अलौकिकता एवं पौराणिक वर्णन भरे पड़े हैं। इस शोध ग्रन्थ में अलौकिक घटनाओं के वर्णन को यथा सम्भव छोड़ दिया गया है। मैंने उस समय की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थिति में महिलाओं के व्यक्तिगत एवं आध्यात्मिक गुणों को वास्तविकता के धरातल पर परखने की कोशिश की है।

जैन परम्परा में तीर्थंकर के जीवन से सम्बद्ध पाँच कल्याणकों की मान्यता है—१. च्यवन कल्याणक, २. जन्म कल्याणक, ३. दीक्षा कल्याणक, ४. केवलज्ञान कल्याणक और ५. मोक्ष कल्याणक। कल्पसूत्र में इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें च्यवन एवं जन्म कल्याण के समय देवतागण एवं इन्द्र स्वयं आकर तीर्थंकरों की माताओं को प्रणाम करते हैं और चौसठ दिक्कुमारिकाओं को उनकी सेवा में रखते हैं। यह जैन धर्म में माता के विशिष्ट स्थान एवं श्रद्धा का द्योतक है। तीर्थंकरों की जननी का जिस प्रकार आगम ग्रन्थों में सम्मान किया गया है, कदाचित् अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

जैन धर्म में स्त्री को चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में भी स्थान दिया गया है। राजा भरत ने सुन्दरी को स्त्री-रत्न की उपाधि देने का संकल्प किया था, परन्तु उसने आत्मसाधना कर संसार त्याग का प्रण लिया और त्याग को अधिक महत्त्व दिया। इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्म में स्त्री केवल भोग सामग्री नहीं थी, वरन् उसे भी स्वतंत्र रूप से विकसित एवं पल्लवित होने के समुचित अवसर प्राप्त थे। जिनसेन के अनुसार उस समय की महिलाओं के सामने यह आदर्श था—‘तदैव ननु पाण्डित्यं, यत्संसारतप्त-मुद्धरेत्’—अर्थात् संसार से उद्धार पा लेना ही पंडिताई एवं चतुराई है।

यह सत्य है कि जैन महिला वर्ग का सम्पूर्ण ऐतिहासिक विवेचन करना एक दुष्कर कार्य है, क्योंकि अनासक्त आत्म-प्रशंसा तथा प्रशस्ति से दूर, महान् पवित्र त्यागमय जीवन को लक्ष्य बनानेवाली इन महिलाओं के सम्बन्ध ऐतिहासिक साक्ष्य और उल्लेख अल्पतम हैं। फिर भी गुरुजनों एवं सहयोगियों के मार्गदर्शन से एक प्रयास करने साहस किया है। मेरी सफलता का मूल्यांकन तो पाठकगण को ही करना है।

कृतज्ञता ज्ञापन :

जैन धर्म के प्रति मेरी जिज्ञासा एवं श्रद्धा प्रारम्भ से ही रही है। इसी जिज्ञासा के कारण जैन धर्म की साध्वी तथा श्राविकाओं के सम्बन्ध में कुछ शोध कार्य करने की प्रेरणा सर्व प्रथम मुझे दिल्ली में डॉ० सुरेन नवलखा (इंस्टिट्यूट आफ इकोनामिक ग्रोथ, दिल्ली विश्वविद्यालय) से प्राप्त हुई। डॉ० नवलखा से केवल मार्गदर्शन ही प्राप्त नहीं हुआ, वरन् साध्वियों से साक्षात्कार के लिए प्रश्नावली तैयार करने में भी पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रदर्शित करती हूँ।

पूज्य गुरुजनों एवं साध्वी समुदाय ने भी मुझे यह कार्य करने की प्रेरणा प्रदान की। आदरणीया साध्वी सुमति कुँवरजी ने इस कार्य में मुझे सतत् उत्साहित किया तथा सामग्री प्राप्त करने में सहयोग प्रदान किया। माननीय श्री सौभाग्यमलजी जैन (शुजालपुर), भूतपूर्व मंत्री, मध्य प्रदेश ने मेरे द्वारा लिखे गये अध्यायों को पढ़कर मार्गदर्शन दिया। श्रीमान् अजरचन्दजी नाहटा ने विदुषी महिलाओं की कृतियों को उपलब्ध कराने में मुझे सहयोग दिया, अतः मैं इन सभी की भी आभारी हूँ।

आदरणीय पं० दलमुखजी भाई मालवणिया पूर्व संचालक ला. द. विद्या संस्कृति मंदिर, अहमदाबाद तथा डॉ० मोहनलालजी मेहता, पूर्व निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी की भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने मुझे सन्दर्भ पुस्तकें प्राप्त करने में सहयोग दिया, साथ ही विषय के प्रतिपादन में मार्गदर्शन दिया।

डॉ० कैलाशचन्द्रजी जैन (प्रोफेर, इतिहास विभाग, विक्रम विश्व-विद्यालय, उज्जैन) ने भी समय-समय पर जैन महिलाओं के सम्बन्ध में सूचनाएँ देकर मेरा मार्गदर्शन किया। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे आदरणीय श्री बी० एन० लुनियाजी (प्राचार्य, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर, म. प्र.) के निर्देशन में शोध कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपकी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से ही मैं यह शोध-

कार्य पूर्ण करसफलता प्राप्त कर सकी। महविद्यालय की जिम्मेदारियों के निर्वहन में अत्यन्त व्यस्त रहकर भी आप सदैव तत्परता से मेरी समस्याओं का समाधान कर मुझे प्रोत्साहित करते रहे। आदरणीय लुनिया जी की आत्मीयता एवं प्रेरणा से ही मैं इस कार्य को पूर्ण कर सकी, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। प्रो० आई० एस० मेहता ने भी समय-समय पर मेरा उत्साहवर्धन किया। न्यायाधीश श्री मुरारीलाल तिवारी ने जैन विदुषी महिलाओं के कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डालकर मार्गदर्शन किया। आप सबके प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। समस्त पुस्तकालयाध्यक्षों—इन्दौर कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर विश्वविद्यालय, अहिल्या केन्द्रीय पुस्तकालय, इन्दौर जनरल लायब्रेरी, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन—की भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकें प्रदान कर मुझे सहयोग दिया।

श्रीमान् हस्तीमलजी झेलावत, सेक्रेटरी, स्थानकवासी समाज ने मुझे पुस्तकें उपलब्ध करने में सहयोग प्रदान किया एवं साध्वी वर्ग से साक्षात्कार हेतु प्रोत्साहित किया। साध्वी वर्ग के सर्वेक्षण कार्य में, उनसे प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण करने में तथा साध्वी समाज की उन्नति के लिए मेरे पतिदेव पद्मश्री डॉ० एन० एल० बोरदियाने कई रचनात्मक सुझाव दिये हैं। मैं अपने जीवन में उनकी ही प्रेरणा से आज तक ज्ञानवर्धन करती रही हूँ। श्री गोपीवल्लभजी त्रिवेदी ने लेखन की अशुद्धियों के सुधार ने में सहयोग दिया। श्री पं० नाथूलालजी ने दिगम्बर साहित्य में महिलाओं के चरित्र सम्बन्धी सामग्री एकत्रित करने में सहयोग प्रदान किया। इन समस्त महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु मेरे पुत्र स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी की प्रेरणा और पार्श्वनाथ विद्याश्रम के वर्तमान निर्देशक डॉ० सागरमल जी का सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने अपने संस्थान के सहयोगियों के माध्यम से इसका प्रकाशन सम्भव बनाया है और भूमिका और परिशिष्ट के द्वारा इस ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की है। अतः उनकी मैं आभारी हूँ।

अन्त में मैं उन समस्त विद्वानों, मित्रों एवं सहयोगियों की भी आभारी हूँ, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस शोध कार्य में मुझे सहयोग प्रदान किया।

हीराबाई बोरदिया

चैत्र शुक्ल त्रयोदशी

२८ अप्रैल १९९१

विषय-सूची

अध्याय १ : प्रागैतिहासिक काल की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ १-५२

मरुदेवी १, सुमंगला ३, सुनन्दा ३, यशस्वी, सुनन्दा ४, जयन्ती ४, ब्राह्मी ५, सुन्दरी ६, सेनादेवी ८, सिद्धार्थी ९, मंगला ९, सुसीमा १०, पृथ्वी १०, लक्ष्मणा ११, रामादेवी ११, नन्दा १२, विष्णुदेवी १२, जयदेवी १३, श्यामा १३, सुयशा १४, सुव्रता १४, अचिरादेवी १५, श्रीदेवी १५, महादेवी १६, प्रभावती १६, मल्लिनाथ १७ पद्मावती २१, वप्रादेवी २१. शिवादेवी २२, राजीमती २३, देवकी २७, रुक्मिणी, सत्यभामा ३०, द्रौपदी ३१, द्रौपदी-मूल्यांकन ३३, थावच्चा ३३, सीता ३४, मन्दोदरी ३७, कैकेयी ३९, अंजना ४२, दमयन्ती ४४, मयणा-सुन्दरी ४५, मदनसेना ४५, मदनमंजूषा ४६, मदन-रेखा ४६, गुणसुन्दरी ४६, त्रिलोकसुन्दरी ४७, शृंगारसुन्दरी ४७, जयसुन्दरी ४७, तिलकसुन्दरी ४७, वामादेवी ४८, तीर्थंकर पार्श्वनाथ की संघ-व्यवस्था में नारी का स्थान ५१ ।

अध्याय २ : तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ ५३-१३१

देवानन्दा ५४, गर्भहरण ५५, त्रिशला ५६, यशोदा ६१, यशोदा-मूल्यांकन ६२, प्रियदर्शना ६३, सुदर्शना ६५, ज्येष्ठा ६६, शेषवती ६७, चन्दनबाला ६७, प्रभावती ७०, पद्मावती ७२, मृगावती ७३, मृगावती-मूल्यांकन ७७, शिवादेवी ७८, सतीत्व-परीक्षा ७८, सुज्येष्ठा ७९, चेलना ८१, चेलना की साधुभक्ति ८१, चेलना की पतिभक्ति ८२, धारिणी ८३, धारिणी-मूल्यांकन ८५, अंगारवती ८५, नन्दा ८६, श्वे० और दिग० परम्परा में चेटक की पुत्रियों का उल्लेख ८८-८९, वासवदत्ता ८९, वासवदत्ता-

मूल्यांकन ९०, दुर्गन्धा ९०, दुर्गन्धा-मूल्यांकन ९२,
 पृथा ९२, पृथा-मूल्यांकन ९३, काली ९३, सुकाली
 ९४, महाकाली ९५, कृष्णा ९५, सुकृष्णा ९६, महा-
 कृष्णा ९६, वीरकृष्णा ९७, रामकृष्णा ९७, पितृसेन-
 कृष्णा ९७, महासेनकृष्णा ९८, सुसेनांगजा ९८,
 पद्मावती ९९, पद्मावती-मूल्यांकन १००, जयन्ती
 १००, जयन्ती-मूल्यांकन १०३, शिवानन्दा १०३,
 भद्रा १०४, श्यामा १०५, धन्या १०६, बहुला १०७,
 पुष्पा १०७, अग्निमित्रा १०८, रेवती १०९, अश्विनी
 १११, फाल्गुनी ११२, श्रीमती ११२, उत्पला ११४,
 सुलसा ११४, सहनशीलता की परीक्षा एवं वरदान
 ११५, समकित की परीक्षा ११६, सुलसा-मूल्यांकन
 ११७, रेवती ११७, रेवती-मूल्यांकन ११९, सुभद्रा
 ११९, सुभद्रा १२२, भद्रा १२२, भद्रा-मूल्यांकन
 १२४, भद्रा १२५, भद्रा-मूल्यांकन १२६, रोहिणी
 १२६, रोहिणी-मूल्यांकन १२७, नन्दा १२७, नन्दा-
 मूल्यांकन १२८, बहुलिका १२८, वत्सपालिका १२९,
 वत्सपालिका-मूल्यांकन १२९, विजया और प्रगल्भा
 १२९, सोमा और जयन्ती १३०।

अध्याय ३ : महावीरोत्तर जैन साध्वियाँ एवं महिलाएँ १३२-१५९

धारिणी १३३, मूल्यांकन १३५, साध्वी विगतभया
 १३६, धारिणी १३६, धारिणी-मूल्यांकन १३७,
 श्रावक मनक की माता (श्राविका) १३८, मूल्यां-
 कन १३८, यक्षा १३९, कोशा १४१, यूनानी यात्रा
 वर्णन—श्रमणियों का उल्लेख १४३, सुप्रभा १४४,
 असन्ध्यमित्रा १४५, रानी उर्विला १४६, पूर्णमित्रा
 १४७, आर्या पोड्णी १४८, साध्वी सरस्वती १४९,
 साध्वी मुहण्ड १५१, सुनन्दा १५२, रुक्मिणी १५३,
 मूल्यांकन १५४, साध्वी ईश्वरी १५५, साध्वी
 रुद्रसोमा १५५, तरंगवती १५७, आगम परिषद् :
 पाटलिपुत्र परिषद् : (प्रथम वाचना) १५७, दूसरी
 परिषद् १५८, तीसरी परिषद् १५८, चौथी परिषद्
 १५८।

**अध्याय ४ : प्रथम शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक की १६०-१६३
जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ**

कुमारदेवी १६०, श्राविका श्यामाढ्य १६१ ।

**अध्याय ५ : दक्षिण भारत की जैन साध्वियाँ व विदुषी १६४-१८१
महिलाएँ**

वासुकी १६५, औवे १६६, गंगमहादेवी १६७,
काललदेवी १६७, अजितादेवी १६७, पल्लविया
१६८, कुन्दाच्चि (कदाच्छिका) १६८, सवियब्बे
१६८, चन्द्रवल्लभा १६९, जक्किमुन्दरी १६९,
माललदेवी १७०, अतिमब्बे १७०, जाकलदेवी १७२,
कालियक्का १७३, अक्कादेवी १७३, केतलदेवी
१७४, शान्तलदेवी १७४, माच्चिकब्बे १७५, हरि-
यब्बरसि १७६, लक्ष्मीमति १७६, पोच्चिकब्बे १७७,
आच्चियक्क या आचलदेवी १७८, ह्युर्वले १७८,
सोबलदेवी १७९, चागलदेवी १७९, पम्पादेवी १७९,
कंतीदेवी १८०, भीमादेवी १८०, श्रीमती १८१ ।

**अध्याय ६ : आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक की १८२-१९७
जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ**

याकिनी-महत्तरा १८२, धनपाल की प्रतिभाशालिनी
पुत्री १८४, सुन्दरी १८५, गुणासाध्वी १८५, श्रीमती
१८७, पाहिनी १८८, हेमचन्द्र का जन्म व बाल्य-
काल १८९, काश्मीरी १९१, भोपाला १९२, मीनल-
देवी १९३, आनन्द महत्तरा एवं वीरमति गणिनी
१९३, शान्तिमति गणिनी १९४, अनुपमा १९४,
नीतादेवी १९५, अञ्चलगच्छ की प्रमुख साध्वियाँ :
सोमाई १९५, साध्वी गुणश्री १९६, खरतरगच्छ का
साध्वी एवं श्राविका संघ : कल्याणमति गणि १९६,
मख्देवी महत्तरा १९६, महत्तरा हेमदेवी १९७,
तपागच्छ का आविर्भाव १९७, लोकाशाह की
धर्म-क्रान्ति का तत्कालीन महिलाओं पर प्रभाव
१९७ ।

**अध्याय ७ : सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी को
जैन धर्म साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ**

भावलक्ष्मी २००, आर्यिका पल्हणश्री २००, विनय-
चूला गणिनी २०१, आर्यिका रणमति २०१, आर्या
रत्नमति २०२, मुगलकाल में साध्वियाँ एवं श्रावि-
काओं का अस्तित्व २०३, चम्पा श्राविका का तप
२०३, तेरापंथी सम्प्रदाय में साध्वियाँ एवं विदुषी
महिलाएँ २०४, माता दीपाबाई २०४, अब्बुजी का
विशेष प्रण २०४ ।

परिशिष्ट १

समकालीन जैन साध्वियाँ

- | | |
|--|-----|
| १. दिगम्बर सम्प्रदाय की अर्वाचीन आर्यिकायें | २०९ |
| —ज्ञानमती माताजी | |
| २. श्वे० खरतरगच्छ की साध्वी परम्परा और समकालीन
साध्वियाँ | २३७ |
| —डॉ० शिवप्रसाद | |
| ३. श्वे० खरतरगच्छीय सुखसागर महाराज के समुदाय की
साध्वी परम्परा का परिचय | २४८ |
| —संतोष विनयसागर जैन | |
| ४. खरतरगच्छीय प्रवर्तिनी सिंहश्रीजी म० के साध्वी समुदाय का
परिचय | २५५ |
| —साध्वी हेमप्रभाश्री जी | |
| ५. स्थानकवासी आचार्य अमरसिंहजी की परम्परा की जैन
साध्वियाँ | २६४ |
| —उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी | |
| ६. स्थानकवासी ऋषिसम्प्रदाय की साध्वियों का संक्षिप्त परिचय | २७९ |
| —पं० २० मोती ऋषिजी | |
| ७. स्थानकवासी पंजाबी सम्प्रदाय की प्रमुख साध्वियाँ | २९८ |
| —साध्वी सरलाजी | |

परिशिष्ट २

वर्तमान जैन साध्वी समुदाय के आँकड़े ३०५

जैन धर्म में नारी की भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में श्रमण परम्परा विवेक प्रधान एवं क्रान्तिधर्मी रही है। उसने सदैव ही विषमतावादी और वर्गवादी अवधारणाओं के स्थान पर समतावादी जीवन मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया। जैन धर्म भी श्रमण परम्परा का ही एक अंग है अतः उसमें भी नर एवं नारी की समता पर बल दिया गया और स्त्री के दासी या भोग्या स्वरूप को नकार कर उसे पुरुष के समकक्ष ही माना गया है। फिर भी यह सत्य है कि जैन धर्म और संस्कृति का विकास भी भारतीय संस्कृति के पुरुष प्रधान परिवेश में ही हुआ है, फलतः क्रान्तिधर्मी होते हुए भी वह अपनी सहगामी ब्राह्मण परम्परा के व्यापक प्रभाव से अप्रभावित नहीं रह सकी और उसमें भी विभिन्न कालों में नारी की स्थिति में परिवर्तन होते रहे।

यहाँ हम आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार पर जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी की क्या स्थिति रही है इसका मूल्यांकन करेंगे, किन्तु इसके पूर्व हमें इस साहित्य में उपलब्ध सन्दर्भों की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है। जैन आगम साहित्य एक काल की रचना नहीं है। वह ईसा पूर्व पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवीं शती तक अर्थात् एक हजार वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में निर्मित, परिष्कारित और परिवर्तित होता रहा है अतः उसके समग्र सन्दर्भ एक ही काल के नहीं हैं। पुनः उनमें भी जो कथा भाग है, वह मूलतः अनुश्रुतिपरक और प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध रखता है। अतः उनमें अपने काल से भी पूर्व के अनेक तथ्य उपस्थित हैं, जो अनुश्रुति से प्राप्त हुए हैं। उनमें कुछ ऐसे भी तथ्य हैं, जिनकी ऐतिहासिकता विवादास्पद हो सकती है और उन्हें मात्र पौराणिक कहा जा सकता है। जहाँ तक आगमिक व्याख्या साहित्य का सम्बन्ध है, वह मुख्यतः आगम ग्रन्थों पर प्राकृत एवं संस्कृत में लिखी गयी टीकाओं पर आधारित है अतः इसकी कालावधि ईसा की ५वीं शती से बारहवीं शती तक है। उसमें भी अपने युग के सन्दर्भों के साथ आगम युग के सन्दर्भ भी मिल गये हैं। इसके अतिरिक्त इन आगमिक व्याख्याओं में कुछ ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं, जिनका मूल स्रोत, न तो आगमों में और न व्याख्याकारों के समकालीन समाज में खोजा जा सकता है, यद्यपि वे

आगमिक व्याख्याकारों की मनःप्रसूत कल्पना भी नहीं कहे जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी तथा पार्श्वनाथ की परम्परा की अनेक साध्वियों से सम्बन्धित विस्तृत विवरण, जो आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध है, वे या तो आगमों में अनुपलब्ध हैं या मात्र संकेत रूप में उपलब्ध हैं, किन्तु हम यह नहीं मान सकते हैं कि ये आगमिक व्याख्याकारों की मनःप्रसूत कल्पना है। वस्तुतः वे विलुप्त पूर्व साहित्य के ग्रन्थों से या अनुश्रुति से इन व्याख्याकारों को प्राप्त हुए हैं। अतः आगमों और आगमिक व्याख्याओं के आधार पर नारी का चित्रण करते हुए हम यह नहीं कह सकते कि वे केवल आगमिक व्याख्याओं के युग के सन्दर्भ हैं, अपितु उनमें एक ही साथ विभिन्न कालों के सन्दर्भ उपलब्ध हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उन्हें निम्न काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है—

१. पूर्व युग—ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक।

२. आगम युग—ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी तक।

३. प्राकृत आगमिक व्याख्या युग—ईसा की पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक।

४. संस्कृत आगमिक व्याख्या एवं पौराणिक कथा साहित्य युग—आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक।

इसी सन्दर्भ में एक कठिनाई यह भी है कि इन परवर्ती आगमों के रूप में मान्य ग्रन्थों तथा प्राकृत एवं संस्कृत आगमिक व्याख्याओं का काल लगभग एक सहस्राब्दी अर्थात् ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से लेकर ईसा की बारहवीं शताब्दी तक व्याप्त है। पुनः कालविशेष में भी जैन विचारकों का नारी के सन्दर्भ में समान दृष्टिकोण नहीं है। प्रथम तो उत्तर और दक्षिण भारत की सामाजिक परिस्थिति की भिन्नता के कारण और दूसरे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं के भेद के कारण इस युग के जैन आचार्यों का दृष्टिकोण नारी के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न रहा है। जहाँ उत्तर भारत के यापनीय एवं श्वेताम्बर जैन आचार्य नारी के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत उदार दृष्टिकोण रखते हैं, वहीं दक्षिण भारत के दिगम्बर जैन आचार्यों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत अनुदार प्रतीत होता है। इसके लिए अचेलता का आग्रह और देशकालगत परिस्थितियाँ दोनों ही उत्तरदायी रही हैं, अतः आगमिक व्याख्या साहित्य के आधार पर

नारी की स्थिति का चित्रण करते समय हमें बहुत ही सावधानीपूर्वक तथ्यों का विश्लेषण करना होगा। पुनः आगमिक व्याख्या साहित्य और जैन पौराणिक कथा साहित्य दोनों में ही नारी के सम्बन्ध में जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं, वे सब जैन आचार्यों द्वारा अनुशंसित थे, यह मान लेना भी भ्रान्त धारणा होगी। जैन आचार्यों ने अनेक ऐसे तथ्यों को भी प्रस्तुत किया है, जो यद्यपि उस युग में प्रचलित रहे हैं, किन्तु वे जैन धर्म की धार्मिक मान्यताओं के विरोधी हैं। उदाहरण के रूप में बहु-विवाह प्रथा, वेश्यावृत्ति, सतीप्रथा, स्त्री के द्वारा गोमांस भक्षण एवं मद्यपान आदि के उल्लेख हमें आगमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे जैनधर्मसम्मत थे, यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः इस साहित्य में लौकिक एवं धार्मिक दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ हैं, जिन्हें अलग-अलग रूपों में समझना आवश्यक है।

अतः नारी के सम्बन्ध में जो विवरण हमें आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य में उपलब्ध होते हैं, उन्हें विभिन्न काल खण्डों में विभाजित करके और उनके परम्परासम्मत और लौकिक स्वरूप का विश्लेषण करके ही विचार करना होगा। तथापि उनके गम्भीर विश्लेषण से हमें जैनधर्म में और भारतीय समाज में विभिन्न कालों में नारी की क्या स्थिति थी, इसका एक ऐतिहासिक परिचय प्राप्त हो जाता है।

नारी लक्षण

नारी की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक स्थिति की चर्चा के पूर्व हमें यह भी विचार कर लेना है कि आगमिक व्याख्याकारों की दृष्टि में नारी शब्द का तात्पर्य क्या रहा है। सर्वप्रथम सूत्रकृतांग निर्युक्ति और चूर्णि में नारी शब्द के तात्पर्य को स्पष्ट किया गया है। स्त्री को द्रव्य-स्त्री और भावस्त्री ऐसे दो विभागों में वर्गीकृत किया गया है।^१ द्रव्य-स्त्री से जैनाचार्यों का तात्पर्य स्त्री की शारीरिक संरचना (शारीरिक चिह्न) से है, जबकि भाव-स्त्री का तात्पर्य नारी स्वभाव- (वेद) से है। आगम और आगमिक व्याख्याओं दोनों में ही स्त्री-पुरुष के वर्गीकरण का आधार लिंग और वेद माने जाते रहे हैं। जैन परम्परा में स्त्री की शारीरिक संरचना को लिंग कहा गया है। रोमरहित मुख, स्तन, योनि, गर्भाशय

१. द्रवाभिलावचिन्धे वेए भावे य इत्थिणिक्वेवो ।

अहिलावे जह सिद्धी भावे वेयम्मि उवउत्तो ॥

—सूत्रकृतांग निर्युक्ति ५४.

आदि से युक्त शारीरिक संरचना स्त्रीलिंग है, यही द्रव्य-स्त्री है, जबकि पुरुष के साथ सहवास की कामना को अर्थात् स्त्रीयोचित् काम-वासना को वेद कहा गया है। वही वासना की वृत्ति भाव-स्त्री है।^१ जैन आगमिक व्याख्या साहित्य में स्त्री की काम-वासना के स्वरूप को चित्रित करते हुए उसे उपलअग्निवत् बताया गया है। जिस प्रकार उपल-अग्नि के प्रज्वलित होने में समय लगता है किन्तु प्रज्वलित होने पर चालना करने पर बढ़ती जाती है, अधिक काल तक स्थायी रहती है उसी प्रकार स्त्री की काम-वासना जागृत होने में समय लगता है, किन्तु जागृत होने पर चालना करने से बढ़ती जाती है और अधिक स्थायी होती है।^२ जैनाचार्यों का यह कथन एक मनोवैज्ञानिक सत्य लिए हुए है। यद्यपि लिंग और वेद अर्थात् शारीरिक संरचना और तत्सम्बन्धी कामवासना सहगामी माने गये हैं, फिर भी सामान्यतया जहाँ लिंग शरीर पर्यन्त रहता है, वहाँ वेद (कामवासना) आध्यात्मिक विकास की एक विशेष अवस्था में समाप्त हो जाता है।^३ जैन कर्मसिद्धान्त में लिंग का कारण नामकर्म (शारीरिक संरचना के कारक तत्व) और वेद का कारण मोहनीयकर्म (मनो-वृत्तियाँ) माना गया है।^४ इस प्रकार लिंग, शारीरिक संरचना का और वेद मनोवैज्ञानिक स्वभाव और वासना का सूचक है तथा शारीरिक परिवर्तन से लिंग में और मनोभावों के परिवर्तन से वेद में परिवर्तन सम्भव है। निशीथचूर्णि (गाथा ३५९) के अनुसार लिंग परिवर्तन से वेद (वासन,) में भी परिवर्तन हो जाता है इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण कथा द्रष्टव्य है। जिसमें शारीरिक संरचना और स्वभाव की दृष्टि से स्त्रीत्व हो, उसे ही स्त्री कहा जाता है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति में स्त्रीत्व के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रजनन, कर्म, भोग, गुण और भाव ये दस

१. अभिधान राजेन्द्र, भाग २, पृ० ६२३

२. यद्दशात् स्त्रियाः पुरुषं प्रत्यभिलाषो भवति, यथा पित्तवणान् मधुरद्रव्यं प्रति स फुंफुमादाहसमः, यथा यथा चाल्यते तथा तथा ज्वलति बृंहति च । एवम् बलाऽपि यथा यथा संपृश्यते पुरुषेण तथा तथा अस्या अधिकतरोऽभिलाषो जायते, भुज्यमानायां तु छन्नकरीषदाहतुल्योऽभिलाषोः, मन्द इत्यर्थः इति स्त्रीवेदोदयः ।—वही, भाग ६, पृष्ठ १४३०

३. संमत्तंतिमसंधयण तियगच्छेओ वि सत्तारि अनुव्वे ।

हासाइछक्कअंतो छसट्ठ अनियट्ठवेयतिगं ॥

४. देखे—कर्मप्रकृतियों का विवरण ।—कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा १८

निक्षेप या आधार माने गये हैं, अर्थात् किसी वस्तु के स्त्री कहे जाने के लिए उसे निम्न एक या एकाधिक लक्षणों से युक्त होना आवश्यक है, यथा—

(१) स्त्रीवाचक नाम से युक्त होना जैसे—रमा, श्यामा आदि ।

(२) स्त्री रूप में स्थापित होना जैसे—शीतला आदि की स्त्री-आकृति से युक्त या रहित प्रतिमा ।

(३) द्रव्य—अर्थात् शारीरिक संरचना का स्त्री रूप होना ।

(४) क्षेत्र—देश-विशेष की परम्परानुसार स्त्री की वेषभूषा से युक्त होने पर उस देश में उसे स्त्रीरूप में समझा जाता है ।

(५) काल—जिसने भूत, भविष्य या वर्तमान में से किसी भी काल में स्त्री-पर्याय धारण की हो, उसे उस काल की अपेक्षा से स्त्री कहा जा सकता है ।

(६) प्रजनन क्षमता से युक्त होना ।

(७) स्त्रियोचित् कार्य करना ।

(८) स्त्री रूप में भोगी जाने में समर्थ होना ।

(९) स्त्रियोचित् गुण होना और

(१०) स्त्री सम्बन्धी वासना का होना ।^१

जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी-चरित्र का विकृत पक्ष

जैनाचार्यों ने नारी-चरित्र का गम्भीर विश्लेषण किया है । नारी-स्वभाव का चित्रण करते हुए सर्वप्रथम जैनागमग्रन्थ तन्दुलवैचारिक प्रकीर्णक में नारी की स्वभावगत निम्न ९४ विशेषतायें वर्णित हैं^२—

नारी स्वभाव से विषम, मधुर वचन की वल्लरी, कपट-प्रेम रूपी पर्वत, सहस्रों अपराधों का घर, शोक की उद्गमस्थली, पुरुष के बल के विनाश का कारण, पुरुषों की वधस्थली अर्थात् उनकी हत्या का कारण, लज्जा-नाशिका, अशिष्टता का पुन्ज, कपट का घर, शत्रुता की खान, शोक की ढेर, मर्यादा की नाशिका, कामराग की आश्रय स्थली, दुराचरणों का आवास, सम्मोह की जननी, ज्ञान का स्खलन करने वाली, शील को

१. णामं ठवणादविए खेत्ते काले य पज्जणणकम्मे ।

भोगे गुणे य भावे दस ए ए इत्थोणिकखेवो ॥

—सूत्रकृतांग नियुक्ति गाथा ५४

२. तन्दुलवैचारिक सावचूरि सूत्र १९ (देवचंद लालभाई पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला)

विचलित करने वाली, धर्मयाग में बाधा रूप, मोक्षपथ साधकों की शत्रु, ब्रह्मचर्यादि आचार मार्ग का अनुसरण करने वालों के लिए दूषण रूप, कामी की वाटिका, मोक्षपथ की अर्गला, दरिद्रता का घर, विषधर सर्प की भाँति कुपित होने वाली, मदमत्त हाथी की भाँति कामविह्वला, व्याघ्री की भाँति दुष्ट हृदय वाली, ढंके हुए कूप की भाँति अप्रकाशित हृदय वाली, मायावी की भाँति मधुर वचन बोलकर स्वपाश में आवद्ध करने वाली, आचार्य की वाणी के समान अनेक पुरुषों द्वारा एक साथ ग्राह्य, शुष्क कण्डे की अग्नि की भाँति पुरुषों के अन्तःकरण में ज्वाला प्रज्वलित करने वाली, विषम पर्वतमार्ग की भाँति असमतल अन्तःकरण वाली, अन्तर्दूषित घाव की भाँति दुर्गन्धित हृदय वाली, कृष्ण सर्प की तरह अविश्वसनीय, संहार (भैरव) के समान मायावी, सन्ध्या की लालिमा की भाँति क्षणिक प्रेम वाली, समुद्र की लहरों की भाँति चंचल स्वभाव वाली, मछलियों की भाँति दुष्परिवर्तनीय स्वभाव वाली, बन्दरों के समान चपल स्वभाव वाली, मृत्यु की भाँति निर्विरोध, काल के समान दयाहीन, वरुण के समान पाशयुक्त अर्थात् पुरुषों को कामपाश में बाँधने वाली, जल के समान अधोगामिनी, कृपण के समान रिक्त हस्त वाली, तरक के समान दारुणत्रासदायिका, गर्दभ के सदृश दुष्टाचार वाली, कुलक्षणयुक्त घोड़े के समान लज्जारहित व्यवहार वाली, बाल स्वभाव के समान चंचल अनुराग वाली, अन्धकारवत् दुष्प्रविश्य, विष-बेल की भाँति संसर्ग वजित, भयंकर मकर आदि से युक्त वापी के समान दुष्प्रवेश्य, साधुजनों की प्रशंसा के अयोग्य, विष-वृक्ष के फल की तरह प्रारम्भ में मधुर किन्तु दारुण अन्त वाली, खाली मुट्ठी से जिस प्रकार बालकों को लुभाया जाता है उसी प्रकार पुरुषों को लुभाने वाली, जिस प्रकार एक पक्षी के द्वारा मांस खण्ड ग्रहण करने पर अन्य पक्षी उसे विविध कष्ट देते हैं उसी प्रकार दारुण कष्ट स्त्री को ग्रहण करने पर पुरुषों को होते हैं, प्रदीप्त तृणराशि की भाँति ज्वलन स्वभाव को न छोड़ने वाली, घोर पाप के समान दुर्लभ्य, कूट कार्षीपण की भाँति अकालचारिणी, तीव्र क्रोध की भाँति दुर्लभ्य, दारुण दुःखदायिका, घृणा की पात्र, दुष्टोपचारा, चपला, अविश्वसनीया, एक पुरुष से बंधकर न रहने वाली, यौवनावस्था में कष्ट से रक्षणीय, बाल्यावस्था में दुःख से पाल्य, उद्वेगशीला, कर्कशा, दारुण वैर का कारण, रूप स्वभाव गविता, भुजंग के समान कुटिल गति वाली, दुष्ट घोड़े के पद-चिह्न से युक्त महाजंगल की भाँति दुर्गम्य, कुल, स्वजन और मित्रों से विग्रह कराने वाली, परदोष प्रकाशिका, कृतघ्ना, वीर्यनाशिका, शूकरवत्

जिस प्रकार शूकर खाद्य-पदार्थ को एकान्त में ले जाकर खाता है उसी प्रकार भोग हेतु पुरुष को एकान्त में ले जाने वाली, अस्थिर स्वभाव वाली, जिस प्रकार अग्निपात्र का मुख आरम्भ में रक्त हो जाता है किन्तु अन्ततोगत्वा काला हो जाता है उसी प्रकार नारी आरम्भ में राग उत्पन्न करती है परन्तु अन्ततः उससे विरक्ति ही उत्पन्न होती है, पुरुषों के मैत्री-विनाशादि की जड़, बिना रस्सी की पाग, काष्ठरहित वन की भाँति पाप करके पाश्चात्ताप में जलती नहीं है। कुत्सित कार्य में सदैव तत्पर, अधार्मिक कृत्यों की वैतरणी, असाध्य व्याधि, वियोग पर तीव्र दुःखी न होने वाली, रोगरहित उपसर्ग या पीड़ा, रतिमान के लिए मनोभ्रम कारण, शरीर-व्यापी दाह का कारण, बिना बादल बिजली के समान, बिना जल के प्रवाहमान और समुद्रवेग की भाँति नियन्त्रण से परे कही गई है। तन्दुलवैचारिक की वृत्ति में इनमें से अधिकांश गुणों के सम्बन्ध में एक-एक कथा भी दी गई।^१

उत्तराध्ययनचूर्णि^२ में भी स्त्री को समुद्र की तरंग के समान चपल स्वभाव वाली, सन्ध्याकालीन आभा के समान क्षणिक प्रेम वाली और अपना स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर पुरुष का परित्याग कर देने वाली कहा गया है। आवश्यक भाष्य और निशीथचूर्णी में भी नारी के चपल स्वभाव और शिथिल चरित्र का उल्लेख हुआ है।^३ निशीथचूर्णि में यह भी कहा गया है कि स्त्रियाँ थोड़े से उपहारों से ही वशीभूत की जा सकती हैं और पुरुषों को विचलित करने में सक्षम होती हैं।^४ आचारांगचूर्णि एवं वृत्ति में उसे शीतपरिषह कहा गया है अर्थात् अनुकूल लगते हुए भी त्रासदायी होती हैं।^५

१. तन्दुलवैचारिक सावचूरि सूत्र १९, (देवचन्द लालभाई पुस्तकालय ग्रन्थमाला)

२. समुद्रवीचीचपलस्वभावाः संध्याभ्रमरेखा व मुहूर्तरागाः।

स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं निपीडितालक्तकवद् व्यजन्ति।

उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० ६५, ऋषभदेवजी, केशरीमल संस्था रत्नपुर
(रतलाम) १९३३ ई०

३. पगइत्ति सभाओ। स्वभावेन च इत्थी अल्पसत्त्वा भवति।

—निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० ५८४, आगरा, १९५७-५८

४. सा य अप्पसत्तत्तणओ जेण वातेण वत्थमादिणा।

अप्पेणावि लोभिज्जति, दाणलोभिया य अकज्जं पि करोति ॥

—वही, भाग ३, पृ० ५८४ ॥

५. आचारांगचूर्णि पृ० ३१५।

सूत्रकृतांग में कहा गया है कि स्त्रियाँ पापकर्म नहीं करने का वचन देकर भो पुनः अपकार्य में लग जाती हैं।^१ इसकी टीका में टीकाकार ने कामशास्त्र का उदाहरण देकर कहा है कि जैसे दर्पण पर पड़ी हुई छाया दुर्ग्राह्य होती है वैसे ही स्त्रियों के हृदय दुर्ग्राह्य होते हैं।^२ पर्वत के दुर्गम मार्ग के समान ही उनके हृदय का भाव सहसा ज्ञात नहीं होता। सूत्रकृतांग वृत्ति में नारी चरित्र के विषय में कहा गया है अच्छी तरह जीती हुई, प्रसन्न की हुई और अच्छी तरह परिचित अटवी और स्त्री का विश्वास नहीं करना चाहिए। क्या इस समस्त जीवलोक में कोई अंगुलि उठाकर कह सकता है, जिसने स्त्री की कामना करके दुःख न पाया हो? उसके स्वभाव के सम्बन्ध में यही कहा गया कि स्त्रियाँ मन से कुछ सोचती है, वचन से कुछ और कहती हैं तथा कर्म से कुछ और करती हैं।^३

स्त्रियों का पुरुषों के प्रति व्यवहार

स्त्रियाँ पुरुषों को अपने जाल में फँसाकर फिर किस प्रकार उसकी दुर्गति करती हैं उसका सुन्दर एवं सजीव चित्रण सूत्रकृतांग और उसकी वृत्ति में उपलब्ध होता है। उस चित्रण का संक्षिप्त रूप निम्न है^४—

जब वे पुरुष पर अपना अधिकार जमा लेती हैं तो फिर उसके साथ आदेश की भाषा में बात करती हैं। वे पुरुष से बाजार जाकर अच्छे-अच्छे फल, छुरी, भोजन बनाने हेतु ईधन तथा प्रकाश करने हेतु तेल लाने को कहती हैं। फिर पास बुलाकर महावर आदि से पैर रंगने और शरीर में दर्द होने पर उसे मलने को कहती हैं। फिर आदेश देती हैं कि मेरे कपड़े जीर्ण हो गये हैं, नये कपड़े लाओ, तथा भोजन-पेय पदार्थादि लाओ। वह अनुरक्त पुरुष की दुर्बलता जानकर अपने लिए आभूषण, विशेष प्रकार के पुष्प, बाँसुरी तथा चिरयुवा बने रहने के लिए पौष्टिक

१. एवं पि ता वदित्तावि अदुवा कम्मणा अवकरंति । --सूत्रकृतांग, १/४/२३

२. दुर्ग्रहियं हृदयं यथैव वदनं यद्दर्पणान्तर्गतम्,
भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते ।

--सूत्रकृतांग विवरण १/४/२३, प्र० सेठ छगनलाल, मूँथा बंगलोर १९३०

३. सुट्ठुवि जियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुवि लद्धपरासु ।
अडईसु महिलियासु य वीसंभो नेव कायव्यो ।
उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो सयलंमि जीवलयम्मि ।
कामं तएण नारी जेण न पत्ताइं दुक्खाइं ॥

—वही, विवरण १/४/२३

४. वही, १/४/२

औषधि की गोली माँगती हैं। तो कभी अगरु, तगर आदि सुगन्धित द्रव्य, अपनी प्रसाधन सामग्री रखने हेतु पेटी, ओष्ठ रंगने हेतु चूर्ण, छाता, जूता आदि माँगती है। वह अपने वस्त्रों को रंगवाने का आदेश देती हैं तथा नाक के केशों को उखाड़ने के लिए चिमटी, केशों के लिए कंधी, मुख शुद्धि हेतु दातौन आदि लाने को कहती है। पुनः वह अपने प्रियतम से पान-सुपारी, सूई-धागा, मूत्रविसर्जन पात्र, सूप, ऊखल आदि तथा देव-पूजा हेतु ताम्रपात्र और मद्यपान हेतु मद्य-पात्र माँगती है। कभी वह अपने बच्चों के खेलने हेतु मिट्टी की गुड़िया, बाजा, झुनझुना, गेंद आदि मंगवाती है और गर्भवती होने पर दोहद-पूर्ति के लिए विभिन्न वस्तुएँ लाने का आदेश देती है। कभी वह उसे वस्त्र धोने का आदेश देती है, कभी रोते हुए बालक को चुप कराने के लिए कहती है।

इस प्रकार कामिनियाँ दास की तरह वशवर्ती पुरुषों पर अपनी आज्ञा चलाती हैं। वह उनसे गधे के समान काम करवाती हैं और काम न करने पर झिड़कती हैं, आँखें दिखाती हैं तो कभी झूठी प्रशंसा कर उससे अपना काम निकालती हैं।

यद्यपि नारी-स्वभाव का यह चित्रण वस्तुतः उसके घृणित पक्ष का ही चित्रण करता है किन्तु इसकी आनुभविक सत्यता से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि नारी के प्रति जैनाचार्यों का दृष्टिकोण अनुदार ही था, उचित नहीं होगा। जैन धर्म मूलतः एक निवृत्तिपरक धर्म रहा है, निवृत्तिपरक होने के कारण उसमें संन्यास और वैराग्य पर विशेष बल दिया गया है। संन्यास और वैराग्य के लिए यह आवश्यक था कि पुरुष के सामने नारी का ऐसा चित्र प्रस्तुत किया जाय जिसके फलस्वरूप उसमें विरक्ति का भाव प्रस्फुटित हो। यही कारण था कि जैनाचार्यों ने आगमों और आगमिक व्याख्याओं और इतर साहित्य में कठोर शब्दों में नारी-चरित्र की निन्दा की, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं रहा कि जैनाचार्यों के सामने नारी-चरित्र का उज्ज्वलतम पक्ष नहीं रहा है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो शील-प्रध्वंसक चरित्रगत दोष नारी में पाये जाते हैं वे पुरुषों में भी पाये जाते हैं इसलिए वैराग्य मार्ग में प्रवर्तित स्त्रियों को भी पुरुषों से उसी प्रकार बचना चाहिए जिस प्रकार स्त्रियों से पुरुषों को बचने का उपदेश दिया गया है।^१ इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैना-

१. एए चव य दोसा पुरिससमाये वि इत्थियाणं पि ।

—सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथा ६१

चार्यों ने नारी-चरित्र का जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह मात्र पुरुषों में वैराग्य भावना जागृत करने के लिए ही है। भगवती आराधना में भी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है—स्त्रियों में जो दोष होते हैं वे दोष नीच पुरुषों में भी होते हैं अथवा मनुष्यों में जो बल और शक्ति से युक्त होते हैं उनमें स्त्रियों से भी अधिक दोष होते हैं। जैसे अपने शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं, वैसे ही अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दनीय हैं। सब जीव मोह के उदय से कुशील से मलिन होते हैं और वह मोह का उदय स्त्री-पुरुषों में समान रूप से होता है। अतः ऊपर जो स्त्रियों के दोषों का वर्णन किया गया है वह सामान्य स्त्री की दृष्टि से है। शीलवती स्त्रियों में ऊपर कहे हुए दोष कैसे हो सकते हैं ?^१

जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी-चरित्र का उज्ज्वल पक्ष—

स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—जो गुणसहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोक में फैला हुआ है तथा जो मनुष्य लोक में देवता समान हैं और देवों से पूजनीय हैं, उनकी जितनी प्रशंसा की जाये कम है। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती हैं। कितनी ही महिलाएँ एक-प्रतिव्रत और कौमार्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं कितनी ही जीवनपर्यंत वैधव्य का तीव्र दुःख भोगती हैं। ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं जिन्हें देवों के द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शील के प्रभाव से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं। कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदी के जल प्रवाह में भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर आग में भी नहीं जल सकीं तथा सर्प, व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके। कितनी ही स्त्रियाँ सर्वगुणों से सम्पन्न साधुओं और पुरुषों में श्रेष्ठ चरमशरीरी पुरुषों को जन्म देने वाली माताएँ हुई हैं।^२ अन्तकृद्दशा और उसकी वृत्ति में कृष्ण द्वारा प्रतिदिन अपनी माताओं के पाद-वन्दन हेतु जाने का उल्लेख है।^३ आवश्यकचूर्ण और कल्पसूत्र टीका में उल्लेख है कि महावीर ने अपनी

१. भगवती आराधना गाथा ९८७-८८ व ९९५-९६

२. वही गाथा, ९८९-९४

३. तए णं से कण्हे द्रासुदेव ण्हाए जाव विभूसिए देवईए देवीए पायवंदाये हब्बमागच्छइ ।
—अन्तकृद्दशा सूत्र १८

माता को दुःख न हो, इस हेतु उनके जीवित रहते संसार त्याग नहीं करने का निर्णय अपने गर्भकाल में ले लिया था।^१ इस प्रकार नारी वासुदेव और तीर्थंकर द्वारा भो पूज्य मानी गयी है। महानिशीथ में कहा गया है कि जो स्त्री भय, लोकलज्जा, कुलांकुश एवं धर्मश्रद्धा के कारण कामग्नि के वशीभूत नहीं होती है, वह धन्य है, पुण्य है, वंदनीय है, दर्शनीय है, वह लक्षणों से युक्त है, वह सर्वकल्याणकारक है, वह सर्वोत्तम मंगल है, (अधिक क्या) वह (तो साक्षात्) श्रुत देवता है, सरस्वती है, अच्युता है... परम पवित्र सिद्धि, मुक्ति, शाश्वत शिवगति है। (महानिशीथ २/ सूत्र २३ पृ० ३६)

जैनधर्म में तीर्थंकर का पद सर्वोच्च जाता माना है। और श्वेताम्बर परम्परा ने मल्ली कुमारी को तीर्थंकर माना है।^२ इसिमण्डलत्थू (ऋषिमण्डल स्तवन) में ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दना आदि को वन्दनीय माना गया है।^३ तीर्थंकरों की अधिष्ठायक देवियों के रूप में चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती, सिद्धायिका आदि देवियों को पूजनीय माना गया है^४ और उनकी स्तुति में परवर्ती काल में अनेक स्तोत्र रचे गये हैं। यद्यपि यह स्पष्ट है कि जैनधर्म में देवी-पूजा की पद्धति लगभग गुप्त काल में हिन्दू परम्परा के प्रभाव से आई है। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक की चूर्णि

१. नो खलु में कण्णइ अम्मापितीहि जीवंतेही मुण्डे भवित्ता अगारवासाओ अणगारियं पव्वइए ।
—कल्पसूत्र ९१
(एवं) गव्भत्थो चैव अभिगहे गेण्हति णाहं समणे होक्खामि जाव एताणि एत्थ जीवंतित्ति ।
—आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पृ० २४२, प्र० ऋषभदेव जी केशरीमल श्वेताम्बर सं० रत्नाभ १९२८
२. तए णं मल्ली अरहा...केवलनाणदंसणे समुप्पन्ने । —ज्ञाताधर्मकथा ८/१८६
३. अज्जा वि बंभि-सुन्दरि-राइभई चन्दणा पमुक्खाओ ।
काल्तए वि जाओ ताओ य नमामि भावेणं ॥ —ऋषिमण्डलस्तव २०८
४. देवीओ चक्केसरी अजिया दुरियारी कालि महाकाली ।
अच्चुय संता जाला सुतारया असोय सिरिवच्छा ॥
पवर विजयं कुसा पण्णत्ती निव्वाणि अच्चुया धरणी ।
वइरोट्टऽच्छुत गंधारि अंब पउमावई सिद्धा ॥
—प्रवचनसारोद्धार, भाग १, पृ० ३७५-७६, देवचन्द लालभाई
जैन पुस्तकोद्धार संस्था सन् १९२२

में राजोमति द्वारा मुनि रथनेमि को^१ तथा आवश्यक चूर्णि में ब्राह्मी और सुन्दरी द्वारा मुनि बाहुबली को प्रतिबोधित करने के उल्लेख हैं^२ । न केवल भिक्षुणियाँ अपितु गृहस्थ उपासिकाएँ भी पुरुष को सन्मार्ग पर लाने हेतु प्रतिबोधित करती थीं । उत्तराध्ययन में रानी कमलावती राजा इषुकार को सन्मार्ग दिखाती है,^३ इसी प्रकार उपासिका जयन्ती भरी सभा में महावीर से प्रश्नोत्तर करती है^४ तो कोशावेश्या अपने आवास में स्थित मुनि को सन्मार्ग दिखाती है,^५ ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि जैनधर्म में नारी की अवमानना नहीं की गई । चतुर्विध धर्मसंघ में भिक्षुणीसंघ और श्राविकासंघ को स्थान देकर निर्ग्रन्थ परम्परा ने स्त्री और पुरुष की समकक्षता को ही प्रमाणित किया है । पार्श्व और महावीर के द्वारा बिना किसी हिचकिचाहट के भिक्षुणी संघ की स्थापना की गई, जबकि बुद्ध

१. तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइयो ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २२, ४८
(तथा) दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ८७-८८ मणिविजय सिरीज भावनगर ।
२. भगवं वंभी-सुन्दरीओ पत्थवेति... इमं व भणितो ।
ण किर हत्थिं विलग्गस्स केवलनाणं उप्पज्जइ ॥
—आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० २११
३. वंतासी पुरिसो रायं, न सो होइ पसंसिओ ।
माहणेणं परिचत्तं घणं आदाउमिच्छसि ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र १४, ३८ एवं उत्तराध्ययनचूर्णि, पृ० २३० (ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम, सन् १९३३)
४. भगवती १२/२ ।
५. जइ वि परिचित्तसंगो तहा वि परिवडइ ।
महिलासंसंगीए कोसाभवणूसिय व्व रिसी ॥—भक्तपरिज्ञा, गा० १२८
(तथा)
तुम एत सोयसि अष्पाणं णवि, तुम एरिसओ चेव होहिसि, उवसामेति लद्धबुद्धी, इच्छामि वेदावच्चंति गतो, पुणोवि आलोवेत्ता विरहति ॥
—आवश्यकचूर्णि २, पृ० १८७
ण दुक्करं तोडिय अंबपिडो, ण दुक्करंणच्चित्तु सिक्खियाए ।
तं दुक्करं तं च महाणुभागं, ज सो मुणी पमयवणं निविट्ठो ॥
—वही, १, पृ० ५५५

को इस सम्बन्ध में संकोच रहा—यह भी इसी तथ्य का द्योतक है कि जैनसंघ का दृष्टिकोण नारी के प्रति अपेक्षाकृत उदार रहा है ।

जैनसंघ में नारी का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उसमें प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान काल तक सदैव ही भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की और गृहस्थ उपासकों की अपेक्षा उपासिकाओं की संख्या अधिक रही है । समवायांग, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र एवं आवश्यकनिर्युक्ति आदि में प्रत्येक तीर्थंकर की भिक्षुणियों एवं गृहस्थ उपासिकाओं की संख्या उपलब्ध होती है ।^१ इन संख्यासूचक आंकड़ों में ऐतिहासिक सत्यता कितनी है, यह एक अलग प्रश्न है, किन्तु इससे तो फलित होता ही है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी जैनधर्म संघ का महत्त्वपूर्ण घटक थी । भिक्षुणियों की संख्या सम्बन्धी ऐतिहासिक सत्यता को भी पूरी तरह नकारा नहीं जा सकता । आज भी जैनसंघ में लगभग नौ हजार दो सौ भिक्षु-भिक्षुणियों में दो हजार तीन सौ भिक्षु और छह हजार नौ सौ भिक्षुणियाँ हैं ।^२ भिक्षुणियों का यह अनुपात उस अनुपात से अधिक ही है जो पार्श्व और महावीर के युग में माना गया है ।

धर्मसाधना के क्षेत्र में स्त्री और पुरुष को समकक्षता के प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं । सर्वप्रथम उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृतदशा आदि आगमों में स्पष्ट रूप से स्त्री और पुरुष दोनों को ही साधना के सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति प्राप्ति के लिए सक्षम माना गया है । उत्तराध्ययन में स्त्रीलिंग सिद्ध का उल्लेख है ।^३ ज्ञाता,^४ अन्तकृतदशा^५ एवं आवश्यक

१. कल्पसूत्र, क्रमशः १९७, १६७, १५७ व १३४, प्राकृत भारती, जयपुर, १९७७ ई०
२. चातुर्मास सूची, पृ० ७७ प्र. अ. भा. समग्र जैन चातुर्मास सूची प्रकाशन परिषद् बम्बई १९८७ ।
३. इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा ।
सल्लिगे अन्नल्लिगे य, गिहिल्लिगे तहेव य ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र ३६, ५०
४. ज्ञाताधर्मकथा—मल्लि और द्वौपदी अयययन ।
५. (अ) तथेव हत्थिखंधवरगताए केवलनाणं, सिद्धाए इमामे ओसप्पिणीए पद्मसिद्धो मरुदेवा । एवं आराहणं प्रतियोगसंगहो कायव्वो ।—आ० चूर्णि भाग २, पृ० २१२
द्रष्टव्य, वही भाग, १, पृ० १८१ व ४८८ ।

चूर्ण में भी अनेक स्त्रियों के मुक्त होने का उल्लेख है। इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में आगमिक काल से लेकर वर्तमान तक स्त्री मुक्ति की अवधारणा को स्वीकार कर साधना के क्षेत्र में दोनों को समान स्थान दिया गया है। मात्र इतना ही नहीं यापनीय परम्परा के ग्रन्थ षट्खण्डागम और मूलाचार में भी जो कि दिगम्बरों में भी आगम रूप में मान्यता प्राप्त है, स्त्री-पुरुष दोनों में क्रमशः आध्यात्मिक विकास की पूर्णता और मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार किया गया है।^१ हमें आगमों और आगमिक व्याख्याओं यथा निर्युक्ति, भाष्य और चूर्ण साहित्य में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता है जिसमें स्त्री मुक्ति का निषेध किया गया हो अथवा किसी ऐसे जैन सम्प्रदाय की सूचना दी गयी हो जो स्त्रीमुक्ति को अस्वीकार करता है। सर्वप्रथम दक्षिण भारत में कुन्दकुन्द आदि कुछ दिगम्बर आचार्य लगभग पाँचवी-छठी शताब्दी में स्त्री-मुक्ति आदि का निषेध करते हैं। कुन्दकुन्द सुत्तपाहड में कहते हैं कि स्त्री अचेल (नग्न) होकर धर्मसाधना नहीं कर सकती, और सचेल चाहे तीर्थकर भी हो मुक्त नहीं हो सकता।^२ इसका तात्पर्य यह भी है कि कुन्दकुन्द स्त्री-तीर्थकर की यापनीय (मूलतः उत्तर भारतीय दिगम्बर संघ) एवं श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित अवधारणा से परिचित थे। यह स्पष्ट है कि पहले स्त्री तीर्थकर की अवधारणा बनी, फिर उसके विरोध में

(ब) अन्तकृद्दशा के वर्ग ५ में १०, वर्ग ७ में १३, वर्ग ८ में १० । इस प्रकार कुल ३३ मुक्त नारियों का उल्लेख प्राप्त होता है ।

१. (अ) मणुस्तिणीसु मिच्छाइट्ठि सासणसम्माइट्ठि-ट्ठाणे सिया पज्जत्ति-याओ सिया अपज्जत्तियाओसंजदासंजदसंजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ —षट्खण्डागम, १, १ ९२-९३

(ब) एवं विधानचरियं चरितं जे साधवो य अज्जावो ।
ते जंगपुज्जं किंत्ति सुहं च लद्धूण सिज्जंति ॥

—मूलाचार ४।१९६

२. लिंग इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि ।

अज्जिय त्ति एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥

णवि सिज्जइ वत्थघरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो ।

णग्गो विमोवखमग्गो सेसा उमग्गया सव्वे ॥ —सूत्रप्राभृत, २२, २३

(तथा) सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाणं दीसदे मोक्खो ।

जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहि ॥ —शीलप्राभृत २९

स्त्रीमुक्ति का निषेध किया गया। सम्भवतः सबसे पहले जैनपरम्परा में स्त्रीमुक्ति-निषेध की अवधारणा का विकास दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा हुआ। क्योंकि सातवीं-आठवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के श्वेताम्बर आचार्य जहाँ सचेतता को लेकर विस्तार से चर्चा करते हैं वहाँ स्त्रीमुक्ति के पक्ष-विपक्ष में कोई भी चर्चा नहीं करते हैं। इसका तात्पर्य है कि उत्तर भारत के जैन सम्प्रदायों में लगभग सातवीं-आठवीं शताब्दी तक स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवाद उत्पन्न ही नहीं हुआ था। इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा पं० बेचरदास स्मृति ग्रन्थ में पं० दलसुखभाई, प्रो० ढाकी और मैंने अपने लेख में की है।^१ यहाँ केवल हमारा प्रतिपाद्य इतना ही है कि स्त्रीमुक्ति का निषेध दक्षिण भारत में पहले और उत्तर भारत में बाद में प्रारम्भ हुआ है, क्योंकि श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में लगभग आठवीं-नौवीं शताब्दी से स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को विवाद के विषय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनपरम्परा में भी धर्मसाधना के क्षेत्र में स्त्री की समकक्षता किस प्रकार कम होती गयी। सर्वप्रथम तो स्त्री की मुक्ति की सम्भावना^२ को अस्वीकार किया गया है फिर नग्नता को ही साधना का सर्वस्व मानकर उसे पाँच महाव्रतों के पालन करने के अयोग्य मान लिया गया और उसमें यथाख्यातचारित्र्य (सच्चरित्रता की उच्चतम अवस्था) को असम्भव बता दिया गया। सुत्तपाहुड में तो स्पष्ट रूप से स्त्री के लिए प्रव्रज्या का निषेध कर दिया गया। दिगम्बर परम्परा में स्त्री को जिन कारणों से प्रव्रज्या और मोक्ष के अयोग्य बताया गया है, वे निम्न हैं—

(१) स्त्री की शरीर-रचना ही ऐसी है कि उससे रक्तस्राव होता है, उस पर बलात्कार सम्भव है अतः वह अचेल या नग्न नहीं रह सकती। चूँकि स्त्री अचेल या नग्न नहीं हो सकती, दूसरे शब्दों में वह पूर्ण परिग्रह

1. Aspects of Jainology Vo.. 2; Pt. Bechardas Doshi Comm-
eination Vol. page 150-110.

२. इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर दृष्टिकोण के लिए देखिए—अभिधान राजेन्द्र
भाग २, पृ० ६१८-६२१ (तथा) इत्थिसु ण पावया भणिया—सूत्र-प्राभृत,
पृ० २४-२६

एवं

णवि सिज्जइ वत्थधरो जिणसासणे होइ तित्थयरो ॥

--वही, २३

का त्याग किये बिना उसके द्वारा महाव्रतों का ग्रहण एवं मुक्ति प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती ।

(२) स्त्री कर्षणा प्रधान है उसमें तीव्रतम क्रूर अध्यवसायों का अभाव होता है अतः निम्नतम गति सातवें नरक में जाने के अयोग्य होती है । जैनाचार्यों की इस उदार और मनोवैज्ञानिक मान्यता के आधार पर दिगम्बर परम्परा ने यह मान लिया कि तीव्र पुरुषार्थ के अभाव में जो निम्नतम गति में नहीं जा सकती, अतः वह उच्चतम गति में भी नहीं जा सकती । अतः स्त्री की मुक्ति सम्भव नहीं ।

(३) यह भी कहा गया है कि चंचल स्वभाव के कारण स्त्रियों में ध्यान की स्थिरता नहीं होती है, अतः वे आध्यात्मिक विकास की पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकतीं ।

(४) एक अन्य तर्क यह भी दिया गया है कि स्त्री में वाद सामर्थ्य एवं तोत्र बुद्धि के अभाव के कारण ये दृष्टिवाद के अध्ययन में अयोग्य होती हैं अतः वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकतीं ।

यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा ने भी उन्हें बौद्धिक क्षमता के कारण दृष्टिवाद, अरुणोपपात, निशीथ आदि के अध्ययन के अयोग्य अवश्य माना फिर भी उनमें 'मोक्षप्राप्ति' की क्षमता को स्वीकार किया गया । चाहे शारीरिक संरचना के कारण इसके लिए संयम-साधना के उपकरण के रूप में वस्त्र आवश्यक हों किन्तु आसक्ति के अभाव के कारण वह परिग्रह नहीं है, अतः इसमें प्रव्रजित होने एवं मुक्त होने की सामर्थ्य है ।^१

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मुनि के अचेलकत्व (दिगम्बर-तत्व) की पोषक यापनीय परम्परा ने स्त्री-मुक्ति और पंच महाव्रत आरोपण रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र (स्त्री-दीक्षा) को स्वीकार किया है । उससे विकसित द्राविड, काष्ठा और माथुर संघों में भी स्त्री-दीक्षा (महाव्रतारोपण) को स्वीकार किया गया है । यद्यपि इस कारण वे मूल-संघीय दिगम्बर परम्परा की आलोचना के पात्र भी बने और उन्हें जैनाभास तक कहा गया । इससे स्पष्ट है कि न केवल श्वेताम्बरों ने अपितु

१. इस सम्बन्ध में दिगम्बर पक्ष के विस्तृत विवेचन के लिए देखें—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ३, पृ० ५९६-५९८ एवं श्वेताम्बर पक्ष के लिए देखें—अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग २, पृ० ६१८-६२१ ।

दिगम्बर परम्परा के अनेक संघों ने भी स्त्री-मुक्ति और स्त्री-दीक्षा को स्वीकार करके नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया था ।^१

यह निश्चित ही सत्य है कि आगमिक काल के जैनाचार्यों ने न केवल स्त्री-मुक्ति और स्त्री दीक्षा को स्वीकार किया, अपितु मल्लिक को स्त्री तीर्थंकर के रूप में स्वीकार करके यह भी उद्घोषित किया कि आध्यात्मिक विकास के सर्वोच्च पद की अधिकारी नारी भी हो सकती है। स्त्री तीर्थंकर की अवधारणा जैनधर्म की अपनी एक विशिष्ट अवधारणा है, जो नारी की गरिमा को महिमामण्डित करती है।

ज्ञातव्य है कि बौद्धपरम्परा, जो कि जैनों के समान ही श्रमण धारा का एक अंग थी, स्त्री के प्रति उतनी उदार नहीं बन सकी, जितनी जैन परम्परा। क्योंकि बुद्ध स्त्री को निर्वाण पद की अधिकारिणी मानकर भी यह मानते थे कि स्त्री बुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकती है। नारी को संघ में प्रवेश देने में उनकी हिचक और उसके प्रवेश के लिए अष्टगुरु धर्मों का प्रतिपादन जैनों की अपेक्षा नारी के प्रति उनके अनुदार दृष्टिकोण का ही परिचायक है। यद्यपि हिन्दू धर्म में शक्ति उपासना के रूप में स्त्री को महत्व दिया गया है, किन्तु जैनधर्म में तीर्थंकर की जो अवधारणा है, उसकी अपनी एक विशेषता है। वह यह सूचित करता है कि विश्व का सर्वोच्च गरिमामय पद पुरुष और स्त्री दोनों ही समान रूप से प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि परवर्ती आगमों एवं आगमिक व्याख्या साहित्य में इसे एक आश्चर्यजनक घटना कहकर पुरुष के प्राधान्य को स्थापित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया। (स्थानांग १०/१६०) किन्तु आगमिक व्याख्याओं के काल में जैन परम्परा में भी पुरुष की महत्ता बढ़ी और ज्येष्ठकल्प के रूप में व्याख्यायित किया गया। अंग आगमों में मुझे एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिला जिसमें साध्वी अपनी प्रवर्तिनी, आचार्य और तीर्थंकर के अतिरिक्त दीक्षा में कनिष्ठ भिक्षु को वन्दन या नमस्कार करती हो, किन्तु परवर्ती आगम एवं आगमिक-व्याख्या-साहित्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सौ वर्ष की दीक्षित साध्वी के लिए भी सद्यः दीक्षित मुनि वन्दनीय है। (वृहत्कल्पभाष्य भाग ६ गाथा ६३९९ कल्पसूत्र कल्पलता टीका)। सम्भवतः जैन परम्परा में पुरुष की ज्येष्ठता का प्रतिपादन बौद्धों के अष्टगुरु धर्मों के कारण ही हुआ हो।

१. इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा के लिए देखें—यापनीय सम्प्रदाय, प्रो० सागरमल जैन।

जैनधर्म संघ में नारी की महत्ता को यथासम्भव सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। मथुरा में उपलब्ध अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि धर्मकार्यों में पुरुषों के समान नारियाँ भी समान रूप से भाग लेती थीं। वे न केवल पुरुषों ने समान पूजा, उपासना कर सकती थीं, अपितु वे स्वेच्छानुसार दान भी करती थीं और मन्दिर आदि बनवाने में समान रूप से भागीदार होती थीं। जैन परम्परा में मूर्तियों पर जो प्राचीन अभिलेख उपलब्ध होते हैं उनमें सामान्य रूप से पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों के नाम भी उपलब्ध होते हैं जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं।^१ यद्यपि दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में कुछ लोग यह मानते हैं कि स्त्री को जिन-प्रतिमा के स्पर्श, पूजन एवं अभिषेक का अधिकार नहीं है, किन्तु यह एक परवर्ती अवधारणा है। मथुरा के जैन शिल्प में साधु के समान ही साध्वी का अंकन और स्त्री-पुरुष दोनों के पूजा सम्बन्धी सामग्री सहित अंकन यही सूचित करते हैं कि प्राचीन काल में जैन परम्परा में दोनों का समान स्थान रहा है।

आगमिक व्याख्याकाल में हम देखते हैं कि यद्यपि संघ के प्रमुख के रूप में आचार्य का पद पुरुषों के अधिकार में था, किसी स्त्री के आचार्य होने का कोई उल्लेख नहीं है, किन्तु गणिनी, प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, अभिषेका आदि पद स्त्रियों को प्रदान किये जाते थे^२ और वे अपने भिक्षुणी संघ की स्वतन्त्र रूप से आन्तरिक व्यवस्था देखती थीं। यद्यपि तरुणी भिक्षुणियों को सुरक्षा का दायित्व भिक्षु संघ को सौंपा गया था, किन्तु सामान्यतया भिक्षुणियाँ अपनी सुरक्षा की व्यवस्था स्वयं रखती थीं, क्योंकि रात्रि एवं पदयात्रा में भिक्षु और भिक्षुणियों का एक ही साथ रहना सामान्यतया वर्जित था। इस सुरक्षा के लिए भिक्षुणी संघ में प्रतिहारी आदि के पद भी निर्मित किये गये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना के क्षेत्र में स्त्री की गरिमा को यथासम्भव सुरक्षित रखा गया—फिर भी तथ्यों के अवलोकन से यह निश्चित होता है कि आगमिक व्याख्याओं के युग में और उसके पश्चात् जैन परम्परा में भी स्त्री की अपेक्षा पुरुष को महत्ता दी जाने लगी थी।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २।

२. (क) बृहत्कल्पभाष्य, भाग ३, २४११, २४०७, (ख) बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, ४३३९।

(ग) व्यवहारसूत्र ५/१-१६।

नारी की स्वतन्त्रता

नारी की स्वतन्त्रता को लेकर प्रारम्भ में जैनधर्म का दृष्टिकोण उदार था। यौगलिक काल में स्त्री-पुरुष सहभागी होकर जीवन जीते थे। आगम-ग्रन्थ ज्ञाताधर्मकथा^१ में राजा द्रुपद द्रौपदी से कहते हैं कि मेरे द्वारा विवाह किये जाने पर तुझे सुख-दुःख हो सकता है अतः अच्छा हो कि तू अपना वर स्वयं ही चुन। यहाँ ग्रन्थकार के ये विचार वैवाहिक जीवन के लिये नारी-स्वातन्त्र्य के समर्थक हैं। इसी प्रकार हम देखते हैं कि उपासकदशांग में महाशतक अपनी पत्नी रेवती के धार्मिक विश्वास, खान-पान और आचार-व्यवहार पर कोई जबरदस्ती नहीं करता है। जहाँ आनन्द आदि श्रावकों की पत्नियाँ अपने पति का अनुगमन करती हुई महावीर से उपासक व्रतों को ग्रहण करती हैं और धर्मसाधना के क्षेत्र में भी पति की सहभागी बनती हैं, वहीं रेवती अपने पति का अनुगमन नहीं करती है, मात्र यही नहीं, वह तो अपने मायके से मँगाकर मद्य-मांस का सेवन करती है, और महाशतक के पूर्ण साधनात्मक जीवन में विघ्न-बाधाएँ भी उपस्थित करती है।^२ इससे ऐसा लगता है कि आगम युग तक नारी को अधिक स्वातन्त्र्य था किन्तु आगमिक व्याख्या साहित्य में हम पाते हैं कि पति या पत्नी अपने धार्मिक विश्वासों को एक दूसरे पर लादने का प्रयास करते हैं। चूर्ण साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें पुरुष स्त्री को अपने धार्मिक विश्वासों की स्वतन्त्रता नहीं देता है।

इसी प्रकार धर्मसंघ में भी आगम युग में भिक्षुणी संघ की व्यवस्था को भिक्षुसंघ से अधिक नियन्त्रित नहीं पाते हैं। भिक्षुणी संघ अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया आत्मनिर्भर था, गणधर अथवा आचार्य का उस पर बहुत अधिक अंकुश नहीं था, किन्तु छेदसूत्र एवं आगमिक व्याख्या साहित्य के काल में यह नियन्त्रण क्रमशः बढ़ता जाता है। इन ग्रंथों में चानुर्मास,

१. जस्स णं अहं पुत्ता ! रायस्स वा जुवरायस्स वा भारियत्ताए सयमेव दल-
इस्सामि, तत्थ णं तुमं सुहिया वा दुक्खिया वा भविज्जासि ।

—ज्ञाताधर्मकथा १६/८५

२. तए णं सा रेवई गाहावइणी तेहिं गोणमसेहिं सोल्लेहिं य ४ सुरं च आसाए-
माणी ४ विहरइ ।

—उवासगदसाओ २४४

तए णं तस्स महासयगस्स समणोवासगस्स बहूहिं सील जाव भावेमाणस्स
चोइस संबच्छरा वइक्कंता । एवं तहेव जेट्ठं पुत्तं ठवेइ जाव पोसहसालाए
धम्मपण्णत्ति उवसंपज्जिता णं विहरइ ।

—उवासगदसाओ, २४५

प्रायश्चित्त, शिक्षा, सुरक्षा आदि सभी क्षेत्रों में शिक्षक वर्ग का प्रभुत्व बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। फिर भी बौद्ध भिक्षुणी संघ की अपेक्षा जैन भिक्षुणी संघ में स्वायत्तता अधिक थी। किन्हीं विशेष परिस्थितियों को छोड़कर वे दीक्षा, प्रायश्चित्त, शिक्षा और सुरक्षा की अपनी व्यवस्था करती थीं और भिक्षु संघ से स्वतन्त्र विचरण करते हुए धर्मोपदेश देती थीं जबकि बौद्धधर्मसंघ में भिक्षुणी को उपोसथ, वर्षावास आदि भिक्षुसंघ के अधीन करने होते थे।

यद्यपि जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न था जैनाचार्य हिन्दू परम्परा के चिन्तन से प्रभावित हो रहे थे। मनुस्मृति के समान व्यवहार-भाष्य में भी कहा गया है—

जाया पतिव्वसा नारी दत्ता नारी पतिव्वसा ।

विहवा पुत्तवसा नारी नत्थि नारी सयंवसा ॥ ३/२३३

अर्थात् जन्म के पश्चात् स्त्री पिता के अधीन, विवाहित होने पर पति के अधीन और विधवा होने पर पुत्र के अधीन होती है अतः वह कभी स्वाधीन नहीं है। इस प्रकार आगमिक व्याख्या साहित्य में स्त्री को स्वाधीनता सीमित की गयी है।

पुत्र-पुत्री को समानता का प्रश्न

चाहे प्रारम्भिक वैदिक धर्म में पुत्र और पुत्री को समकक्षता स्वीकार की गई हो किन्तु परवर्ती हिन्दू धर्म में अर्थोपार्जन और धार्मिक कर्मकाण्ड दोनों ही क्षेत्रों में पुरुष की प्रधानता के परिणामस्वरूप पुत्र का स्थान महत्त्वपूर्ण हो गया और यह उद्घोष किया गया कि पुत्र के बिना पूर्वजों की सुगति/मुक्ति सम्भव नहीं।^१ फलतः आगे चलकर हिन्दू परम्परा में कन्या की उत्पत्ति को अत्यन्त हीनदृष्टि से देखा जाने लगा। इस प्रकार वैदिक हिन्दू परम्परा में पुत्र-पुत्री को समकक्षता को अस्वीकार कर पुत्र को अधिक महनीयता प्रदान की गई किन्तु इसके विपरीत जैन आगमों में हम देखते हैं कि उपासक और उपासिकाएँ पुत्र-पुत्री हेतु समान रूप से कामना करते हैं।^२ चाहे अर्थोपार्जन और पारिवारिक व्यवस्था को दृष्टि से जैनधर्मानुयायियों में भी पुत्र की प्रधानता रही हो किन्तु जहाँ तक

१. अपुत्रस्य गतिर्नास्ति ।

२. जइ णं अहं दारगं वा पयायामि तो णं अहं जायं य जाव अणुवुड्ढेमिति ।

—ज्ञाताधर्मकथा, १, २, १६

धार्मिक जीवन और साधना का प्रश्न था, जैन धर्म में पुत्र की महत्ता का कोई स्थान नहीं था। जैन कर्म सिद्धान्त ने स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित किया कि व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार ही सुगति या दुर्गति में जाकर सुख-दुःख का भोग करता है। सन्तान के द्वारा सम्पन्न किए गये कर्म-काण्ड पूर्वजों को किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं करते^१ इस प्रकार उसमें धार्मिक आधार पर पुत्र की महत्ता को अस्वीकार कर दिया गया। फलतः आगमिक युग में पुत्र-पुत्री के प्रति समानता की भावना प्रदर्शित की गई किन्तु अर्थोपार्जन और पारिवारिक व्यवस्था में पुरुष की प्रधानता के कारण पुत्रोत्पत्ति को ही अधिक सुखद माना जाने लगा। यद्यपि ज्ञाता-धर्मकथा में मल्लि आदि के जन्मोत्सव के उल्लेख उपलब्ध हैं,^२ किन्तु इन उल्लेखों के आधार पर यह मान लेना कि जैन संघ में पुत्र और पुत्री की स्थिति सदैव ही समकक्षता की रही, उचित नहीं होगा। आगमिक व्याख्या साहित्य एवं पौराणिक साहित्य में उपर्युक्त आगमिक अपवादों को छोड़कर जैनसंघ में भी पुत्री की अपेक्षा पुत्र को जो अधिक सम्मान मिला उसका आधार धार्मिक मान्यतायें न होकर सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। यद्यपि भिक्षुणी संघ की व्यवस्था के कारण पुत्री पिता के लिये उतनी अधिक भारस्वरूप कभी नहीं मानी गयी जितनी उसे हिन्दू परम्परा में माना गया था।

इस प्रकार जैन आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य से जो सूचनाएँ उपलब्ध हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि यौगलिक काल अर्थात् पूर्व युग में और आगम युग में पुत्र और पुत्री दोनों की ही उत्पत्ति सुखद थी किन्तु आगमिक व्याख्याओं के युग में बाह्य सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों के कारण स्थिति में परिवर्तन आया और पुत्री की अपेक्षा पुत्र को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा।

विवाह संस्था और नर-नारी की समकक्षता का प्रश्न

विवाह-व्यवस्था प्राचीन काल से लेकर आज तक मानवीय समाज व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है। यह सत्य है कि जैनधर्म के अनुयायियों में भी प्राचीनकाल से विवाह व्यवस्था प्रचलित रही है किन्तु

१. न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।

एवको सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥

—उत्तराध्ययन १३, २३

२. ज्ञाताधर्मकथा अध्ययन ८, सूत्र ३०, ३१ ।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि निवृत्तिप्रधान होने के कारण जैनधर्म में विवाह-व्यवस्था को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। धार्मिक दृष्टि से वह स्वपत्नी या स्वपति सन्तोषव्रत की व्यवस्था करता है जिसका तात्पर्य है व्यक्ति को अपनी काम-वासना को स्वपति या स्वपत्नी तक ही सीमित रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यदि ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव न हो तो विवाह कर लेना चाहिए। विवाह-विधि के सम्बन्ध में जैनाचार्यों की स्पष्ट धारणा क्या थी, इसकी सूचना हमें आगमों और आगमिक व्याख्याओं में नहीं प्राप्त होती है। जैन-विवाह विधि का प्रचलन पर्याप्त रूप से परवर्ती है और दक्षिण के दिगम्बर आचार्यों की ही देन है जो हिन्दू-विवाह-विधि का जैनीकरण मात्र है। उत्तर भारत के श्वेताम्बर जैनों में तो विवाह विधि को हिन्दू धर्म के अनुसार ही सम्पादित किया जाता है। आज भी श्वेताम्बर जैनों में अपनी कोई विवाह पद्धति नहीं है। जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं से जो सूचना हमें मिलती है उसके अनुसार योगलिक काल में युगल रूप से उत्पन्न होने वाले भाई-बहन ही युवावस्था में पति-पत्नी का रूप ले लेते थे। जैन पुराणों के अनुसार सर्वप्रथम ऋषभदेव से ही विवाह प्रथा का आरम्भ हुआ।^१ उन्होंने भाई-बहनों के बीच स्थापित होने वाले यौन सम्बन्ध (विवाह-प्रणाली) को अस्वीकार कर दिया। उनकी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी ने आजो-वन ब्रह्मचारिणी रहने का निर्णय किया। फलतः भरत और बाहुबलि का विवाह अन्य वंशों की कन्याओं से किया गया। जैन साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आगमिक काल तक स्त्री विवाह सम्बन्धी निर्णयों को लेने में स्वतन्त्र थीं और अधिकांश विवाह उसकी सम्मति से ही किये जाते थे जैसा कि ज्ञाता में मल्लि^२ और द्रौपदी के कथानकों से ज्ञात होता है। ज्ञाताधर्मकथा में पिता स्पष्ट रूप से पुत्री से कहता है कि यदि मैं तेरे लिए पति चुनता हूँ तो वह तेरे लिए सुख-दुःख का कारण हो सकता है, इसलिए अच्छा यही होगा तू अपने पति का चयन स्वयं ही कर। मल्ली और द्रौपदी के लिये स्वयम्बरों का आयोजन किया गया था।

आगम ग्रन्थों से जो सूचना मिलती है उसके आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि प्रागैतिहासिक युग और आगम युग में सामान्यतया स्त्री को अपने पति का चयन करने में स्वतन्त्रता थी। यह भी उसकी

१. आवश्यकचूर्ण, भाग १, पृष्ठ १५२।

२. आवश्यकचूर्ण भाग १, पृ० १४२-१४३।

इच्छा पर निर्भर था कि वह विवाह करे या न करे। पूर्वयुग में ब्राह्मी, सुन्दरी, मल्लि, आगमिक युग में चन्दनबाला, जयन्ती आदि ऐसी अनेक स्त्रियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्यपालन स्वीकार किया और विवाह अस्वीकार कर दिया। आगमिक व्याख्याओं में हमें विवाह के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं में उपलब्ध विवाह के विविध रूपों का विवरण प्रस्तुत किया है यथा—स्वयंवर, माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह, गन्धर्व विवाह (प्रेमविवाह), कन्या को बलपूर्वक ग्रहण करके विवाह करना, पारस्परिक आकर्षण या प्रेम के आधार पर विवाह, वर या कन्या को योग्यता देखकर विवाह, कन्यापक्ष को शुल्क देकर विवाह और भविष्यवाणी के आधार पर विवाह।^१ किन्तु हमें आगम एवं आगमिक व्याख्याओं में कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिल सका जहाँ जैनाचार्यों ने गुण-दोषों के आधार पर इनमें से किसी का समर्थन या निषेध किया हो या यह कहा हो कि यह विवाह-पद्धति उचित है या अनुचित है। यद्यपि विवाह के सम्बन्ध में जैनों का अपना कोई स्वतन्त्र दृष्टिकोण नहीं था पर इतना अवश्य माना जाता था कि यदि कोई ब्रह्मचर्य पालन करने में असफल हो तो उसे विवाह-बन्धन मान लेना चाहिए। जहाँ तक स्वयं-वर विधि का प्रश्न है निश्चित ही नारी-स्वातन्त्र्य को दृष्टि से यह विधि महत्त्वपूर्ण थी। किन्तु जनसामान्य में जिस विधि का प्रचलन था वह माता-पिता के द्वारा आयोजित विधि ही थी। यद्यपि इस विधि में स्त्री और पुरुष दोनों की स्वतंत्रता खण्डित होती थी। जैनकथा साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं जहाँ बलपूर्वक अपहरण करके विवाह सम्पन्न हुआ। इस विधि में नारी की स्वतंत्रता पूर्णतया खण्डित हो जाती थी; क्योंकि अपहरण करके विवाह करने का अर्थ मात्र यह मानना नहीं है कि स्त्री को चयन की स्वतंत्रता ही नहीं है, अपितु यह तो उसे लूट की सम्पत्ति मानने जैसा है।

जहाँ तक आगमिक व्याख्याओं का प्रश्न है उनमें अधिकांश विवाह माता-पिता के द्वारा आयोजित विवाह ही हैं केवल कुछ प्रसंगों में ही स्वयंवर एवं गन्धर्व विवाह के उल्लेख मिलते हैं जो आगम युग एवं पूर्व काल के हैं। माता-पिता के द्वारा आयोजित इस विवाह-विधि में स्त्री-पुरुषों की समकक्षता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। यद्यपि यह सत्य है।

१. जैनागम साहित्य में भारतीय समाज,—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन,
पृ० २५३-२६६।

कि जैनाचार्यों ने विवाह-विधि के सम्बन्ध में गम्भीरता से चिन्तन नहीं किया किन्तु यह सत्य है कि उन्होंने स्त्री को गरिमाहीन बनाने का प्रयास भी नहीं किया। जहाँ हिन्दू-परम्परा में विवाह स्त्री के लिए बाध्यता थी। वहीं जैन-परम्परा में ऐसा नहीं माना गया। प्राचीनकाल से लेकर अद्यावधि विवाह करने न करने के प्रश्न को स्त्री-विवेक पर छोड़ दिया गया। जो स्त्रियाँ यह समझती थीं कि वे अविवाहित रहकर अपनी साधना कर सकेंगी उन्हें बिना विवाह किये ही दीक्षित होने का अधिकार था। विवाह-संस्था जैनों के लिये ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक होने के रूप में ही स्वीकार की गई। जैनों के लिए विवाह का अर्थ था अपनी वासना को संयमित करना। केवल उन्हीं लोगों के लिए विवाह संस्था में प्रवेश आवश्यक माना गया था जो पूर्णरूप से ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ पाते हों अथवा विवाह के पूर्व पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का व्रत नहीं ले चुके हैं। अतः हम कह सकते हैं कि जैनों ने ब्रह्मचर्य की आंशिक साधना के अंग के रूप में विवाह संस्था को स्वीकार करके भी नारी को स्वतन्त्र निर्णय शक्ति को मान्य करके उसकी गरिमा को खण्डित नहीं होने दिया।

बहुपति और बहुपत्नी प्रथा

विवाह संस्था के सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बहुविवाह का भी है। इसके दो रूप हैं बहुपत्नी प्रथा और बहुपति प्रथा। यह स्पष्ट है कि द्रौपदी के एक अपवाद को छोड़कर हिन्दू और जैन दोनों ही परम्पराओं ने नारी के सम्बन्ध में एक-पति प्रथा की अवधारणा को ही स्वीकार किया और बहुपति प्रथा को धार्मिक दृष्टि से अनुचित माना गया। जैनाचार्यों ने द्रौपदी के बहुपति होने की अवधारणा को इस आधार पर औचित्यपूर्ण बताने का प्रयास किया है कि सुकमालिका आर्या के भव में उसने अपने तप के प्रताप से पाँच पति प्राप्त करने का निदान (निश्चय कर) लिया था।^१ अतः इसे पूर्वकर्म का फल मानकर सन्तोष किया गया। किन्तु दूसरी ओर पुरुष के सम्बन्ध में बहुपत्नी प्रथा की स्पष्ट अवधारणा आगमों और आगमिक व्याख्या साहित्य में मिलती है। इनमें ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जहाँ पुरुषों को बहुविवाह करते दिखाया गया है। दुःख तो यह है कि उनकी इस प्रवृत्ति की समालोचना भी नहीं की गई है। अतः उस युग में जैनाचार्य इस सम्बन्ध में तटस्थ भाव रखते थे, यही कहा जा सकता है।

१. ज्ञाताधर्मकथा अध्याय १६, सूत्र, ७२-७४।

क्योंकि किसी जैनाचार्य ने बहुविवाह को अच्छा कहा हो, ऐसा भी कोई सन्दर्भ नहीं मिलता है। उपासकदशा में श्रावक के स्वपत्नी सन्तोषव्रत के अतिचारों का उल्लेख मिलता है, उसमें 'परविवाहकरण' को अतिचार या दोष माना गया है। 'परविवाहकरण' की व्याख्या में उसका एक अर्थ दूसरा विवाह करना बताया गया है अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि जैनों का आदर्श एक पत्नीव्रत ही रहा है।

बहुपत्नी प्रथा के आविर्भाव पर विचार करें तो हम पाते हैं कि यौगलिक काल तक बहुपत्नी प्रथा प्रचलित नहीं थी। आवश्यकचूर्ण के अनुसार सर्वप्रथम ऋषभदेव ने दो विवाह किये थे। किन्तु उनके लिये दूसरा विवाह इसलिये आवश्यक हो गया था कि एक युगल में पुरुष की अकाल मृत्यु हो जाने के कारण उस स्त्री को सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से यह आवश्यक था। किन्तु जब आगे चलकर स्त्री को एक सम्पत्ति के रूप में देखा जाने लगा तो स्वाभाविक रूप से स्त्री के प्रति अनुग्रह की भावना के आधार पर नहीं, अपितु अपनी कामवासनापूर्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए बहुविवाह की प्रथा आरम्भ हो गयी। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि समाज में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी किन्तु इसे जैनधर्म सम्मत एक आचार मानना अनुचित होगा। क्योंकि जब जैनों में विवाह को ही एक अनिवार्य धार्मिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया तो बहुविवाह को धार्मिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य में यद्यपि पुरुष के द्वारा बहुविवाह के अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं किन्तु हमें एक भी ऐसा सन्दर्भ नहीं मिलता जहाँ कोई व्यक्ति गृहस्थोपासक के व्रतों को स्वीकार करने के पश्चात् बहुविवाह करता है। यद्यपि ऐसे सन्दर्भ तो हैं कि मुनिव्रत या श्रावकव्रत स्वीकार करने के पूर्व अनेक गृहस्थोपासकों को एक से अधिक पत्नियाँ थीं। किन्तु व्रत स्वीकार करने के पश्चात् किसी ने अपनी पत्नियों की संख्या में वृद्धि की हो, ऐसा एक भी सन्दर्भ मुझे नहीं मिला। आदर्श स्थिति तो एकपत्नी प्रथा को ही माना जाता था। उपासकदशा में १० प्रमुख उपासकों में केवल एक की ही एक से अधिक पत्नियाँ थीं। शेष सभी को एक-एक पत्नी थी साथ ही उसमें श्रावकों के व्रतों के जो अतिचार बताये गये हैं उनमें स्वपत्नी सन्तोष व्रत का एक अतिचार 'परविवाहकरण' है।^१ यद्यपि

कुछ जैनाचार्यों ने 'परविवाहकरण' का अर्थ स्व-सन्तान के अतिरिक्त अन्यो की सन्तानों का विवाह-सम्बन्ध करवाना माना है किन्तु उपासक-दशांग की टोका में आचार्य अभयदेव ने इसका अर्थ एक से अधिक विवाह करना माना है।^१ अतः हम यह कह सकते हैं कि धार्मिक आधार पर जैनधर्म बहुपत्नी प्रथा का समर्थक नहीं है। बहुपत्नी-प्रथा का उद्देश्य तो वासना में आकण्ठ डूबना है, जो निवृत्तिप्रधान जैनधर्म की मूल भावना के अनुकूल नहीं है। जैन ग्रन्थों में जो बहुपत्नी प्रथा की उपस्थिति के संकेत मिलते हैं वे उस युग की सामाजिक स्थिति के सूचक हैं। आगम साहित्य में पार्श्व, महावीर एवं महावीर के नौ प्रमुख उपासकों की एक पत्नी मानी गई है।

विधवा विवाह एवं नियोग—

यद्यपि आगमिक व्याख्या साहित्य में नियोग और विधवा-विवाह के कुछ सन्दर्भ उपलब्ध हो जाते हैं किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह भी जैनाचार्यों द्वारा समर्थित नहीं है। निशीथचूर्णि में एक राजा को अपनी पत्नी से नियोग के द्वारा सन्तान उत्पन्न करवाने के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि जिस प्रकार खेत में बीज किसी ने भी डाला हो फसल का अधिकारी भूस्वामी ही होता है। उसी प्रकार स्वस्त्री से उत्पन्न सन्तान का अधिकारी उसका पति ही होता है।^२ यह सत्य है कि एक युग में भारत में नियोग की परम्परा प्रचलित रही किन्तु निवृत्तिप्रधान जैनधर्म ने न तो नियोग का समर्थन किया न ही विधवा विवाह का। क्योंकि उसकी मूलभूत प्रेरणा यही रही कि जब भी किसी स्त्री या पुरुष को कामवासना से मुक्त होने का अवसर प्राप्त हो वह उससे मुक्त हो जाय। जैन आगम एवं आगमिक व्याख्याओं में हजारों सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जहाँ पति की मृत्यु के पश्चात् विधवार्ये भिक्षुणी बनकर संघ की शरण में चली जाती थी। जैन संघ में भिक्षुणियों की संख्या के अधिक होने का एक कारण यह भी था कि भिक्षुणी संघ विधवाओं के सम्मानपूर्ण एवं सुरक्षित जीवन जीने का आश्रयस्थल था। यद्यपि कुछ लोगों के द्वारा यह कहा जाता है कि ऋषभदेव ने मृत युगल पत्नी से विवाह करके विधवा-विवाह की परम्परा को स्थापित किया था। किन्तु आवश्यक चूर्णि से स्पष्ट होता है कि वह स्त्री मृत युगल की बहन थी, पत्नी नहीं। क्योंकि उस

१. उपासकदसा, अभयदेवकृतवृत्ति पृ० ४३।

२. निशीथचूर्णि, भाग २, ३८१।

युगल में पुरुष की मृत्यु बालदशा में हो चुकी थी। अतः इस आधार पर विधवा विवाह का समर्थन नहीं होता है। जैनधर्म जैसे निवृत्तिप्रधान धर्म में विधवा-विवाह को मान्यता प्राप्त नहीं थी। यद्यपि भारतीय समाज में ये प्रथाएँ प्रचलित थीं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

विधुर-विवाह

जब समाज में बहु-विवाह को समर्थन हो तो विधुर-विवाह को मान्य करने में कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु इसे भी जैनधर्म में धार्मिक दृष्टि से समर्थन प्राप्त था, यह नहीं कहा जा सकता। पत्नी की मृत्यु के पश्चात् आदर्श स्थिति तो यही मानी गई थी कि व्यक्ति वैराग्य ले ले। मात्र यही नहीं अनेक स्थितियों में पति, पत्नी के भिक्षुणी बनने पर स्वयं भी भिक्षु बन जाता है। यद्यपि सामाजिक जीवन में विधुर-विवाह के अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं, जिनके संकेत आगमिक व्याख्या साहित्य में मिलते हैं।

विवाहेतर यौन सम्बन्ध

जैनधर्म में पति-पत्नी के अतिरिक्त अन्यत्र यौन सम्बन्ध स्थापित करना धार्मिक दृष्टि से सदैव ही अनुचित माना गया। वेश्यागमन और परस्त्रीगमन दोनों को अनैतिक कर्म बताया गया। फिर भी न केवल गृहस्थ स्त्री-पुरुषों में अपितु भिक्षु-भिक्षुणियों में भी अनैतिक यौन सम्बन्ध स्थापित हो जाते थे, आगमिक व्याख्या साहित्य में ऐसे सैकड़ों प्रसंग उल्लिखित हैं। जैन आगमों और उनकी टीकाओं आदि में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जो अपने साधना-मार्ग से पतित होकर स्वेच्छाचारी बन गयी थीं। ज्ञाताधर्मकथा, उसकी टीका, आवश्यकचूर्णि आदि में पार्श्वपत्य परम्परा की अनेक शिथिलाचारी साधवियों के उल्लेख मिलते हैं।^१ ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी का पूर्व जीवन भी इसी रूप में वर्णित है। साधना काल में वह वेश्या को पाँच पुरुषों से सेवित देखकर स्वयं पाँच पतियों की पत्नी बनने का निदान कर लेती है।^२ निशीथचूर्णि में पुत्रियों और पुत्रवधू के जार अथवा धूर्त व्यक्तियों के साथ भागने के उल्लेख हैं। आगमिक व्याख्याओं में मुख्यतः निशीथचूर्णि बृहत्कल्पभाष्य,

१. ज्ञाताधर्मकथा, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, प्रथम वर्ग, अध्याय २-५

द्वितीय वर्ग, अध्याय ५, तृतीय वर्ग, अध्याय १-५४

२. ज्ञाताधर्मकथा, प्रथमश्रुतस्कन्ध, अध्याय १६, सूत्र ७२-७४।

व्यवहारभाष्य आदि में ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं जहाँ स्त्रियाँ अवैध सन्तानों को भिक्षुओं के निवास स्थानों पर छोड़ जाती थीं। आगम और आगमिक व्याख्यायें इस बात की साक्षी हैं कि स्त्रियाँ सम्भोग के लिए भिक्षुओं को उत्तेजित करती थीं^१ उन्हें इस हेतु विवश करती थीं और उनके द्वारा इन्कार किये जाने पर उन्हें बदनाम किये जाने का भय दिखाती थीं। आगमिक व्याख्याओं में इन उपरिस्थितियों में भिक्षु को क्या करना चाहिए इस सम्बन्ध में अनेक आपवादिक नियमों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि शीलभंग सम्बन्धी अपराधों के विविध रूपों एवं सम्भवनाओं के उल्लेख जैन परम्परा में विस्तार से मिलते हैं किन्तु इस चर्चा का उद्देश्य साधक को वासना सम्बन्धी अपराधों से विमुक्त बनाना ही रहा है। यह जीवन का यथार्थ तो था किन्तु जैनाचार्य उसे जीवन का विकृत-पक्ष मानते थे और उस आदर्श समाज की कल्पना करते हैं, जहाँ इसका पूर्ण अभाव हो।

आगमिक व्याख्याओं में उन घटनाओं का भी उल्लेख है जिनके कारण स्त्रियों को पुरुषों की वासना का शिकार होना पड़ा था। पुरुषों की वासना का शिकार होने से बचने के लिए भिक्षुणियों को अपनी शील-सुरक्षा में कौन-कौन-सी सतर्कता बरतनी होती थी यह भी उल्लेख निशीथ और बृहत्कल्प दोनों में ही विस्तार से मिलता है। रूपवती भिक्षुणियों को मन-चले युवकों और राजपुरुषों की कुदृष्टि से बचने के लिए इस प्रकार का वेष धारण करना पड़ता था ताकि वे कुरूप प्रतीत हों। भिक्षुणियों को सोते समय क्या व्यवस्था करनी चाहिए इसका भी बृहत्कल्पभाष्य में विस्तार से वर्णन है। भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने वालों की पूरी जाँच की जाती थी। प्रतिहारी भिक्षुणी उपाश्रय के बाहर दण्ड लेकर बैठती थी। शील सुरक्षा के जो विस्तृत विवरण हमें आगमिक व्याख्याओं में मिलते हैं उससे स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष वर्ग स्त्रियों एवं भिक्षुणियों को अपनी वासना का शिकार बनाने में कोई कमी नहीं रखता था। पुरुष द्वारा बलात्कार किये जाने पर और ऐसी स्थिति में गर्भ रह जाने पर संघ उस भिक्षुणी के प्रति सद्भावनापूर्वक व्यवहार करता था तथा उसके गर्भ की सुरक्षा के प्रयत्न भी किये जाते थे। प्रसूत बालक को जब वह उस स्थिति में हो जाता था कि वह माता के बिना रह सके तो उसे उपा-

१. निशीथचूर्णि, भाग ३ पृ० २६७।

२. निशीथचूर्णि भाग २, पृ० १७३।

सक को सौंपकर अथवा भिक्षु संघ को सौंपकर ऐसी भिक्षुणी पुनः भिक्षुणी संघ में प्रवेश पा लेती थी।^१ ये तथ्य इस बात के सूचक हैं कि सदाचारी नारियों के संरक्षण में जैनसंघ सदैव सजग था।

नारी-रक्षा

बलात्कार किये जाने पर किसी भिक्षुणी की आलोचना का अधिकार नहीं था। इसके विपरीत जो व्यक्ति ऐसी भिक्षुणी की आलोचना करता उसे ही दण्ड का पात्र माना जाता था। नारी की मर्यादा की रक्षा के लिए जैनसंघ सदैव ही तत्पर रहता था। निशीथचूर्णि में उल्लेखित कालकाचार्य की कथा में इस बात का प्रमाण है कि अहिंसा का प्राणपण से पालन करने वाला भिक्षुसंघ भी नारी की गरिमा को खण्डित होने की स्थिति में दुराचारियों को दण्ड देने के लिए शस्त्र पकड़कर सामने आ जाता था। निशीथचूर्णि में कालकाचार्य की कथा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आचार्य ने भिक्षुणी^२ (बहन सरस्वती) की शील-सुरक्षा के लिये गर्दभिल्ल के विरुद्ध शकों की सहायता लेकर पूरा संघर्ष किया था। निशीथ, बृहत्कल्पभाष्य आदि में स्पष्ट रूप से ऐसे उल्लेख हैं कि यदि संघस्थ भिक्षुणियों की शील-सुरक्षा के लिए दुराचारी व्यक्ति की हत्या करने का भी अपरिहार्य हो जाये तो ऐसी हत्या को भी उचित माना गया। नारी के शील की सुरक्षा करनेवाले ऐसे भिक्षु को संघ में सम्मानित भी किया जाता था। बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है कि जल, अग्नि, चोर और दुष्काल की स्थिति में सर्वप्रथम स्त्री की रक्षा करनी चाहिए। इसी प्रकार डूबते हुए श्रमण और भिक्षुणी में पहले भिक्षुणी को और क्षुल्लक और क्षुल्लिका में से क्षुल्लिका की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार नारी की रक्षा को प्राथमिकता दी गई।

सती प्रथा और जैनधर्म

उत्तरमध्य युग में नारी उत्पीड़न का सबसे बीभत्स रूप सती प्रथा बन गया था, यदि हम सती प्रथा के सन्दर्भ में जैन आगम और व्याख्या साहित्य को देखें तो स्पष्ट रूप से हमें एक भी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता जहाँ पत्नी पति के शव के साथ जली हो या जला दी गयी हो। यद्यपि निशीथचूर्णि में एक ऐसा उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार सौपारक के पाँच सौ व्यापारियों को कर न देने के कारण राजा ने उन्हें

१. निशीथचूर्णि, भाग १, पृ० १२९।

२. निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २३४।

जला देने का आदेश दे दिया था और उक्त उल्लेख के अनुसार उन व्यापारियों की पत्नियाँ भी उनकी चिताओं में जल गयी थीं।^१ लेकिन जैनाचार्य इसका समर्थन नहीं करते हैं। पुनः इस आपवादिक उल्लेख के अतिरिक्त हमें जैन साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध नहीं होते हैं, महानिशीथ में इससे भिन्न यह उल्लेख भी मिलता है कि किसी राजा की विधवा कन्या सती होना चाहती थी किन्तु उसके पितृकुल में यह रिवाज नहीं था अतः उसने अपना विचार त्याग दिया।^२ इससे लगता है कि जैनाचार्यों ने पति की मृत्योपरान्त स्वेच्छा से भी अपने देह-त्याग को अनुचित ही माना है और इस प्रकार के मरण को बाल-मरण या मूर्खता ही कहा है। सती प्रथा का धार्मिक समर्थन जैन आगम साहित्य और उसकी व्याख्याओं में हमें कहीं नहीं मिलता है।

यद्यपि आगमिक व्याख्याओं में दधिवाहन की पत्नी एवं चन्दना की माता धारिणी आदि के कुछ ऐसे उल्लेख अवश्य हैं जिनमें ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त देह-त्याग किया गया है^३ किन्तु यह अवधारणा सती प्रथा की अवधारणा से भिन्न है। जैन धर्म और दर्शन यह नहीं मानता है कि मृत्यु के बाद पति का अनुगमन करने से अर्थात् जीवित चिता में जल मरने से पुनः स्वर्गलोक में उसी पति की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जैनधर्म अपनी कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानता है कि पति-पत्नी अपने-अपने कर्मों और मनोभावों के अनुसार ही विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं। यद्यपि परवर्ती जैन कथा साहित्य में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ एक भव के पति-पत्नी आगामी अनेक भवों में जीवनसाथी बने, किन्तु इसके विरुद्ध भी उदाहरणों की जैन कथा साहित्य में कमी नहीं है।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि धार्मिक आधार पर जैन धर्म सतीप्रथा का समर्थन नहीं करता। जैन धर्म के सती प्रथा के समर्थक न होने के कुछ सामाजिक कारण भी रहे हैं। व्याख्या साहित्य में ऐसी अनेक कथाएँ वर्णित हैं जिनके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात्

१. (अ) निशीथचूर्णि, भाग २, पृ० ५९-६०।

(ब) तैसि पंच महिक्खसताइं, ताणि वि अग्निं पावट्ठाणि।

—निशीथचूर्णि, भाग ४, पृ० १४।

२. महानिशीथ पृ० २९। देखें, जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २७१।

३. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३१८।

पत्नी न केवल पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करती थी, अपितु पति के व्यवसाय का संचालन भी करती थीं। शालिभद्र की माता भद्रा को राज-गृह की एक महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठी और व्यापारी निरूपित किया गया है जिसके वैभव को देखने के लिये श्रेणिक भी उसके घर आया था। आगमों और आगमिक व्याख्याओं में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जहाँ कि स्त्री पति की मृत्यु के पश्चात् विरक्त होकर भिक्षुणी बन जाती थी। यह सत्य है कि जैन भिक्षुणी संघ विधवाओं, कुमारियों और परित्यक्ताओं का आश्रय-स्थल था। यद्यपि जैन आगम साहित्य एवं व्याख्या साहित्य दोनों में हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं जहाँ पति और पुत्रों के जोवित रहते हुए भी पत्नी या माता भिक्षुणी बन जाती थी। ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी पति और पुत्रों की सम्मति से दीक्षित हुई थी किन्तु इनके अलावा ऐसे उदाहरणों को भी विपुलता देखी जाती है जहाँ पत्नियाँ पति के साथ अथवा पति एवं पुत्रों की मृत्यु के उपरान्त विरक्त होकर संन्यास ग्रहण कर लेती थीं। कुछ ऐसे उल्लेख भी मिले हैं जहाँ स्त्री आजीवन ब्रह्मचर्य को धारण करके या तो पितृगृह में ही रह जाती थी अथवा दीक्षित हो जाती थी। जैन परम्परा में भिक्षुणी संस्था एक ऐसा आधार रही है जिसने हमेशा नारी को संकट से उबारकर न केवल आश्रय दिया है, अपितु उसे सम्मान और प्रतिष्ठा का जीवन जोना सिखाया है।

जैन भिक्षुणी संघ, उन सभी स्त्रियों के लिये जो विधवा, परित्यक्ता अथवा आश्रयहीन होती थीं, शरणदाता होता था। अतः जैन धर्म में सती प्रथा को कोई प्रश्रय नहीं मिला। जब-जब भी नारी पर कोई अत्याचार किये गये, जैन भिक्षुणी संघ उसके लिए रक्षाकवच बना क्योंकि भिक्षुणी संघ में प्रवेश करने के बाद न केवल वह पारिवारिक उत्पीड़न से बच सकती थी अपितु एक सम्मानपूर्ण जीवन भी जी सकती थी। आज भी विधवाओं, परित्यक्ताओं, पिता के पास दहेज के अभाव, कुरूपता, अथवा अन्य किन्हीं कारणों से अविवाहित रहने के लिये विवश कुमारियों आदि के लिये जैन भिक्षुणी संघ आश्रयस्थल है। जैन भिक्षुणी संघ ने नारी की गरिमा और उसके सतीत्व दोनों की रक्षा की। यही कारण था कि सती-प्रथा जैसी कुत्सित प्रथा जैन धर्म में कभी भी नहीं रही।

महानिशीथ में एक स्त्री को सती होने का मानस बनाने पर भी अपनी कुल-परम्परा में सती प्रथा का प्रचलन नहीं होने के कारण अपने निर्णय को बदलता हुआ देखते हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि जैनाचार्यों की दृष्टि सतीप्रथा विरोधी थी। जैन आचार्य और साध्वियाँ विध-

वाओं को सती बनने से रोककर उन्हें संघ में दीक्षित होने की प्रेरणा देते थे। जैन परम्परा में ब्राह्मी, सुन्दरी और चन्दना आदि को सती कहा गया है और तीर्थंकरों के नाम-स्मरण के साथ-साथ आज भी १६ सतियों का नाम स्मरण किया जाता है, किन्तु इन्हें सती इसलिये कहा गया कि ये अपने शील की रक्षा हेतु या तो अविवाहित रहीं या पति की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने अपने चरित्र एवं शील को सुरक्षित रखा। आज जैन साध्वियों के लिये एक बहुप्रचलित नाम महासती है उसका आधार शील का पालन ही है। जैन परम्परा में आगमिक व्याख्याओं और पौराणिक रचनाओं के पश्चात् जो प्रबन्ध साहित्य लिखा गया, उसमें सर्वप्रथम सती प्रथा का ही जैनीकरण किया हुआ एक रूप हमें देखने को मिलता है। तेजपाल—वस्तुपाल प्रबन्ध में बताया गया है कि तेजपाल और वस्तुपाल की मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नियों ने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये।^१ यहाँ पति की मृत्यु के पश्चात् शरीर त्यागने का उपक्रम तो है किन्तु उसका स्वरूप सौम्य और वैराग्य प्रधान बना दिया गया है। वस्तुतः यह उस युग में प्रचलित सती प्रथा की जैनधर्म में क्या प्रतिक्रिया हुई थी, उसका सूचक है।

गणिकाओं की स्थिति

गणिकायें ओर वेश्यायें भारतीय समाज का आवश्यक घटक रही हैं। उन्हें अपरिगृहीता-स्त्री माना जाये या परिगृहीता इसे लेकर जैन आचार्यों में विवाद रहा है। क्योंकि आगमिक काल से उपासक के लिये हम अपरिगृहीता-स्त्री से सम्भोग करने का निषेध देखते हैं। भ० महावीर के पूर्व पार्श्वपत्य परम्परा के शिथिलाचारी श्रमण यहाँ तक कहने लगे थे कि बिना विवाह किये अर्थात् परिगृहीत किये यदि कोई स्त्री कामवासना की आकांक्षा करती है तो उसके साथ सम्भोग करने में कोई पाप नहीं है।^२ ज्ञातव्य है कि पार्श्व की परम्परा में ब्रह्मचर्य व्रत अपरिग्रह के अधीन माना गया था क्योंकि उस युग में नारी को भी सम्पत्ति माना जाता था, चूँकि ऐसी स्थिति में अपरिग्रह के व्रत का भंग नहीं था इसलिये शिथिलाचारी

१. मन्त्रिण्यौ ललितादेवी सौख्यौ अनशनेन मम्रतुः । —प्रबन्धकोश, पृष्ठ १२९.
२. एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।
इत्थीवसंगया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥
जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तंगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ॥—सूत्रकृतांग, १/३/४/९-१०

श्रमण उसका विरोध कर रहे थे। यही कारण था कि भ० महावीर ने ब्रह्मचर्य को जोड़ा था।

चूँकि वेश्या या गणिका परस्त्री नहीं थी, अतः परस्त्री-निषेध के साथ स्वपत्नी संतोषव्रत को भी जोड़ा गया और उसके अतिचारों में अपरिगृहीतागमन को भी सम्मिलित किया गया और कहा गया कि गृहस्थ उपासक को अपरिगृहीत (अविवाहित) स्त्री से सम्भोग नहीं करना चाहिये। पुनः जब यह माना गया कि परिग्रहण के बिना सम्भोग सम्भव नहीं, साथ ही द्रव्य देकर कुछ समय के लिये गृहीत वेश्या भी परिगृहीत की कोटि में आ जाती है, तो परिणामस्वरूप धनादि देकर अल्पकाल के लिए गृहीत स्त्री (इत्वरिका)^१ के साथ भी सम्भोग का निषेध किया गया और गृहस्थ उपासक के लिए आजीवन हेतु गृहीत अर्थात् विवाहित स्त्री के अतिरिक्त सभी प्रकार के यौन सम्बन्ध निषिद्ध माने गये। जैनाचार्यों में सोमदेव (१०वीं शती) एक ऐसे आचार्य थे, जिन्होंने श्रावक के स्वपत्नी संतोष व्रत में, वेश्या को उपपत्नी मानकर उसका भोग राजा और श्रेष्ठी वर्ग के लिए विहित मान लिया था—किन्तु यह एक अपवाद ही था।

यद्यपि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य सभी लोगों के साथ जैनधर्म प्रति श्रद्धावान सामान्यजन भी किसी न किसी रूप में गणिकाओं से सम्बद्ध रहा है। आगमों में उल्लेख है कि कृष्ण वासुदेव की द्वारिका नगरी में अंगसेना प्रमुख अनेक गणिकाएँ भी थीं।^२ स्वयं ऋषभदेव के नीलांजना का नृत्य देखते समय उसकी मृत्यु से प्रतिबोधित होने की कथा दिगम्बर परम्परा में सुविश्रुत है।^३ कुछ विद्वान् मथुरा में इसके अंकन को भी स्वीकार करते हैं। ज्ञाता आदि में देवदत्ता आदि गणिकाओं की समाज में सम्मानपूर्ण स्थिति की सूचना मिलती है।^४ समाज के सम्पन्न परिवारों के लोगों के वेश्याओं से सम्बन्ध थे, इसकी सूचना आगम, आगमिक व्याख्या साहित्य और जैन पौराणिक साहित्य में विपुल मात्रा में

१. उपासकदशा १, ४८ ।

२. अणंगसेना पामोवखाणं अणेगाणं गणियासाहस्सीणं.....। —आवश्यकचूर्णि भाग १, पृ० ३५६

३. आदिपुराण, पृ० १२५, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १९१९ ।

४. अड्डा जाव.....सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगतं आणा ईसर सेणावच्चं कारेमाणी.....।

उपलब्ध है। कान्हड कठिआरा और स्थूलभद्र के आख्यान सुविश्रुत हैं, किन्तु इन सब उल्लेखों से यह मान लेना कि वेश्यावृत्ति जैनधर्मसम्मत थी या जैनाचार्य इसके प्रति उदासीन भाव रखते थे, सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी। हम यह पूर्व में संकेत कर ही चुके हैं कि जैनाचार्य इस सम्बन्ध में सजग थे और किसी भी स्थिति में इसे औचित्यपूर्ण नहीं मानते थे। सातवीं-आठवीं शती में तो जैनधर्म का अनुयायी बनने की प्रथम शर्त यही थी कि व्यक्ति सप्त दुर्व्यसन का त्याग करे। इसमें परस्त्रीगमन और वेश्यागमन दोनों निषिद्ध माने गये थे।^१ उपासकदशा में “असतो जन पोषण” श्रावक के लिए निषिद्ध कर्म था।^२

आगमिक व्याख्याओं में प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि अनेक वेश्याओं और गणिकाओं की अपनी नैतिक मर्यादाएँ थीं, वे उनका कभी उल्लंघन नहीं करती थीं। कान्हडकठिआरा और स्थूलभद्र के आख्यान इसके प्रमाण हैं।^३ ऐसी वेश्याओं और गणिकाओं के प्रति जैनाचार्य अनुदार नहीं थे, उनके लिए धर्मसंघ में प्रवेश के द्वार खुले थे, वे श्राविकाएँ बन जाती थीं। कोशा ऐसी वेश्या थी, जिसकी शाला में जैन मुनियों को निःसंकोच भाव से चानुर्मास व्यतीत करने की अनुज्ञा आचार्य दे देते थे। मथुरा के अभिलेख इस बात के साक्ष्य हैं कि गणिकाएँ जिनमन्दिर और आयागपट्ट (पूजापट्ट) बनवाती थीं।^४ यह जैनाचार्यों का उदार दृष्टिकोण था, जो इस पतित वर्ग का उद्धार कर उसे प्रतिष्ठा प्रदान करता था।

नारी-शिक्षा

नारी-शिक्षा के सम्बन्ध में जैन आगमों और आगमिक व्याख्याओं से हमें जो सूचना मिलती है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में नारी को समुचित शिक्षा प्रदान की जाती थी। अपेक्षाकृत परवर्ती आगम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यकचूर्णि एवं दिगम्बर परम्परा के आदिपुराण आदि में उल्लेख है कि ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को गणित और लिपि विज्ञान की शिक्षा दी थी।

१. देखें, जैन, बौद्ध और गीता का आचार दर्शन, भाग २, डा० सागरमल जैन, पृ० २६८।
२.असईजणपोसणया —उपासकदशा १/५१
३. साविका जाया अबंभस्स पच्चक्खाइ णण्णश्य रायाभियोगेणं। —आवश्यक-चूर्णि, भाग १, पृ० ५५४-५५।
४. जैनशिलालेख संग्रह भाग २ अभिलेख क्रमांक ८।

मात्र यही नहीं, ज्ञाताधर्मकथा और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में स्त्री की चौंसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। यद्यपि यहाँ इनके नाम नहीं दिये गये हैं तथापि यह अवश्य सूचित किया गया है कि कन्याओं को इनकी शिक्षा दी जाती है। सर्वप्रथम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की टीका में इनका विवरण उपलब्ध होता है।^१ आश्चर्यजनक यह है कि जहाँ ज्ञाताधर्मकथा में पुरुष की ७२ कलाओं का वर्णन है, वहीं नारी की चौंसठ कला का निर्देशमात्र है। फिर भी इतना निश्चित है कि भारतीय समाज में यह अवधारणा बन चुकी थी। ज्ञाताधर्मकथा में देवदत्ता गणिका को चौंसठ कलाओं में पण्डित, चौंसठ गणिका गुण (काम-कला) से उपपेत, उनतीस प्रकार से रमण करने में प्रवीण, इक्कीस रतिगुणों में प्रधान, बत्तीस पुरुषोपचार में कुशल, नवांगसूत्र प्रतिबोधित और अठारह वैश्वी भाषाओं में विशारद कहा है।^२ इन सूचियों को देखकर स्पष्ट रूप से ऐसा लगता है कि स्त्रियों को उनकी प्रकृति और दायित्व के अनुसार भाषा, गणित, लेखनकला आदि के साथ-साथ स्त्रियोचित नृत्य, संगीत और ललितकलाओं तथा पाक-शास्त्र आदि में शिक्षित किया जाता था।

यद्यपि आगम और आगमिक व्याख्याएँ इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हैं कि ये शिक्षा उन्हें घर पर ही दी जाती थी अथवा वे गुरुकुल में जाकर इनका अध्ययन करती थीं। स्त्री-गुरुकुल के सन्दर्भ के अभाव से ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही की जाती थी। सम्भवतः परिवार की प्रौढ़ महिलाएँ ही उनकी शिक्षा की व्यवस्था करती थीं, किन्तु सम्पन्न परिवारों में इस हेतु विभिन्न देशों की दासियों एवं गणिकाओं को भी नियुक्ति की जाती थी, जो इन्हें इन कलाओं में पारंगत बनाती थीं। आगमिक व्याख्याओं में हमें कोई भी ऐसा सन्दर्भ उपलब्ध नहीं हुआ, जो सहशिक्षा का निर्देश करता हो। नारी के गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी इन शिक्षाओं के प्राप्त करने के अधिकार में प्रागैतिहासिक काल से लेकर आगमिक व्याख्याओं के काल तक कोई विशेष परिवर्तन हुआ हो, ऐसा भी हमें ज्ञात नहीं होता; मात्र विषयवस्तु में क्रमिक विकास हुआ होगा। यद्यपि लौकिक शिक्षा में स्त्री और पुरुष की प्रकृति एवं कार्य के आधार पर अन्तर किया गया था, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि स्त्री और पुरुष में कोई भेद-भाव किया जाता था।

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—शान्तिसूरीय वृत्ति, अधिकार २, ३०।

२. ज्ञाताधर्मकथा ४/६।

नारी को उसके लिए आवश्यक सभी पक्षों की सम्पूर्ण शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि यह सत्य है कि उस युग में स्त्री और पुरुष दोनों के लिए कर्म-प्रधान शिक्षा का ही विशेष प्रचलन था।

जहाँ तक धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षा का प्रश्न है वह उन्हें भिक्षु-णियों के द्वारा प्रदान की जाती थी। सूत्रकृतांग से ज्ञात होता है कि जैन-परम्परा में भिक्षु को स्त्रियों को शिक्षा देने का अधिकार नहीं था।^१ वह केवल स्त्रियों और पुरुषों की संयुक्त सभा में उपदेश दे सकता था। सामान्यतया भिक्षुणियों और गृहस्थ उपासिकाओं दोनों को ही स्थविरा भिक्षुणियों के द्वारा ही शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में हमें कुछ सूचनायें उपलब्ध होती हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आचार्य और उपाध्याय भी कभी-कभी उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। व्यवहारसूत्र में उल्लेख है कि तीन वर्ष की पर्याय वाला निर्ग्रन्थ, तीस वर्ष की पर्याय वाली भिक्षुणी का उपाध्याय तथा पाँच वर्ष की पर्याय वाली निर्ग्रन्थ साठ वर्ष की पर्याय वाली श्रमणी का आचार्य हो सकता था।^२ जहाँ तक स्त्रियों के द्वारा धर्मग्रन्थों के अध्ययन का प्रश्न है अति प्राचीनकाल में इस प्रकार का कोई बन्धन रहा हो, हमें ज्ञात नहीं होता। अन्तकृदृशा आदि आगम ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जहाँ भिक्षुणियों के द्वारा सामायिक आदि ११ अंगों का अध्ययन किया जाता था। यद्यपि आगमों में न कहीं ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख है कि स्त्री दृष्टिवाद का अध्ययन नहीं कर सकती थी और न ही ऐसा कोई विधायक सन्दर्भ उपलब्ध होता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि स्त्री दृष्टिवाद का अध्ययन करती थी। किन्तु आगमिक व्याख्याओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिवाद का अध्ययन स्त्रियों के लिए निषिद्ध मान लिया गया। भिक्षुणियों के लिए दृष्टिवाद का निषेध करते हुए कहा गया कि स्वभाव की चंचलता, एवं बुद्धि-प्रकर्ष में कमी के कारण उसके लिए दृष्टिवाद का अध्ययन निषिद्ध बताया गया है। जब एक

१. तम्हा उ वज्जए इत्थी.....आघाते ण सेवि निग्गंथे ।

—सूत्रकृतांग १, ४, १, ११

२. कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठए काले सज्जायं करेत्तए निग्गंथ निस्साए ।

(तथा) पंचवासपरियाए समणे निग्गंथे, सट्ठिवास परियाए समणीए निग्गंथीए कप्पइ आयरिय उवज्जायत्ताए उद्दिदसित्ताए ।

—व्यवहारसूत्र ७, १५ व २०

ओर यह मान लिया गया कि स्त्री को सर्वोच्च केवलज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, तो यह कहना गलत होगा कि उनमें बुद्धि प्रकर्ष की कमी है। मुझे ऐसा लगता है कि जब हिन्दू परम्परा में उसी नारी को, जो वैदिक ऋचाओं की निर्मात्री थी, वेदों के अध्ययन से वंचित कर दिया गया तो उसी के प्रभाव में आकर उस नारी को जो तीर्थंकर के रूप में अंग और मूल साहित्य का मूलस्रोत थी, दृष्टिवाद के अध्ययन से वंचित कर दिया गया। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि दृष्टिवाद का मुख्य विषय मूलतः दार्शनिक और तार्किक था और ऐसे जटिल विषय के अध्ययन को उनके लिए उपयुक्त न समझकर उनका अध्ययन निषिद्ध कर दिया गया हो। बृहत्कल्पभाष्य और व्यवहारभाष्य की पीठिका में उनके लिए महापरिज्ञा, अरुणोपपात और दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध किया गया है। किन्तु आगे चलकर निशीथ आदि अपराध और प्रायश्चित्त सम्बन्धी ग्रन्थों के अध्ययन से भी उसे वंचित कर दिया गया। यद्यपि निशीथ आदि के अध्ययन के निषेध करने का मूल कारण यह था कि अपराधों की जानकारी से या तो वह अपराधों की ओर प्रवृत्त हो सकती थी या दण्ड देने का अधिकार पुरुष अपने पास सुरक्षित रखना चाहता था। किन्तु निषेध का यह क्रम आगे बढ़ता ही गया। बारहवीं-तेरहवीं शती के पश्चात् एक युग ऐसा भी आया जब उससे आगमों के अध्ययन का मात्र अधिकार ही नहीं छीना गया, अपितु उपदेश देने का अधिकार भी समाप्त कर दिया गया। आज भी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा के तपागच्छ में भिक्षुणियों को इस अधिकार से वंचित ही रखा गया है। यद्यपि पुनर्जागृति के प्रभाव से आज अधिकांश जैन सम्प्रदायों में साध्वियाँ आगमों के अध्ययन और प्रवचन का कार्य कर रही हैं।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन काल और आगम युग की अपेक्षा आगमिक व्याख्या युग में किसी सीमा तक नारी के शिक्षा के अधिकार को सीमित किया गया था। तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि नारी-शिक्षा के प्रश्न पर वैदिक और जैन परम्परा में किस प्रकार समानान्तर परिवर्तन होता गया। आगमिक व्याख्या साहित्य के युग में न केवल शिक्षा के क्षेत्र में अपितु धर्मसंघ में और सामाजिक जीवन में भी स्त्री की गरिमा और अधिकार सीमित होते गये। इसका मुख्य कारण तो अपनी सहगामी हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही था, किन्तु इसके साथ ही अचेलता के अति आग्रह ने भी एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा अपेक्षाकृत उदार रही,

किन्तु समय के प्रभाव से वह भी नहीं बच सकी और उसमें भी शिक्षा, समाज और धर्मसाधना के क्षेत्र में आगम युग की अपेक्षा आगमिक व्याख्या युग में नारी के अधिकार सीमित किये गये।

इस प्रकार काल-क्रम में जैन धर्म में भी भारतीय हिन्दू समाज के प्रभाव के कारण नारी को उसके अधिकारों से वंचित किया गया था, फिर भी भिक्षुणी के रूप में उसकी गरिमा को किसी सीमा तक सुरक्षित रखा गया था।

भिक्षुणी-संघ और नारी की गरिमा^१

जैन भिक्षुणी संघ में नारी की गरिमा को किस प्रकार सुरक्षित रखा गया। इस सम्बन्ध में यहाँ किंचित् चर्चा कर लेना उपयोगी होगा। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं जैनधर्म के भिक्षुणी संघ के द्वार बिना किसी भेदभाव के सभी जाति, वर्ण एवं वर्ग की स्त्रियों के लिए खुले हुए थे। जैन भिक्षुणी संघ में प्रवेश के लिए सामान्य रूप से वे ही स्त्रियाँ अयोग्य मानी जाती थीं, जो बालिका अथवा अतिवृद्ध हों अथवा मूर्ख या पागल हों या किसी संक्रामक और असाध्य रोग से पीड़ित हों अथवा जो इन्द्रियों या अंग से हीन हों, जैसे अंधी, पंगु, लूली आदि। किन्तु स्त्रियों के लिए भिक्षुणी संघ में प्रवेश उस अवस्था में भी वर्जित था—जब वे गर्भिणी हों अथवा उनकी गोद में अति अल्पवय का दूध पीता हुआ शिशु हो। इसके अतिरिक्त संरक्षक अर्थात् माता-पिता, पति, पुत्र की अनुज्ञा न मिलने पर भी उन्हें संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता था। किन्तु सुरक्षा प्रदान करने के लिए विशेष परिस्थितियों में ऐसी स्त्रियों को भी संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी जाती थी। निरवायलिकासूत्र के अनुसार सुभद्रा ने अपने पति की आज्ञा के विरुद्ध ही भिक्षुणी संघ में प्रवेश कर लिया था। यद्यपि स्थानांग के अनुसार गर्भिणी स्त्री का भिक्षुणी संघ में प्रवेश वर्जित था, किन्तु उत्तराध्ययननिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णमिं ऐसे संकेत भी मिलते हैं, जिनके अनुसार कुछ स्त्रियों ने गर्भवती होने पर भी भिक्षुणी संघ में दीक्षा ग्रहण कर ली थी। मदनरेखा अपने पति की हत्या कर दिये जाने पर जंगल में भाग गयी और वहीं उसने भिक्षुणी संघ में प्रवेश ले लिया। इसी प्रकार पद्मावती और यशभद्रा ने गर्भवती होते हुए भी भिक्षुणी संघ में प्रवेश ले लिया था और बाद में उन्हें पुत्र प्रसव हुए।

१. इस समस्त चर्चा के लिए देखें मेरे निर्देशन में रचित और मेरे द्वारा सम्पादित ग्रन्थ—जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ—डॉ० अरुण प्रताप सिंह।

वस्तुतः इन अपवाद नियमों के पीछे जैन आचार्यों का मूलदृष्टि यह थी कि नारी और गर्भस्थ शिशु का जीवन सुरक्षित रहे, क्योंकि ऐसी स्थितियों में यदि उन्हें संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता है, तो हो सकता था कि उनका शील और जीवन खतरे में पड़ जाय और किसी स्त्री के शील और जीवन को सुरक्षित रखना संघ का सर्वोपरि कर्तव्य था। अतः हम कह सकते हैं कि नारी के शील एवं जीवन की सुरक्षा और उसके आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्य रखने हेतु पति की अनुमति के बिना अथवा गर्भवती होने की स्थिति में भी उन्हें जो भिक्षुणी संघ में प्रवेश दे दिया जाता था— यह नारी के प्रति जैन संघ की उद्धार एवं गरिमापूर्ण दृष्टि ही थी।

सामान्यतया साधना की दृष्टि से भिक्षु-भिक्षुणियों के आहार, भिक्षा-चर्या, उपासना आदि से सम्बन्धित नियम समान ही थे, किन्तु स्त्रियों की प्रकृति और सामाजिक स्थिति को देखकर भिक्षुणियों के लिए वस्त्र के सम्बन्ध में कुछ विशेष नियम बनाये गये। उदाहरण के लिए जहाँ भिक्षु सम्पूर्ण वस्त्रों का त्याग कर रह सकता था वहाँ भिक्षुणी के लिए नग्न होना वर्जित मान लिया गया था। मात्र यही नहीं उसकी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए उसके वस्त्र संख्या में भी वृद्धि की गयी थी। जहाँ भिक्षु के लिए अधिकतम तीन वस्त्रों का विधान था वहाँ भिक्षुणी के लिए चार वस्त्रों को रखने का विधान था। आगे चलकर आगमिक व्याख्यासाहित्य में न केवल उसके तन ढँकने की व्यवस्था की गयी, बल्कि शील सुरक्षा के लिए उसे ऐसे वस्त्रों को पहनने का निर्देश दिया गया, जिससे उनका शील भंग करने वाले व्यक्ति को सहज ही अवसर उपलब्ध न हो। इसी प्रकार शील सुरक्षा की दृष्टि से भिक्षुणी को अकेले भिक्षार्थ जाना वर्जित कर दिया गया था। भिक्षुणी तीन या उससे अधिक संख्या में भिक्षा के लिए जा सकती थी। साथ में यह भी निर्देश था कि युवा भिक्षुणी वृद्ध भिक्षुणी को साथ लेकर जाए। जहाँ भिक्षु ६ किलोमीटर तक भिक्षा के लिए जा सकता था, वहीं भिक्षुणी के लिए सामान्य परिस्थितियों में भिक्षा के लिए अति दूर जाना निषिद्ध था। इसी प्रकार भिक्षुणियों के लिए सामान्यतया द्वार-रहित उपाश्रयों में ठहरना भी वर्जित था। इन सबके पीछे मुख्य उद्देश्य नारी के शील की सुरक्षा थी। क्योंकि शील ही नारी के सम्मान का आधार था। अतः उसकी शील सुरक्षा हेतु विविध नियमों और अपवादों का सृजन किया गया है।

नारी की शील-सुरक्षा के लिए जैन आचार्यों ने एक ओर ऐसे नियमों

का सृजन किया जिनके द्वारा भिक्षुणियों का पुरुषों और भिक्षुओं से सम्पर्क सीमित किया जा सके, ताकि चारित्रिक स्वलन की सम्भावनाएं अल्पतम हों। फलस्वरूप न केवल भिक्षुणियों का भिक्षुओं के साथ ठहरना और विहार करना निषिद्ध माना गया, अपितु ऐसे स्थलों पर भी निवास वर्जित माना गया, जहाँ समीप में ही भिक्षु अथवा गृहस्थ निवास कर रहे हों। भिक्षुओं से बातचीत करना और उनके द्वारा लाकर दिये जाने वाले वस्त्र, पात्र एवं भिक्षादि को ग्रहण करना भी उनके लिए निषिद्ध ठहराया गया। आपस में एक दूसरे का स्पर्श तो वर्जित था ही, उन्हें आपस में अकेले में बातचीत करने का भी निषेध किया गया था। यदि भिक्षुओं से वार्तालाप आवश्यक भी हो, तो भी अग्र-भिक्षुणी को आगे करके संक्षिप्त वार्तालाप की अनुमति प्रदान की गयी थी। वस्तुतः ये सभी नियम इसलिए बनाये गये थे, कि कामवासना जागृत होने एवं चारित्रिक स्वलन के अवसर उपलब्ध न हों अथवा भिक्षुओं एवं गृहस्थों के आकर्षण एवं वासना की शिकार बनकर भिक्षुणी की शील की सुरक्षा खतरे में न पड़े।

किन्तु दूसरी ओर उनकी शील सुरक्षा के लिए आपवादिक स्थितियों में उनका भिक्षुओं के सान्निध्य में रहना एवं यात्रा करना विहित भी मान लिया गया था। यहाँ तक कहा गया कि आचार्य, युवा भिक्षु और वृद्ध भिक्षुणियाँ तरुण भिक्षुणियों को अपने संरक्षण में लेकर यात्रा करें। ऐसी यात्राओं में पूरी व्यूह रचना करके यात्रा की जाती थी—सबसे आगे आचार्य एवं वृद्ध भिक्षुगण, उनके पश्चात् युवा भिक्षु, फिर वृद्ध भिक्षुणियाँ, उनके पश्चात् युवा भिक्षुणियाँ पुनः उनके पश्चात् वृद्ध भिक्षुणियाँ और अन्त में युवा भिक्षु होते थे। निशीथचूर्णि आदि में ऐसे भी उल्लेख हैं कि भिक्षुणियों की शील सुरक्षा के लिए आवश्यक होने पर भिक्षु उन मनुष्यों की भी हिंसा कर सकता था जो उसके शील को भंग करने का प्रयास करते थे। यहाँ तक कि ऐसे अपराध प्रायश्चित्त योग्य भी नहीं माने गये थे। भिक्षुणियों को कुछ अन्य परिस्थितियों में भी इसी दृष्टि से भिक्षुओं के सान्निध्य में निवास करने की भी अनुमति दे दी गयी थी, जैसे—भिक्षु-भिक्षुणी यात्रा करते हुए किसी निर्जन गहन वन में पहुँच गये हों अथवा भिक्षुणियों को नगर में अथवा देवालय में ठहरने के लिए अन्यत्र कोई स्थान उपलब्ध न हो रहा हो अथवा उन पर बलात्कार एवं उनके वस्त्र-पात्रादि के अपहरण की सम्भावना प्रतीत होती हो। इसी प्रकार विक्षिप्त चित्त अथवा अतिरोगी भिक्षु की परिचर्या के लिए यदि कोई भिक्षु उपलब्ध न हो तो भिक्षुणी

उसकी परिचर्या कर सकती थी। भिक्षुओं के लिए भी सामान्यतया भिक्षुणी का स्पर्श वर्जित था किन्तु भिक्षुणी के कीचड़ में फँस जाने पर, नाव में चढ़ने या उतरने में कठिनाई अनुभव करने पर अथवा जब उसकी हिंसा अथवा शीलभंग के प्रयत्न किये जा रहे हों तो ऐसी स्थिति में भिक्षु भिक्षुणी का स्पर्श कर उसे सुरक्षा प्रदान कर सकता था। जैन परम्परा में आचार्य कालक की कथा इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। भिक्षुणी के शील की सुरक्षा को जैन भिक्षु संघ का अनिवार्य एवं प्राथमिक कर्तव्य माना गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में नारी के शील सुरक्षा के लिए पर्याप्त सतर्कता रखी गई थी।

मात्र यही नहीं, जैनाचार्यों ने अपनी दण्ड-व्यवस्था और संघ व्यवस्था में भी नारी की प्रकृति को सम्यक् रूप से समझने का प्रयत्न किया है। पुरुषों के बलात्कार और अत्याचारों से पीड़ित नारी को उन्होंने दुत्कारा नहीं, अपितु उसके समुद्धार का प्रयत्न किया। जैन दण्डव्यवस्था में उन भिक्षुणियों के लिये किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं की गई थी, जो बलात्कार की शिकार होकर गर्भवती हो जाती थी, अपितु उनके और उनके गर्भस्थ बालक के संरक्षण का दायित्व संघ का माना गया था। प्रसवोपरान्त बालक के बड़ा हो जाने पर वे पुनः भिक्षुणी हो सकती थीं। इसी प्रकार वे भिक्षुणियाँ भी जो कभी वासना के आवेग में बहकर चारित्रिक स्वलन की शिकार हो जाती थीं, तिरस्कृत नहीं कर दी जाती, अपितु उन्हें अपने को सुधारने का अवसर प्रदान किया जाता था। इस तथ्य के समर्थन में यह कहा गया था कि क्या बाढ़ से ग्रस्त नदी पुनः अपने मूल मार्ग पर नहीं आ जाती है? जैन प्रायश्चित्त व्यवस्था में भी स्त्रियों या भिक्षुणियों के लिए परिहार और पाराञ्चिक (निष्कासन) जैसे कठोर दण्ड वर्जित मान लिये गये थे, क्योंकि इन दण्डों के परिणाम स्वरूप वे निराश्रित होकर वेश्यावृत्ति जैसे अनैतिक कर्मों के लिये बाध्य हो सकती थीं। इस प्रकार जैनाचार्य नारी के प्रति सदैव सजग और उदार रहे हैं।

हम यह पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं कि जैनधर्म का भिक्षुणी संघ उन अनाथ, परित्यक्ता एवं विधवा नारियों के लिए सम्मानपूर्वक जीने के लिए एक मार्ग प्रशस्त करता था और यही कारण है कि प्राचीन काल से लेकर आज तक जैनधर्म अभागी नारियों के लिए आश्रय स्थल या शरणस्थल बना रहा है। सुश्री हीराबहन बोरदिया ने अपने शोध कार्य के दौरान अनेक

साध्वियों का साक्षात्कार लिया और उसमें वे इसी निष्कर्ष पर पहुँची थीं कि वर्तमान में भी अनेक अनाथ, विधवा, परित्यक्ता स्त्रियाँ अथवा वे कन्यायें जो दहेज अथवा कुरूपता के कारण विवाह न कर सकीं, वे सभी जैन भिक्षुणी संघ में सम्मिलित होकर एक सम्मानपूर्ण स्वावलम्बन का जीवन जी रही हैं। जैन भिक्षुणियों में से अनेक तो आज भी समाज में इतनी सुस्थापित हैं कि उनकी तुलना में मुनि वर्ग का प्रभाव भी कुछ नहीं लगता है।

इस आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जैनधर्म के विकास और प्रसार में नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आज भी जैन समाज में भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या तीन गुनी से भी अधिक है जो समाज पर उनके व्यापक प्रभाव को द्योतित करती है। वर्तमान युग में भी अनेक ऐसी जैन साध्वियाँ हुई हैं और हैं जिनका समाज पर अत्यधिक प्रभाव रहा है। जैसे स्थानकवासी परम्परा में पंजाबसिंहनी साध्वी पार्वतीजी, जो अपनी विद्वत्ता और प्रभावशीलता के लिये सुविश्रुत थीं। जैनधर्म के कट्टर विरोधी भी उनके तर्कों और बुलंदगी के सामने सहम जाते थे। इसी प्रकार साध्वी यशकुँवरजी, जिन्होंने मूक पशुओं की बलि को बन्द कराने में अनेक संघर्ष किये और अपने शौर्य एवं प्रवचनपटुता से अनेक स्थलों पर पशुबलि को समाप्त करवा दिया। उसी क्रम में स्थानकवासी परम्परा में मालव सिंहनी साध्वी श्री रत्नकुँवरजी और महाराष्ट्र गौरव साध्वी श्री उज्ज्वलकुँवरजी के भी नाम लिये जा सकते हैं जिनका समाज पर प्रभाव किसी आचार्य से कम नहीं था। मूर्तिपूजक परम्परा में वर्तमान युग में साध्वी श्री विचक्षण श्री जी, मणिप्रभा श्री जी और साध्वी श्री मृगावतीजी भी ऐसे नाम हैं कि जिनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों ही उनकी यशोगाथा को उजागर करते हैं। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में आर्थिका ज्ञानमती जी का भी पर्याप्त प्रभाव है। उनके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों की सूची से उनकी विद्वत्ता का अभास हो जाता है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि जैनधर्म में उसके अतीत से लेकर वर्तमान तक नारी की और विशेष रूप से भिक्षुणियों की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जहाँ एक ओर जैनधर्म ने नारी को सम्मानित और गौरवान्वित करते हुए, उसके शील संरक्षण का प्रयास किया और उसके आध्यात्मिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया; वहीं दूसरी ओर ब्राह्मी, सुन्दरी और चन्दना से लेकर आज तक की अनेकानेक सती-साध्वियों ने अपने चरित्रबल तथा संयम साधना से जैनधर्म की ध्वजा को फहराया है।

विभिन्न धर्मों में नारी की स्थिति की तुलना

(१) हिन्दू धर्म और जैनधर्म—हिन्दू धर्म में वैदिक युग में नारी की भूमिका धार्मिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण मानी जाती थी और उसे पुरुष के समकक्ष ही समझा जाता था। स्त्रियों के द्वारा रचित अनेक वेद-ऋचाएं और यज्ञ आदि धार्मिक कर्मकाण्डों में पत्नी की अनिवार्यता, निश्चय ही इस तथ्य की पोषक हैं। मनु का यह उद्घोष कि नार्यस्तु यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता—अर्थात् जहाँ नारी की पूजा होती है वहाँ देवता रमण करते हैं, इसी तथ्य को सूचित करता है कि हिन्दूधर्म में प्राचीनकाल से नारी के महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इन सबके अतिरिक्त भी देवी-उपासना के रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, महाकाली आदि देवियों की उपासना भी इस तथ्य की सूचक है कि नारी न केवल उपासक है अपितु उपास्य भी है। यद्यपि वैदिक युग से लेकर तंत्र युग के प्रारम्भ तक नारी की महत्ता के अनेक प्रमाण हमें हिन्दूधर्म में मिलते हैं किन्तु इसके साथ ही साथ यह भी है कि स्मृति युग से ही उसमें क्रमशः नारी के महत्त्व का अवमूल्यन होता गया। स्मृतियों में नारी को पुरुष के अधीन बनाने का उपक्रम प्रारम्भ हो गया था और उनमें यहाँ तक कहा गया कि नारी को बाल्यकाल में पिता के अधीन, युवावस्था में पति के अधीन और वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रह कर ही अपना जीवन जीना होता है। इस प्रकार वह सदैव ही पुरुष के अधीन ही है, कभी भी स्वतन्त्र नहीं है। स्मृति काल में उसे सम्पत्ति के अधिकार से भी वंचित किया गया और सामाजिक जीवन में मात्र उसके दासी या भोग्या स्वरूप पर ही बल दिया गया। पति की सेवा को ही उसका एकमात्र कर्तव्य माना गया।

यह विडम्बना ही थी कि अध्ययन के क्षेत्र में भी वेद-ऋचाओं की निर्मात्री नारी को, उन्हीं ऋचाओं के अध्ययन से वंचित कर दिया गया। उसके कार्यक्षेत्र को सन्तान-उत्पादन, सन्तान-पालन, गृहकार्य सम्पादन तथा पति की सेवा तक सीमित करके उसे घर की चारदिवारी में कैद कर दिया गया। हिन्दू धर्म में नारी की यह दुर्दशा मुस्लिम आक्रान्ताओं के आगमन के साथ क्रमशः बढ़ती ही गयी। रामचरितमानस के रचयिता युग-कवि तुलसीदास को भी कहना पड़ा कि 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'। हिन्दू धर्म का मध्ययुग का इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुपत्नीप्रथा और सतीप्रथा जैसी क्रूर और नृशंस प्रथाओं ने जन्म लेकर उसमें नारी के महत्त्व और मूल्य को प्रायः समाप्त ही

कर दिया था। वर्तमान समाज व्यवस्था में भी हिन्दू धर्म में नारी को पुरुष के समकक्ष गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है यह कहना कठिन है, यद्यपि नारी चेतना का पुनः जागरण हुआ है किन्तु यह भी भय है कि पश्चिम के अन्धानुकरण में वह कहीं गलत दिशा में मोड़ न ले ले।

हिन्दूधर्म में यद्यपि संन्यास की अवधारणा को स्थान मिला हुआ है और प्राचीनकाल से ही हिन्दू संन्यासिनियों के भी उल्लेख मिलने लगते हैं, फिर भी संन्यासिनियों के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में हिन्दूधर्मग्रन्थ प्रायः मौन ही हैं। हिन्दूधर्म में प्राचीनकाल से लेकर आज तक यत्र-तत्र किन्हीं संन्यासिनियों की उपस्थिति के उल्लेख को छोड़कर संन्यासिनियों का एक सुव्यवस्थित वर्ग बना हो ऐसा नहीं देखा जाता है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में विधवाओं, परित्यक्ताओं और अविवाहित स्त्रियों के लिए सम्मान-पूर्ण जीवन जीने के लिए कोई आश्रयस्थल नहीं बन सका और वे सदैव ही पुरुष के अत्याचारों और प्रताड़नाओं का शिकार बनीं। चाहे सिद्धान्तरूप में स्त्रियों के संदर्भ में हिन्दू धर्म में कुछ आदर्शवादी उद्घोष हमें मिल जाएँ, किन्तु व्यावहारिक जीवन में हिन्दू धर्म में स्त्रियाँ उपेक्षा का ही विषय बनी रहीं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि हिन्दू धर्म की अपेक्षा जैन धर्म में नारी की स्थिति और भूमिका दोनों ही अधिक महत्त्वपूर्ण रही। यों तो जैनधर्म हिन्दूधर्म के सहवर्ती धर्म के रूप में ही विकसित हुआ है और इसीलिए प्रत्येक काल में वह हिन्दूधर्म से प्रभावित रहा है। हिन्दूधर्म के नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण और उसके दुष्परिणामों का शिकार वह भी बना है। जिस प्रकार हिन्दूधर्म में वेद-ऋचाओं की निर्माता स्त्री को उनके अध्ययन से वंचित कर दिया गया, उसी प्रकार जैन धर्म में भी स्त्री के लिए न केवल दृष्टिवाद के अध्ययन को अपितु आगमों के अध्ययन को भी वर्जित मान लिया गया, यद्यपि प्राचीन आगम साहित्य में स्त्रियों के अंग आगम के अध्ययन के उल्लेख एवं निर्देश उपलब्ध हैं। यह सत्य है कि इस सम्बन्ध में जैनधर्म ने हिन्दूधर्म का अनुसरण ही किया। बृहत्तर हिन्दू समाज का एक अंग बने रहने के कारण जैनों के सामाजिक जीवन में स्त्रियों की स्थिति हिन्दूधर्म के समान ही रही है, फिर भी जैनधर्म की सामाजिक व्यवस्था में हिन्दूधर्म की भाँति बहुपत्नीप्रथा इतनी अधिक हावी नहीं हुई कि पुरुष की दृष्टि में स्त्री मात्र भोग्या बनकर रह गयी हो। इसके पीछे जैनधर्म का संन्यासमार्गीय दृष्टिकोण ही प्रमुख रहा है। दूसरे जैनधर्म में प्रारम्भ से लेकर आज तक भिक्षुणीसंघ की, जो एक सुदृढ़

व्यवस्था रही है, उसके कारण उसमें नारी विशेषरूप से विधवा, परित्यक्ता और कुमारियाँ पुरुष के अत्याचार और उत्पीड़न का शिकार नहीं बनीं। जैनधर्म का भिक्षुणी संघ ऐसी नारियों के लिए एक शरण-स्थल रहा और उसने उन्हें सम्मानपूर्ण और स्वावलम्बी जीवन जीना सीखाया। यही कारण था कि उसमें सतीप्रथा जैसी वीभत्स प्रथाएँ भी अपने जड़े नहीं जमा सकीं। जैनधर्म में वे स्त्रियाँ, जो सामाजिक क्षेत्र में पुरुष के अधीन होकर जीवन जीती थीं, भिक्षुणी बनकर पुरुषों के लिए वन्दनीय और मार्गदर्शक बन जाती थीं। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से निश्चय ही हम यह कह सकते हैं कि हिन्दूधर्म की तुलना में जैनधर्म में नारी की स्थिति बहुत कुछ सम्मानपूर्ण रही है।

(२) **बौद्धधर्म और जैनधर्म**—बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों ही श्रमण परम्परा के धर्म रहे हैं और दोनों में भिक्षुणी संस्था की उपस्थिति रही है, फिर भी नारी के प्रति जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म का दृष्टिकोण अधिक अनुदार रहा है। प्रथम तो भगवान् बुद्ध भिक्षुणी संघ की स्थापना के लिए सहमत ही नहीं हुए थे किन्तु जब अपनी क्षीरदायिका मौसी गौतमी और अन्तेवासी आनन्द ने किसी प्रकार अपने प्रभाव का उपयोग करके बुद्ध को सहमत करने का प्रयत्न किया तो बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना की स्वीकृति कुछ शर्तों के साथ प्रदान की। जबकि जैनधर्म में महावीर के पूर्व में भी पार्श्व का भिक्षुणी संघ सुव्यवस्थित ढंग से कार्यरत था और महावीर को भी इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ था। इस प्रकार जैनधर्म का भिक्षुणी संघ बौद्धधर्म के भिक्षुणी संघ से पूर्ववर्ती था। पुनः बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना के समय ही जिन अष्ट-गुरुधर्मों (अष्ट पुरुष की श्रेष्ठता सम्बन्धी नियमों) के पालन के लिए स्त्रियों को बाध्य किया, वे स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि बुद्ध की दृष्टि नारियों के प्रति अपेक्षाकृत अनुदार थी। इन अष्ट गुरुधर्मों के अनुसार भिक्षुणी संघ प्रत्येक क्षेत्र में भिक्षु संघ के अधीन था। चिर प्रव्रजिता और वयोवृद्ध भिक्षुणी के लिए सद्यः प्रव्रजित भिक्षु न केवल वन्दनीय था अपितु वह उनका अनुशास्ता भी हो सकता था। भिक्षुणी को उपदेश देने का अधिकार भी नहीं था। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि बौद्धधर्म के समान ही जैनधर्म में भी तो चिरकाल की दीक्षित एवं वयोवृद्ध भिक्षुणी के लिए सद्यः दीक्षित भिक्षु वन्दनीय होता है, किन्तु मेरी दृष्टि में जैनधर्म में यह नियम बौद्धधर्म के प्रभाव अथवा इस देश की पुरुष प्रधान संस्कृति के कारण कालांतर में ही आया होगा। प्राचीनतम आगम आचारांग भिक्षु-भिक्षुणी के नियमों

एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के निर्देश तो करता है, किन्तु कहीं यह उल्लेख नहीं करता है कि चिरप्रव्रजित भिक्षुणी सद्यः दीक्षित भिक्षु को वंदन करे। परवर्ती आगम में भी मात्र ज्येष्ठ-कल्प का उल्लेख है।

ज्येष्ठ-कल्प का तात्पर्य है कि कनिष्ठ अपने से प्रव्रज्या में ज्येष्ठ को वंदन करे। यह टीकाकारों की अपनी कल्पना है कि उन्होंने ज्येष्ठ कल्प को पुरुष-ज्येष्ठ-कल्प के रूप में व्याख्यायित किया। मूल-आगमों में ऐसी कोई भी व्यवस्था उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर जैनधर्म में स्त्री को पुरुष की अपेक्षा निम्न माना गया हो। आगमों में स्त्री को न केवल मोक्ष की अधिकारी बताया गया, अपितु उसे तीर्थंकर जैसे सर्वोच्च पद की भी अधिकारी घोषित किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा में मल्ली का स्त्री तीर्थंकर के रूप में उल्लेख है। अतः हम स्पष्ट रूप से यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म का दृष्टिकोण नारी के प्रति अधिक उदार था। बौद्धधर्म में नारी कभी भी बुद्ध नहीं बन सकती है, किन्तु जैनधर्म में चाहे अपवाद रूप में ही क्यों न हो, स्त्री तीर्थंकर हो सकती है। यद्यपि परवर्ती काल में जैनधर्म की दिगम्बर शाखा में, जो नारी को तीर्थंकरत्व एवं निर्वाण के अधिकार से वंचित किया गया था, वह उसके अचेलता पर अधिक बल देने के कारण हुआ था। चूँकि सामाजिक स्थिति के कारण नारी नग्न नहीं रह सकती थी अतः दिगम्बर परम्परा ने उसे निर्वाण और तीर्थंकरत्व के अयोग्य ही ठहरा दिया। किन्तु यह एक परवर्ती ही घटना है। ईसा की सातवीं शती के पूर्व जैन साहित्य में ऐसे उल्लेख नहीं मिलते हैं।

यद्यपि बौद्धधर्म में भिक्षुणी संघ अस्तित्व में आया और संघमित्रा जैसी भिक्षु णियों ने बौद्धधर्म के प्रसार में महत्त्वपूर्ण अवदान भी दिया किन्तु बौद्धधर्म का यह भिक्षुणी संघ चिरकाल तक अस्तित्व में नहीं रह सका। चाहे उसके कारण कुछ भी रहे हों। आज बौद्धधर्म विश्व के एक प्रमुख धर्म के रूप अपना अस्तित्व रखता है, किन्तु कुछ श्रामणेरियों को छोड़कर बौद्धधर्म में कहीं भी भिक्षुणी संघ की उपस्थिति नहीं देखी जाती है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना रही है। चाहे इसके मूल में भी बौद्धाचार्यों के मन में बुद्ध का यह भय ही काम कर रहा हो कि भिक्षु णियों की उपस्थिति से संघ चिरकाल तक जीवित नहीं रहेगा। जबकि जैनधर्म में आज भी सुसंगठित भिक्षुणी संघ उपस्थित है और भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षु णियों की संख्या तीन गुनी से अधिक है। यह बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचायक है।

(३) ईसाईधर्म और जैनधर्म—नारी के सम्बन्ध में ईसाईधर्म और और जैनधर्म का दृष्टिकोण बहुत कुछ समान है। तीर्थकरों की माताओं के समान ईसाईधर्म में यीशु की माता मरियम को भी पूजनीय माना गया है। साथ ही ईसाईधर्म में जैनधर्म की भांति ही भिक्षुणी संस्था की उपस्थिति रही है। आज भी ईसाईधर्म में न केवल भिक्षुणी संस्था सुव्यवस्थित रूप में अस्तित्व रखती है अपितु ईसाई भिक्षुणियां (Nuns) अपने ज्ञानदान और सेवाकार्य से समाज में अधिक आदरणीय और महत्त्वपूर्ण बनी हुई हैं। ईसाई धर्म संघ द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं, चिकित्सालयों और सेवाश्रमों में इन भिक्षुणियों की त्याग और सेवा-भावना अनेक व्यक्तियों के मन को मोह लेती है। यदि जैन समाज उनसे कुछ शिक्षा ले तो उसका भिक्षुणी संघ समाज के लिए अधिक लोकोपयोगी बन सकता है और नारी में निहित समर्पण और सेवा की भावना का सम्यक् उपयोग किया जा सकता है।

जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, निश्चय ही पाश्चात्य ईसाई समाज में नारी की पुरुष से समकक्षता की बात कही जाती है। यह भी सत्य है कि पाश्चात्य देशों में नारी भारतीय नारी की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है और अनेक क्षेत्रों में वह पुरुषों के समकक्ष खड़ी हुई है। किन्तु इन सबका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि वहाँ का पारिवारिक व सामाजिक जीवन टूटता हुआ दिखाई देता है। बढ़ते हुए तलाक और स्वच्छन्द यौनाचार ऐसे तत्त्व हैं जो ईसाई नारी की गरिमा को खण्डित करते हैं। जहाँ हिन्दूधर्म और जैनधर्म में विवाह सम्बन्ध को आज भी न केवल एक पवित्र सम्बन्ध माना गया है, अपितु एक आजीवन सम्बन्ध के रूप में देखा जाता है, वहाँ ईसाई समाज में आज विवाह यौन-वासनाओं की पूर्ति का माध्यम मात्र ही रह गया है। उसके पीछे रही हुई पवित्रता एवं आजीवन बन्धन की दृष्टि समाप्त हो रही है। यदि ईसाई धर्म अपने समाज को इस दोष से मुक्त कर सके तो सम्भवतः वह नारी की गरिमा प्रदान करने की दृष्टि से विश्व धर्मों में अधिक सार्थक सिद्ध हो सकता है।

(४) इस्लामधर्म और जैनधर्म—जहाँ तक इस्लामधर्म और जैनधर्म का सम्बन्ध है सर्वप्रथम हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों की प्रकृति भिन्न है। इस्लामधर्म में संन्यास की अवधारणा प्रायः अनुपस्थित है और इसलिए उसमें नारी को पुरुष के समकक्ष स्थान मिल पाना सम्भव ही नहीं है। उसमें अक्सर नारी को एक भोग्या के रूप में ही देखा गया है। बहुपत्नीप्रथा का खुला समर्थन भी इस्लाम में नारी की स्थिति को हीन

बनाता है। वहाँ न केवल पुरुष को बहुविवाह का अधिकार है अपितु उसे यह भी अधिकार है कि वह चाहे जब मात्र तीन बार तलाक कहकर विवाह बन्धन को तोड़ सकता है। फलतः उसमें नारी को अत्याचार व उत्पीड़न की शिकार बनाने की सम्भावनाएँ अधिक रही है। यह केवल हिन्दूधर्म व जैनधर्म की ही विशेषता है कि उसमें विवाह के बन्धन को आजीवन एक पवित्र बन्धन के रूप में स्वीकार किया जाता है और यह माना जाता है कि यह बन्धन तोड़ा नहीं जा सकता है। यद्यपि इस्लाम में नारी के सम्पत्ति के अधिकार को मान्य किया गया है, किन्तु व्यवहार में कभी भी नारी पुरुष की कैद एवं उत्पीड़न से मुक्त नहीं रह सकी। उसमें स्त्री पुरुष की वासनापूर्ति का साधन मात्र ही बनी रही। भारत में पर्दाप्रथा, सतीप्रथा जैसे कुप्रथाओं के पनपने के लिए इस्लामधर्म ही अधिक जिम्मेदार रहा है।

इस तुलनात्मक विवरण के आधार पर अन्त में हम यह कह सकते हैं कि विभिन्न धर्मों की अपेक्षा जैनधर्म का दृष्टिकोण नारी के प्रति अपेक्षाकृत अधिक व्यावहारिक एवं उदार है। यद्यपि इस सत्य को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है कि समसामयिक परिस्थितियों और सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव से जैनधर्म में भी नारी के मूल्य व महत्त्व का क्रमिक अवमूल्यन हुआ है। किन्तु उसमें उपस्थित भिक्षुणी संघ ने न केवल नारी को जो गरिमा प्रदान की, अपितु उसे सामाजिक उत्पीड़न और पुरुष के अत्याचारों को बचाया भी है। यही जैनधर्म की विशेषता है।

माघ शुक्ल पूर्णिमा
वि० संवत् २०४८

सागरमल जैन

निदेशक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
वाराणसी

प्रथम अध्याय

प्रागैतिहासिक काल की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ

मरुदेवी :

वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की माता और अन्तिम कुलकर नाभिराय की पत्नी का नाम मरुदेवी था। नाभिराय की राज्य व्यवस्था क्षीण होने पर उनको पत्नी मरुदेवी को कुक्षि में ऋषभदेव का जीवन सर्वार्थसिद्धि विमान से च्युत होकर अवतरित हुआ। गर्भावतरण के समय माता मरुदेवी ने शुभ स्वप्न देखे। तीर्थंकर अथवा महापुरुषों के गर्भावतरित होने पर उनकी माताओं को शुभ स्वप्न दिखाई देते हैं, ऐसी मान्यता है।^१ इसी मान्यता के अनुसार मरुदेवी ने भी वृषभ, गज, सिंह, लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पद्म-सरोवर, क्षीरसमुद्र, विमान, रत्नराशि और निर्धूमअग्नि इस तरह कुल चौदह स्वप्न देखे।^२ बालक के गर्भ में आने पर उसका प्रभाव माता के मानस पर तथा माता के मानस का प्रभाव उस गर्भ पर पड़ता है। यही कारण है कि किसी विशिष्ट जीव के गर्भ में आने पर माता श्रेष्ठ स्वप्न देखती है और वे सभी स्वप्न शुभ-फल के प्रतीक माने जाते हैं^३।

आवश्यक नियुक्ति के अनुसार ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने प्रथम स्वप्न में वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा^३, यद्यपि यह स्वप्न परम्परा से भिन्न था क्योंकि अन्य परवर्ती तीर्थंकरों की माताओं ने प्रथम स्वप्न में गज को मुख में प्रवेश करते हुए देखा था। विदुषी मरुदेवी अत्यन्त मृदुभाषी तथा सरल स्वभाव की थीं। स्वप्न दर्शन के पश्चात् वे नाभि राजा से मिलीं तथा अत्यन्त बोधगम्य शब्दों में स्वप्न

१. कल्पसूत्र (पुण्यविजयजी) पृ० (१४ दिगम्बर सम्प्रदाय में सोलह स्वप्न माने गये हैं)। महापुराण पर्व ११, श्लो० १०३-१२०, पृ० २५९-२६० (आचार्य जिनसेन) पद्मपुराण पर्व ३, श्लो० १२४-१३९, पृ० ४०-४१ (आचार्य रविषेण)

—स्वप्न का विस्तृत वर्णन परिशिष्ट में देखें।

२. त्रिषष्टिपर्व ४, सर्ग १, १६८। लोकप्रकाश, सर्ग ३०, श्लो० ५९, पृ० १९९
३. आवश्यकनियुक्ति मलय वृत्ति पृ० १६३-१

२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

वृत्तान्त को आद्योपान्त सुनाया^१। ऋषभदेव को जन्म देने तथा श्रमण-परम्परा को एक युग प्रवर्तक सौंपने का श्रेय माता मरुदेवी को ही है। मरुदेवी का चरित्र कौत्सुभ मणि के समान शुभ्र और उज्ज्वल था। उन्होंने एक ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया^२, जिसके कारण पुत्र के साथ ही उनका नाम भी स्मरणीय बन गया।

श्रीमद् भागवत में मरुदेवी तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभ-देव वातरशना श्रमणों के धर्म प्रवर्तक कहे गये हैं^३। उनके सुन्दर शरीर विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण राजा नाभि ने उनका नाम ऋषभ रखा। पुत्र की कई प्रकार की विशुद्ध बाल लोलाओं को देखकर माता अति प्रसन्न होती थीं। समय व्यतीत होने लगा और पुत्र ऋषभ ने यौवन में पदार्पण किया। माता-पिता ने पुत्र का विवाह सुमंगला तथा सुनन्दा से किया।^४

मरुदेवी उदार हृदया माता थीं। उनका हृदय वात्सल्य और मातृत्व से ओतप्रोत था। वे करुणा की साक्षात् देवी थीं, पुत्र-वियोग को सहन नहीं कर सकती थीं। ऋषभदेव के प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् वे उनके दर्शन की उत्कट अभिलाषा से अपने पौत्र भरत से बार-बार अनु-नय करती थीं। भरत के द्वारा तीर्थंकर की दिव्य विभूतियों का चित्र प्रस्तुत करने पर भी मरुदेवी को सन्तोष नहीं हुआ, अतः उनके आगमन पर वे भरत के साथ गजारूढ़ होकर दर्शनार्थ चल पड़ीं^५। ऋषभदेव शांत-

१. (क) आचार्य जिनसेन ने मत्स्ययुगल और सिंहासन यह दो स्वप्न बढ़ाकर सोलह स्वप्न बताये हैं।

(ख) महापुराण पर्व-१२, पृ० १०३

२. त्रिषष्टिशलाका पुरुष च.-पर्व १, सर्ग ४, पृ० १२४-१२५

३. श्रीमद्भागवत, ५।३।२०

उद, देवेन्द्र मुनि-ऋषभदेव एक परिशीलन-पृ० ६५

४. श्रीमद्भागवत-५।४।२, प्र० खं० गोरखपुर संस्कृत ३, पृ० ५५५

उद० देवेन्द्र मुनि-ऋषभदेव एक परिशीलन-पृ० ६५-७०

५. भगवती य माता भणति भरहस्स रज्जविभूति दट्ठणं-मम पुत्तो एवं चैव णग्गवो हिंडति। ताहे भरहो भगवतो विभूति वन्नेति, सा ण पतियति, ताहे गच्छंतेण भणिता-एहि जा ते भगवतो विभूति दरिसेमि, जदि एरिसिया ममं सहस्सभागेणवि अत्थि त्ति, ताहे हत्थिखंधेण पीति।

—आवश्यक चूर्णि जिनसेन, पृ० १८१

प्रागैतिहासिक काल की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : ३

गंभीर मुद्रा में समवसरण में विराजमान थे, उन्हें देखकर वे सोचने लगीं अहो ! वे तो संसार से विरक्त हो गये हैं। उनकी संसार-विरक्ति को देखकर मरुदेवी के भी मोहावरण दूर हो गये, वे आर्तध्यान से शुक्ल-ध्यान में लीन हुईं, जिससे ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा और समस्त कर्मों का क्षय होकर केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति हुई तथा अन्ततः वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गईं^१। दिगम्बर परम्परा में मरुदेवी को केवल्य प्राप्ति और मुक्ति की अवधारणाएँ स्वीकृत नहीं हैं।

सुमंगला^२ :

सुमंगला का पाणिग्रहण ऋषभदेव के साथ हुआ। ज्ञातव्य है कि ऋषभदेव और सुमंगला सहजात थे। ये यौगलिक परम्परा के अनुसार पति-पत्नी बने। सुमंगला ने पुत्र भरत सहित निन्यानवे पुत्रों तथा एक पुत्री ब्राह्मी को जन्म दिया।

सुमंगलाने भरत जैसे यशस्वी पुत्रको जन्म देकर भारतवर्षके प्रथम चक्रवर्ती सम्राट की माँ होनेका अनुपम गौरव अर्जित किया तथा लेखन-कला की जननी ब्राह्मीको जन्म देकर अपने सुजन्म को कृतार्थ किया। इतिहास आपका सदैव स्मरण करेगा।

सुनन्दा^३ :

नाभि कुलकरके युग तक यौगलिक परम्परा थी, जिसमें युवावस्थाको

१. (क) भगवतो य छतादिच्छत्तं पेच्छंतीए चैव केवलनाणं उप्पन्नं,
—आवश्यकचूर्णि, पृ० १८१
- (ख) तं समयं च णं आयु खुट्ठं सिद्धा, देवेहि य से पूया कता।
—आवश्यकचूर्णि, पृ० १८१
- (ग) अन्ने भणति-भगवओ धम्मकहासद्दं सुणेंतीउ, तवकालं च तीए खुट्ट-
माउयं ततो सिद्धा।

आवश्यक मलय० वृ० २२९

२. देखिए—आवश्यकनियुक्ति १९१, ३८३, ३९८, आवश्यकभाष्य ४; विशेषा-
वश्यकभाष्य १६०७, १६१२-३; समवायांग १५८, तीर्थोद्गालिक २९३,
आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) पृ० १९३; आवश्यकवृत्ति (हरिभद्रीय) पृ०
१२६; कल्पसूत्रवृत्ति पृ० ४४८
३. देखिए—आवश्यकचूर्णि १, पृ० १५२, आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि), पृ०
१९४, आवश्यकनियुक्ति १९१. विशेषावश्यकभाष्य १६०७, तीर्थोद्गालिक
२८३, कल्पसूत्रवृत्ति (विनयविजय) पृ० २३१

४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

प्राप्त भाई और बहन ही पति और पत्नी के रूपमें परिवर्तित हो जाया करते थे। सुनन्दाके युगल भाईकी अकाल मृत्यु हो जाने से उसका विवाह ऋषभदेवके साथ हुआ। इस प्रकार सर्वप्रथम ऋषभदेवने ही यौगलिक प्रथाके विपरीत विवाह परम्पराका सूत्रपात किया। गृहस्थ जीवन में रहते हुए सुनन्दाने पुत्र बाहुबली तथा पुत्री सुन्दरीको युगल रूपमें जन्म दिया। माताने महान् त्यागो पुत्र तथा तपस्याका प्रारंभ करनेवाली पुत्री सुन्दरीको पाकर अपने जीवनको धन्य बनाया।

यशस्वी, सुनन्दा :

आचार्य जिनसेनके (महापुराण) अनुसार कच्छ और महाकच्छकी बहिनों-यशस्वी और सुनन्दा का विवाह नाभि राजा ने अपने पुत्र ऋषभ से किया था।^१ स्मरण रहे कि जिनसेन ऋषभदेव की पत्नियों के रूप में इन दो सन्नारियों का उल्लेख करते हैं। इनमें सुनन्दा का नाम तो पूर्ववत् ही है किन्तु सुमंगला के स्थान पर उन्होंने यशस्वी नाम दिया है। जिनसेन ने यौगलिक प्रथा का अन्त दिखाने के लिए कथा में यह परिवर्तन किया है।

जयन्ती :

भागवत के अनुसार देवराज इन्द्र की विदुषी कन्या जयन्ती से ऋषभदेव ने विवाह किया था जिससे गृहस्थ धर्म का सूत्रपात हुआ। भागवत के अनुसार यौगलिक युग में गृहस्थ धर्म की व्यवस्था नहीं थी। अतः गृहस्थ जीवन के कई पहलुओं की शिक्षा का प्रारंभ हो सके इसलिये यह महिला भी नाभि कुल की पुत्रवधू बनी थी।^२

श्वेताम्बर ग्रन्थानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि भागवतकार ने सुनन्दा को जयन्ती नाम दिया हो। क्योंकि वह अरण्य में एकाकी प्राप्त हुई थी, तथा उसकी सौन्दर्य-सुषमा अत्यधिक होने के कारण वह वनदेवी के सदृश प्रतीत हो रही थी। उसके सौन्दर्य तथा सद्गुणों के कारण ही भागवतकार ने उसे इन्द्र की पुत्री समझा है।^३

१. आचार्य जिनसेन—महापुराण—१५।७० पृ० २३१

२. भागवत—५।४।८:५५७

३. (क) जिनदास—आवश्यकचूर्णि—पृ० १५२-१५३

(ख) देवेन्द्र मुनि शास्त्री—ऋषभदेव एक परिशीलन—पृ० ७३

यहाँ मूलभूत सिद्धान्त यह प्रतीत होता है कि विवाह संस्कार के साथ गृहस्थ जीवन का भी सूत्रपात हुआ और एक नये युग का प्रारंभ हुआ ।

ब्राह्मी :

माता सुमंगला तथा पिता ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी ने नई सामाजिक व्यवस्था के अनुसार बुद्धि तथा गुणों की प्रगति करने वाली चौंसठ कलाओं की शिक्षा ग्रहण की ।^१ ऋषभदेव ने तत्कालीन समाज को सुसंस्कृत बनाने के लिए पुरुषों को बहत्तर (७२) और महिलाओं को चौंसठ (६४) कलाओं की शिक्षा प्रदान की थी । पिता ऋषभदेव ने पुत्री ब्राह्मी को अट्ठारह लिपियों का अध्ययन भी कराया था ।^३

ऋषभदेव ने यौगलिक प्रथा को समाप्त कर विवाह प्रणाली का शुभारम्भ किया, तथा उसे पुष्ट और प्रामाणिक बनाने के लिए भरत की सहजात ब्राह्मी का विवाह बाहुबली से किया ।^५

यहाँ पर यह शंका उत्पन्न होती है कि ब्राह्मी और सुन्दरी को बाल ब्रह्मचारिणी माना गया है, फिर इनको विवाहित कैसे उल्लेखित किया गया ?^५ संभव है उस समय की लोक-व्यवस्थानुसार पहले दोनों का सम्बन्ध घोषित किया गया हो और फिर भोग-विरक्ति के कारण दोनों ने तीर्थंकर ऋषभदेव के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो ।

वास्तविकता कुछ भी रही हो पर इतना निश्चित है कि तीर्थंकर ऋषभदेव के केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उनके प्रथम प्रवचन से ही प्रतिबोधित होकर ब्राह्मी ने दीक्षा ग्रहण की थी ।^६ ऋषभदेव के धार्मिक

१. देखिए—विशेषावश्यकभाष्य १६१२-३, आवश्यकचूर्णि १, पृ० १५२, कल्पसूत्रवृत्ति पृ० २३१, आवश्यक पृ० २८, स्थानांग ४३५
२. कल्पसूत्र सु० टीका सूत्र—२११-प० ४४४, (चौंसठ कलाओं के लिए परिशिष्ट देखें) पृ० २९४
३. (क) आवश्यक नियुक्ति गाथा २१२
(ख) विशेषावश्यकभाष्य वृत्ति, १२२
४. आवश्यक मलयवृत्ति—पृ० २००
५. आचार्य जिनसेन ने ब्राह्मी के विवाह का वर्णन नहीं किया है । प्रज्ञाचक्षु प० मुखलालजी भी उन्हें अविवाहित ही मानते हैं ।
देवेन्द्र मुनि—ऋषभदेव एक परिशीलन—पृ० ७४
६. महापुराण २४-१७७ (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष प. १, स. ३

६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

संघ में (तीर्थ में), ब्राह्मी के नेतृत्व में तीन लाख साध्वियाँ तथा पाँच लाख चउपन हजार व्रतधारिणी श्राविकाएँ थीं। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।^१

जैन धर्म की प्रातःस्मरणीया सतियों में ब्राह्मी का स्थान पूजनीय है। इन्हीं के माध्यम से अट्ठारह लिपियों का ज्ञान समाज को प्राप्त हुआ। इस प्रथम साध्वी ने महिलाओं के लिये आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त किया।

सुन्दरी^२ :

पिता ऋषभदेव तथा माता सुनन्दा की पुत्री सुन्दरी अत्यंत गुणवान् तथा रूपवान् कन्या थी। बाहुबली इनके सहोदर बन्धु थे। पिता श्री ने यौगलिक प्रथा का खण्डन करते हुए सुन्दरी का पाणिग्रहण भरत के साथ करवाया।^३ सम्राट ऋषभदेव ने सुन्दरी को सर्वप्रथम गणित विद्या का ज्ञान कराया, जिसके अन्तर्गत व्यवहार साधन हेतु मान (माप), उन्मान (तोला, मासा), अवमान (गज, फुट, इंच) व प्रतिमान (छटांक, सेर, मन) आदि के ज्ञान देने की शुरुआत की तथा मणि आदि पिरोंने की कला भी बताई।^४ इन्होंने ऋषभदेव द्वारा प्रारंभ की हुई चौंसठ कलाओं की शिक्षा ग्रहण कर विशेष योग्यता प्राप्त की। ज्ञान की वृद्धि तथा त्याग के प्रत्यक्ष प्रमाण के फलस्वरूप सुन्दरी को भी सांसारिक सुखों की नश्वरता का अनुभव हो चुका था और इसलिये वे भी दीक्षित होकर आत्मकल्याण करना चाहती थीं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार सुन्दरी ने भगवान् ऋषभदेव के प्रथम प्रवचन से ही प्रतिबोध पाकर ब्राह्मी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भरत की आज्ञा प्राप्त न होने से वह श्राविका बनीं।^५ भरत का विचार था कि “चक्ररत्न से षट्खण्ड पृथ्वी को जीत कर सुन्दरी को स्त्री-रत्न की पदवी दी जाये^६।

१. कल्पसूत्र १६७ सू.

२. भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) ५५३, स्थानांगवृत्ति पृ० ५२३, कल्पसूत्रवृत्ति पृ० ३८

३. आवश्यक मलय-वृत्ति—पृ० २००

४. आवश्यकनियुक्ति गा० २१३

५. महापुराण २४।१७६

६. (क) सुन्दरी पद्मयन्ती भरहेण इत्थीरयणं भविस्सइति निरुद्धा साविया जाया—
—आवश्यक वृत्ति—(मलयगिरि), पृ० २२९

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—पृ० ४८

सुन्दरी ने प्रभु से जब यह सुना कि स्त्री-रत्न का गौरव प्राप्त करने वाली नारी नरकगामिनी होती है, तब सुन्दरी के अन्तर्मन में वैराग्य की प्रबल भावना जागृत हुई और उसने आर्यबिल की तपस्या करना शुरू कर दिया।^१ पिता ऋषभदेव व बहन ब्राह्मी का त्यागमय जीवन उसका आदर्श बन चुका था। उसने सोचा कि राजा भरत मेरे रूप सौन्दर्य पर मुग्ध होकर मुझे अपनी रानी बनाना चाहते हैं, तो मैं इस क्षणिक रूप को ही क्यों न बदल दूँ (नष्ट कर दूँ)? ऐसा सोचकर उसने कठोर व्रत करना शुरू किया। षट्खण्ड पर आधिपत्य स्थापित कर विजय पताका लहराते हुए सम्राट भरत जब “विनीता” (राजधानी) लौटे तब सुन्दरी के कृश शरीर को देखकर चकित रह गये।^२

राजमहलोंमें रहते हुए भी सुन्दरीके संयम, आर्यबिल व्रतकी साधना तथा दीक्षा ग्रहण करनेकी दृढ़ भावनाको जानकर सम्राट भरतने दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दे दी साथ ही पूरे राजश्री ठाठसे दीक्षाका आयोजन किया। अन्तमें ऋषभदेवकी प्रथम शिष्य ब्राह्मीके पास जाकर सुन्दरीने भगवती दीक्षा ग्रहण की।

सम्राट भरतके अन्य भाइयोंने राज्य त्यागकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली, बाहुबलीने भी सम्राट भरतकी अधीनता अस्वीकार करते हुए प्रव्रज्या अंगीकार की। एक वर्ष तक तपस्या करनेके पश्चात् भी बाहुबलीके मनका कषाय भाव (लघु भ्रताओं को नमन करने का अहम्) दूर नहीं हुआ था। अतः तीर्थंकर ऋषभदेवने बाहुबलीमें अन्तर्ज्योति जगानेके लिए ब्राह्मी और सुन्दरीको प्रेषित किया। भगिनीद्वय ने बाहुबलीको नमन किया और कहा, “हस्तीपर आरूढ़ व्यक्तिको कभी भी केवलज्ञान की उपलब्धि नहीं होती” अतः नीचे उतरो।^३ इस शब्दने बाहुबलीके कर्णयुगलको उद्वेलित किया, उसके चिन्तनका प्रवाह बदला, मानरूपी हाथीका अभिप्राय समझ कर उसे ज्ञान प्राप्त हुआ और विनीत भावसे प्रव्रजित भाइयों के पास जाने का निश्चय किया।

विजयादेवी^४ :

द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथकी माता तथा विनीता नगरीके महाराजा

१. कल्पसूत्र पृ० १२४

२. आवश्यक चूणि पृ० २०९

३. आवश्यक चूणि—पृ० २१०-२११

४. समवायांग, १५७, तित्थोगालिय (हस्तप्रत मुनि पुण्य विजय) ४६५, आवश्यक नियुक्ति ३८२, ३८७।

८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

जितशत्रुकी धर्मपरायण महारानीका नाम विजयादेवी था महारानी विजयादेवीने गर्भ धारणकी रात्रि में शुभ कल्याणकारी चौदह स्वप्न देखे।^१ ये स्वप्न शुभ के संकेतक होते हैं, जिनसे माता को पूर्वानुमान होता है कि मेरे गर्भ में जो जीव है वह समाज को धर्मनीति की ओर ले जाने वाला होगा। गर्भकाल पूर्ण होने पर विजया माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्नको जन्म दिया। इस पुत्र के गर्भावतरण के समय से ही राजा जितशत्रु की शक्ति बढ़ गई और उसे कोई भी राजा पराजित न कर सका, इसलिये माता-पिता ने पुत्र का नाम अजितकुमार रखा। युवावस्था प्राप्त होने पर माता-पिता ने योग्य कन्याओं के साथ पुत्र का पाणिग्रहण संस्कार किया।

जैन आगमों में तीर्थंकर अजितनाथ की विवाहित पत्नियों के नामों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यह माना जा सकता है कि जैन इतिहासकार तीर्थंकरों के व्यक्तित्व को उभारने में उनकी पत्नियों के नामों के साथ उचित न्याय नहीं कर सके हैं। यह भी सम्भावना हो सकती है कि उनकी पत्नियों के नाम अवश्य ही कहीं न कहीं उल्लिखित होंगे जो कि लिपिबद्ध नहीं हो सके अथवा उस युग में ऐसे महान् व्यक्ति की पत्नियों के नामों का नामांकन करने की सार्वजनिक परम्परा नहीं रही हो। तीर्थंकर अजितनाथ को केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर माता विजया भी अपने सब घातिकर्मों का क्षय करके सिद्ध गति को प्राप्त हुई।

सेना देवी :^२

तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ की माता बनने का सौभाग्य सेनादेवी को प्राप्त हुआ था^३। शुभ गर्भ धारण के समय माता सेनादेवी ने चौदह शुभ स्वप्न देखे। उनका फल जानने के लिये ये अपने पति महाराजा जितारि के समीप गईं। पति के शुभ स्वप्न फल बताने पर वे आनन्दित हो गर्भ पालन करने लगीं। कालांतर में गर्भविधि पूर्ण होने पर एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया जिसका परम्परानुसार जन्म, विवाह, दीक्षा आदि (पाँच) कल्याणक देवी पुरुषों तथा देवांगनाओं द्वारा किया गया। कालान्तर में तीर्थंकर संभवनाथ ने दीक्षित होकर केवल ज्ञान प्राप्त किया और

१. समवायांग १५७, तित्थोगालिय ४६६।

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-पर्व २, सर्ग ६, श्लोक ६६५-६७३

३. वही, पर्व ३, सर्ग १, पृ० ७

धर्मसंघ की स्थापना की। माता ने भी दीक्षित हो आत्म कल्याण किया तथा सिद्ध गति को प्राप्त हुई।

सिद्धार्थ :

चौथे तीर्थंकर अभिनन्दन की माता तथा अयोध्या के महाराजा संवर की धर्मपरायणा महारानी का नाम सिद्धार्थ था। महारानी सिद्धार्थ ने गर्भ धारण किया और परम्परानुसार उस रात्रि को चौदह मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माता सिद्धार्थ ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।^१ परम्परानुसार देव-देवांगनाओं ने उत्सव का आयोजन किया। माता-पिता ने वयस्क होने के पश्चात् कई योग्य कन्याओं के साथ इनका विवाह किया। कालान्तर में पुत्र के दीक्षित हो केवल ज्ञान प्राप्त होने पर उन्होंने भी दीक्षा ग्रहण की तथा सिद्धगति प्राप्त की।^२

मंगला^३ :

अयोध्यापति महाराजा मेघ की महारानी मंगला थीं। ये पंचम तीर्थंकर सुमतिनाथ की माता थीं। गर्भ धारण के साथ ही रानी ने मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखे। सुमतिनाथ की माता मंगला न्यायप्रिय एवं विदुषी महिला थीं। सत्य तथा न्यायोचित निर्णय देने में प्रवीण थीं। माँ की ममत्व भावना एवं स्त्री स्वभाव की वह पारखी थीं। इसका उदाहरण नीचे दी हुई एक कथा से मिलता है।

किसी समय राजा मेघ को चिन्तित देख कर रानी मंगला ने उसका कारण जानना चाहा। राजा ने राज्यसभा में आई हुई एक शिशु की दो माताओं की चर्चा करते हुए कहा, “बालक की कौन-सी स्त्री सच्ची माता है” इसका निर्णय नहीं कर पाया हूँ और इसी कारण मैं सोच में पड़ा हूँ कि कैसे पता लगाया जाये कि कौन बालक की असली माँ है। रानी ने नम्र शब्दों में स्वयं निर्णय देने का सुझाव रखा और राज्य सभा

१. समवायांग, १५७, आवश्यक निर्णुक्ति ३८२-७

नन्दीमूत्र वृत्ति (मलयगिरि) पृ० १५८, तीर्थोद्गालिक ४६८

२. आ० हस्तीमलजो-जैनधर्म का मौलिक इतिहास-भाग १, पृ० ५९८

३. हेमचन्द्राचार्य रचित-त्रिषष्टिशलाकापुरुष-पर्व ३, सर्ग २, पृ० २३
(गुजराती अनुवाद)

१० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

में जाकर मातृ-हृदय-पारखी रानी ने सत्य न्याय दिया^१। इस प्रकार रानी ने इस विकट समस्या का समाधान अपनी सदबुद्धि से कर दिया^२। समयानुसार उन्होंने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। कालान्तर में पुत्र का विवाह कई योग्य कन्याओं के साथ हुआ। पुत्र के दीक्षित होने के पश्चात् माता ने भी दीक्षित हो कर्मों का क्षय करके सिद्ध गति प्राप्त की^३।

सुसीमा :४

आप तीर्थंकर पद्मप्रभु की कोमल हृदया माता तथा कौशाम्बी नगरी के महाराज धर की धर्मपरायणा पत्नी थीं। आपने गर्भ धारण करने के पश्चात् शुभ मंगलकारी चौदह स्वप्न देखे। गर्भकाल में इन्हें पद्म (कमल) की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न हुआ था, जो राजा द्वारा पूर्ण किया गया^५। माता ने उचित समय पर सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। बाल्यकाल पूर्ण होने पर माता-पिता ने योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया। पुत्र के दीक्षित होने के पश्चात् माता सुसीमा ने भी धर्म ध्यान में अपने जीवन को सार्थक किया और अन्त में कर्मों का क्षय कर सिद्ध गति प्राप्त की।

पृथ्वी :^६

जैन परम्परा के सातवें तीर्थंकर सुपाश्र्वनाथ की माता पृथ्वी वाराणसी के महाराजा प्रतिष्ठसेन की पत्नी थीं। महारानी पृथ्वी ने गर्भ धारण करते समय मंगलकारी चौदह स्वप्न देखे^७। विधिपूर्वक गर्भकाल पूर्ण होने पर माता ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। योग्य वय होने पर माता-पिता ने योग्य कन्याओं के साथ सुपाश्र्वकुमार का विवाह किया। कालान्तर में राज्य सुख भोगकर पुत्र ने दीक्षा अंगीकार की। माता ने भी

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-पर्व ३, सर्ग, ३, पृ० ३५, ३७

२. आवश्यकचूर्णि-पूर्व भाग, पृ० १०

३. आ० हस्तीमलजी-जैनधर्म का मौलिक इतिहास पृ० ५९८

४. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४६९

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पृ० ८३ —पर्व ३, सर्ग ४, पृ० ४३

६. तीर्थोद्गालिक ४७०, समवायांग १५७, तथा आवश्यकनिर्मुक्ति ३८५

७. आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास पृ० ५६९

प्रागैतिहासिक काल की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : ११

संसार त्याग कर, शुभ भावना रखते हुए सिद्ध गति प्राप्त की^१ :

लक्ष्मणा^२ :

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की माता तथा चन्द्रपुर के राजा महासेन की रानी का नाम लक्ष्मणा था। गर्भ धारण करने के पश्चात् रानी ने मंगल-कारी शुभ स्वप्न देखे। सुखपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर माता ने चन्द्रप्रभ को जन्म दिया। बालक जब गर्भ में था तब माता को चन्द्रपान (चाँदनी रात में विचरण) करने की इच्छा हुई थी इसलिये पुत्र का नाम चन्द्रप्रभ रखा^३। युवावस्था होने पर माता-पिता ने पुत्र का विवाह उत्तम राज कन्याओं से किया। राज्य करने के पश्चात् चन्द्रप्रभ ने दीक्षित होकर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। माता लक्ष्मणा ने भी कर्म क्षय कर सिद्ध गति प्राप्त की।

रामादेवी^४ :

नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ की माता रामादेवी काकन्दी नगरी के राजा सुग्रीव की सर्वगुणसंपन्ना महारानी थीं। गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ। अतः पुत्र का नाम पुष्पदन्त रखा गया^५। युवावस्था में पुष्पदन्त का विवाह कई योग्य कुमारियों के साथ हुआ। तत्पश्चात् उसने राज्य का त्याग किया और दीक्षित होकर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। माता रामादेवी भी सांसारिक सुखों का त्याग करके तृतीय सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न हुई^६।

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-पर्व ३, सर्ग ५, पृ० ५३

२. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४७१, तथा आवश्यक नि० ३८३

३. (क) गर्भस्थेऽस्मिन् मातुरासीच्चन्द्रपानाय दोहदः

चन्द्राभश्चैष इत्याह्, च्चन्द्रप्रभममुं पिता ।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुष च. ३।६।४९

(ख) चउपनमहापुरुषचरित्र, पृ० ८८

४. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४७२, स्थानांग (अभयदेव) पृ० ३०८

५. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व ३, सर्ग ७, पृ० ४९-५०

(ख) उत्तरपुराण में जपरामा नाम का उल्लेख है।

६. आ० हस्तीमलजी

—जैनधर्म का मौलिक इतिहास पृ० ५९८

नन्दा^१ :

आप दसवें तीर्थंकर शीतलनाथ की माता तथा भद्रिलपुर नगर के महाराजा दृढरथ की सर्वगुणसंपन्ना रानी थीं। आपने मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखे और स्वप्नों का शुभ फल जानकर हर्षित होते हुए संयम पूर्वक गर्भ का पालन किया। उसी समय राजा दृढरथ का शरीर दाह-ज्वर से पीड़ित था। संयोगवश एक दिन रानी नन्दा के कर स्पर्श मात्र से वह वेदना शान्त हो गई। अतः बालक का नाम शीतलनाथ रखा गया। यौवन वय होने पर शीतलनाथ का पाणिग्रहण योग्य कन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ। वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् आपने संसार त्याग कर प्रव्रज्या ली तथा केवल-ज्ञान प्राप्त किया। माता नन्दा ने भी धर्म की आराधना करते हुए तृतीय सनत्कुमार देवलोक में प्रयाण किया^२।

विष्णुदेवी^३ :

विष्णुदेवी ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ की माता तथा भारत-वर्ष के सिंहपुरी नगरी के अधिनायक महाराज विष्णु की सदगुणधरिणी तथा धर्मपरायणा रानी थी। श्रेयांसनाथ का जीव विष्णुदेवीके गर्भ में आने पर उन्होंने परम्परानुसार चौदह शुभ स्वप्न देखा। गर्भकाल पूर्ण होने पर माता ने कल्याणकारी पुत्र को जन्म दिया^४। यौवन वय में सर्वगुण संपन्न कई कन्याओं से पुत्र का पाणिग्रहण करवाया। वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् श्रेयांस राजा ने दीक्षा ग्रहण की और केवल-ज्ञान प्राप्त किया। माता विष्णुदेवी कर्मों का क्षय करके तृतीय सनत्कुमार देवलोक में गई।

१. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४७३, स्थानांग (अभयदेव) पृ० ३०८

२. वही, —भाग १, पृ० ५९८

(ख) राजः सन्तप्तमप्यंगं, नन्दास्पर्शेन शीत्यभूत् ।

गर्भस्थेऽस्मिन्निति तस्य, नाम शीतल इत्यभूत् ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुष, प० ३, स० ८, पृ० ४७

३. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४७४, आवश्यक नियुक्ति ३८३, ३८८

४. जिनस्य मातापितरादुत्सवेन महीयसा ।

अभिधां श्रेयसि दिने, श्रेयांस इति चक्रतुः ॥

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, ४-१-८६

जयादेवी^२ :

जयादेवी की बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की माता तथा प्रसिद्ध चम्पानगरी के राजा वसुपूज्य की धर्मपरायणा रानी थीं। पूर्व भव के पद्मोत्तर राजा का जीव तीर्थंकर नाम कर्म का उपाजर्जन कर प्राणांत स्वर्ग से निकल कर जयादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप में अवतरित हुआ। उन्होंने शुभ मंगलकारी चौदह स्वप्न देखे। तदुपरान्त उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण किया और शुभ मुहूर्त पर सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। महाराजा वसुपूज्य का पुत्र होने के कारण बालक का नाम वासुपूज्य रखा गया। भोग कर्म का बंध नहीं होने से माता-पिता के कहने पर भी कुमार वासुपूज्य ने विवाह नहीं किया। अतः दीक्षित हो केवल-ज्ञान प्राप्त कर तीर्थ की स्थापना की^३। माता जयादेवी धर्म की आराधना करती हुई कर्मों का क्षय करके तृतीय सनत्कुमार देवलोक में गई।

श्यामा^३ :

श्यामा तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ की माता थी। महापुरी नगरी के धर्मप्रेमी राजा पद्मसेन ने राज्य करने के बाद दीक्षा ग्रहण की और साधना तथा तप द्वारा तीर्थंकर नामकर्म उपाजर्जन किया। यही जीव देवलोक में आयुष्य पूर्ण कर कृतवर्मा राजा की सुलक्षणा पत्नी श्यामा की कुक्षि में अवतरित हुआ। रानी श्यामा ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ^४। यौवन प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियों से विवाह हुआ। कई वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की। अन्त में कर्मों का क्षय कर कैवल्य-प्राप्त किया। माता भी धर्मध्यान पूर्वक जीवन व्यतीत कर मरणोपरान्त तृतीय सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न हुई।

१. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४७५

२. आ० हेमचन्द्राचार्य—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—पर्व ४, सर्ग २
—उत्पन्नमहापुरिसचरियं में विवाह तथा कुछ काल राज्य पालन का उल्लेख है।

—आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० १००

३. समवायांग, १५७ तीर्थोद्गालिक ४७६

४. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—पर्व ५, सर्ग ३, पृ० ४८

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—पृ० १०२

सुयशा^१ :

सुयशा चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ की माता थी। पयरथ नाम के न्यायप्रिय धर्मात्मा राजा ने दीक्षा ग्रहण की तथा साधना करते हुए तीर्थंकर शुभ नाम कर्म का उपार्जन किया। यही जीव प्राणांत देवलोक से च्युत होकर राजा सिंहसेन की रानी सुयशा की कुक्षि में आया। महारानी ने चौदह स्वप्न देखे। भगवान् के जन्म होने पर इन्द्र ने जन्मोत्सव किया। रानी के गर्भकाल के समय राजा ने अपार शत्रु-सैन्य पर विजय प्राप्त की थी अतः कुमार नाम अनन्तनाथ रखा गया^२। युवावस्था होने पर विवाह तथा राज्यभार संभालने के बाद भगवान् ने दीक्षा ग्रहण की और तीन वर्ष तक छद्मस्थ रहने के पश्चात् भगवान् को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ तथा हजार साधुओं के साथ भगवान् ने निर्वाण प्राप्त किया। माता सुयशा मृत्यु के पश्चात् तृतीय सनत्कुमार देवलोक में गई।

सुव्रता^३ :

पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की माता तथा रत्नपुर के महोपप्रतापी महाराजा भानु की रानी का नाम सुव्रता था। पूर्वभव में दृढरथ राजा ने न्यायपूर्वक राज्य करने के बाद दीक्षा ग्रहण की तथा कठोर साधना कर तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया। यही जीव रानी सुव्रत के गर्भ में अवतरित हुआ। माता ने चौदह स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माता ने एक पुण्यवान् पुत्र को जन्म दिया। इन्द्र ने जन्माभिषेक किया। जब भगवान् गर्भ में थे तब माता को धर्म ध्यान करने की प्रबल इच्छा हुई थी इसलिये बालक का नाम धर्मकुमार रखा गया^४। बाल्यकाल व्यतीत होने पर यौवन वय में विवाह हुआ तथा राज्य का कर्तव्य निभाकर दीक्षा ग्रहण की। दो वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहने

१. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४७७

२. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष—४-४-४७
(ख) चउपन्नमहापुरिसचरियं—पृ० १२९

३. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४७८

४. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष—पर्व ४, सर्ग ५, पृ० ४९
(ख) आवश्यकचूणि, पूर्व भाग, पृ० ११

के बाद भगवान् को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। माता सुव्रता भी कर्मों का क्षय कर तृतीय सनत्कुमार देवलोक में गई।

अचिरादेवी^१ :

अचिरादेवी सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ की माता तथा हस्तिनापुर के महाराजा विश्वसेन की महारानी थी। पूर्वभव के मेघरथ का जीव माता अचिरादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने मंगलकारी चौदह स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माता ने कांचनवर्णीय पुत्र-रत्न को जन्म दिया। जन्म से कुछ समय पूर्व से ही हस्तिनापुर नगर एवं राज्य में महामारी का रोग फैला हुआ था। माता अचिरादेवी भी इस रोग के प्रसार से चिन्तित थी। पुत्र के गर्भ में आने के पश्चात् इस महामारी का भयंकर प्रकोप शान्त हो गया अतः पुत्र का नाम शान्तिनाथ रखा गया^१। यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक कन्याओं के साथ इनका विवाह हुआ। कुछ वर्ष राज्य करने के पश्चात् उन्होंने दीक्षित होकर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। माता अचिरादेवी भी अपने कर्मों का क्षय कर तृतीय सनत्कुमार देवलोक में गई।

श्रीदेवी^२ :

सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ की माता श्रीदेवी हस्तिनापुर के राजा सूर की धर्मपत्नी थी। पूर्वभव के सिंहावह राजा ने दीक्षित हो, उच्च कोटि का तप तथा बीस स्थानक की आराधना करके तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। वही जीव माता के गर्भ में अवतरित हुआ। उसी रात्रि के पिछले प्रहर में महारानी श्रीदेवी ने सर्वोत्कृष्ट महान् पुरुष के जन्म-सूचक चौदह परम-मंगलदायक शुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माता ने सुख-पूर्वक पुत्र को जन्म दिया। देवताओं सहित इन्द्र ने आकर माता को प्रणाम किया तथा जन्मोत्सव मनाया। गर्भ काल में माता कुन्थु नामक रत्नों की राशि देखी थी अतः बालक का नाम कुन्थुनाथ रखा। माता-पिता ने बाल्यकाल पूर्ण होने पर युवा राजपुत्र का कई योग्य राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण करवाया। चक्ररत्न उत्पन्न होने पर कुन्थुनाथ षट्खण्ड पृथ्वी

१. समवायांग १५७, १५८, तीर्थोद्गालिक ४७९, आवश्यक निर्युक्ति ३९८
२. चउपन्नमहापुरिषचरियँ—पृ० १५०
३. समवायांग १५७-८, तीर्थोद्गालिक ४८०, आवश्यक (षड्वावश्यक) पृ० २८, उत्तराध्ययनवृत्ति, पृ० २३२, आवश्यक निर्युक्ति ३८३, ३९८।

१६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

को जीतकर चक्रवर्ती हुए^१ तथा श्रीदेवी को चक्रवर्ती की माता होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कर्मों के क्षीण होने पर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की तथा केवल—ज्ञान प्राप्त कर तीर्थस्थापन किया। माता ने भी धर्मध्यान करते हुए कर्मों का क्षय किया तथा मृत्यु के बाद चौथे महेन्द्र देवलोक में देव योनि को प्राप्त किया।^२

महादेवी^३ :

अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ की माता महादेवी हस्तिनापुर के महाराजा सुदर्शन की सुलक्षणा रानी थीं। पूर्वभव में सुसीमा नगरी के राजा धनपति राज्य संचालन करते हुए भी जैन धर्म का हृदय से पालन करते थे। संवर आचार्य के उपदेश से वैराग्य उत्पन्न हुआ। दीक्षा धारण कर कठोर तप करने लगे तथा फलस्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन किया। यही जीव माता महादेवी के कुक्षि में अवतरित हुआ। गर्भकाल के समय माता ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भ पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को भगवान् का जन्म हुआ। गर्भकाल में माता ने आरा चक्र देखा था। अतः बालक का नाम अरनाथ रखा गया। युवावस्था में विवाह हुआ तथा कई वर्षों तक राज्य करने के बाद चक्ररत्न उत्पन्न हुआ तथा चक्रवर्ती पद पर अधिष्ठित हुए। कई वर्षों तक राज्य करने के बाद संसार की असारता का विचार करते हुए वैराग्य उत्पन्न हुआ तथा दीक्षा ग्रहण की। तीन वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में विचरने के बाद भगवान् को केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। भगवान् ने तीर्थ की स्थापना की। माता महादेवी को धर्म का पालन तथा कर्मों का क्षय करने से चौथे महेन्द्र देवलोक में देवयोनि की प्राप्ति हुई।^४

प्रभावती^५ :

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ की माता तथा मिथिला के महाराजा

१. (क) हेमचन्द्राचार्य—त्रिषष्टिशलाकापुरुष-पर्व ६, सर्ग १,
(ख) आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास-भाग १, पृ० ११८
२. (क) हेमचन्द्राचार्य—त्रिषष्टिशलाकापुरुष-पर्व ६, सर्ग १
(ख) आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास-भाग १, पृ० ५९८
३. देवी, समवायांग, १५७-८, तीर्थोद्गालिक ४८१, आवश्यक नि० ३९८
४. (क) हेमचन्द्राचार्य—त्रिषष्टिशलाकापुरुष-पर्व ३, सर्ग १
(ख) आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास-भाग १, पृ० ११८
५. समवायांग, १५७, तीर्थोद्गालिक ४८२. स्थानांग (अभयदेव) पृ० ४०१, ज्ञाताधर्मकथा, ६५

कुम्भ की रानी का नाम प्रभावती था। पूर्वभव के महाराजा महाबल का जीव तीर्थंकर गोत्र बाँधकर अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी प्रभावती की कुक्षि में गर्भ-रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने चौदह शुभ स्वप्न देखे। तीन मास बीतने पर प्रभावती को दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माताएँ धन्य हैं जो पंचवर्ण-पुष्पों की शय्या^१ में शयन करती हैं तथा विचरती हैं। अपनी रानी के इस प्रकार के दोहद को राजा कुम्भ ने प्रसन्नता से पूर्ण किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर उन्होंने सुखपूर्वक उन्नीसवें तीर्थंकर को पुत्री रूप में जन्म दिया। पुष्पशय्या पर सोने का दोहद होने के कारण पिता ने “मल्ली” नाम रखा। विशिष्ट ज्ञान की धारिका होने से लोग “मल्ली भगवती” भी कहते थे। मल्लीनाथ को केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर माता भी धर्मध्यान में लीन रही और चौथे माहेन्द्र देवलोक में उत्पन्न हुई।

मल्लिनाथ^२ :

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ ने महिला योनि में ही केवल-ज्ञान तथा मोक्ष को प्राप्त किया जिसका विवरण निम्न है :—

पूर्वभव में मल्लिकुमारी का जीव वीतशोका नगरी में महाबल नाम के राजा के रूप में था। धर्मघोष मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर उसने अपने अनन्य छः मित्रों के साथ दोक्षा ग्रहण की।^३ दीक्षित होने के पश्चात् सातों मित्र तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। एक समय सबने मिलकर यह संकल्प किया कि हम सब एक ही प्रकार की तपस्या करेंगे, ताकि हम सबका साथ आगे के जीवन में भी इसी प्रकार बना रहे।^४ अन्त में नियमानुसार सब ने एक-सी तपस्या प्रारम्भ कर दी। पर महाबल मुनि ने सबसे ज्येष्ठ बने रहने की लालसा से अधिक तप किया। फलतः अन्य साधु जब पारणा करते, तब वे अपनी तपस्या को आगे बढ़ा देते और उस दिन पारणा नहीं करते। इस प्रकार छद्म (कपट)

१. आ० आनन्द ऋषिजी—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र-अध्याय ८, पृ० ६५

२. समवायांग, १५७, ज्ञाताधर्मकथा ६४-७८; स्थानांग २२९, आवश्यकनियुक्ति २२१-२२६, तीर्थोद्गालिक १९३

३. (क)—वही पृ० २३७ (हिन्दी अनुवाद)

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष—पर्व ६, सर्ग ६ (गुजराती अनुवाद)

४. अ० भि० २१

१८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

पूर्वक तप करने से उन्होंने स्त्री वेद का बंध किया। इसी प्रकार बीस स्थानों की आराधना करने से तोर्थकर नाम गोत्र का भी उपाजन किया।^१ तोर्थकर नाम गोत्र के लिये निम्न बीस प्रकार की आराधना आवश्यक मानी गई है :—

१-२. अरिहंत तथा सिद्ध की भक्ति, ३. प्रवचन, ४. गुरु, ५. स्थविर, ६. बहुश्रुत, ७. तपस्वीमुनि की भक्ति-सेवा करना, ८. निरन्तर विवेक में उपयोग रखना, ९. निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करना, १०. गुणवानों का विनय करना, ११. विधिपूर्वक षडावश्यक का पालन करना, १२. शीलव्रत का निर्दोष पालन करना, १३. वैराग्यभाव की वृद्धि करना, १४. शक्तिपूर्वक तप और त्याग करना, १५. त्यागी मुनियों को उचित दान देना, १६. वैयावृत्य करना, १७. समाधिस्थ गुरु को साता पहुँचाना, १८. वीतराग के वचनों पर श्रद्धा करना, १९. सुपात्र को दान करना, और २०. जिन शासन की प्रभावना करना।

लघुसिंह क्रीडित तथा महार्सिह क्रीडित आदि घोर तपस्या तथा वर्षों तक संयम का पालन करते हुए उक्त सातों मुनियों ने अनशनपूर्वक समाधिमरण लिया।

यही महाबल का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर मिथिला के महाराजा कुम्भ की महारानी प्रभावती की कुक्षि में अवतरित हुआ। माता प्रभावती ने शुभ योग में पुत्री को जन्म दिया जिसका नाम मल्लि रखा गया। कालान्तर में मल्लिकुमारी बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था में प्रविष्ट हुई। उसके रूप-लावण्य और गुणादि की उत्कृष्टता सर्वत्र फ़ैलने लगी। मल्लिकुमारी ने अवधि ज्ञान से उन छः मित्रों का जीवन देखा और उनके जीवन के कल्याण के लिये उन्हें भी प्रतिबोध देने का विचार किया।^२ इसकी विस्तृत चर्चा ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में निम्न रूपों में वर्णित है।

मल्लिकुमारी के रूप-लावण्य और गुणादि की उत्कृष्टता की चर्चा तत्कालीन छः गणराजाओं तक पहुँची। मल्लिकुमारी ने अपने पूर्व जन्म के मित्रों तथा इस जन्म के गणराजाओं का मोहभाव दूर करने

१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—पृ० २४१

२. आ० हस्तीमलजो-जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० १२६

(क) आवश्यकचूर्णि 'ऋषभदेव' रतलाम केशरीमल पृ० ८९ भाग-१

के लिये एक उपाय सोचा। उसने एक विशाल मोहनगृह के मध्य में मणिमय पीठिका पर अपने ही समान रूप-लावण्यमयी सुवर्णमय प्रतिमा का निर्माण करवाया और भोजनोपरान्त उसमें एक-एक ग्रास डालने की व्यवस्था की।^१

साकेतपुर का प्रतिबुद्ध राजा रानी पद्मावती के साथ नागपूजा के उत्सव में सम्मिलित हुआ। वहाँ मालाकारों द्वारा प्रस्तुत मनोहर श्री दामगड (पुष्पगुच्छ) की बनावट देखकर विस्मित हुआ। उसने मंत्री सुबुद्धि से पूछा कि इससे सुन्दर पुष्प गुच्छ कहीं देखा है? इसका उत्तर देते हुए मंत्री ने मल्लिकुमारी के वार्षिक महोत्सव पर मनोहर तथा विभिन्न प्रकार के पुष्पों से कलात्मक ढंग से बनाये गये पुष्प गुच्छों का वर्णन किया, साथ ही मल्लिकुमारी के अनुपम सौन्दर्य का ऐसा वर्णन किया जिससे राजा प्रतिबुद्ध उन पर मोहित हो गया।

इसी प्रकार चम्पा नगरी के राजा चन्दुछाग, सावल्थी के महाराजा रूपी, काशी प्रदेश के महाराजा शंख, कुणालाधिपति रुक्मि, हस्तिनापुर के राजा अदीनशत्रु तथा पांचाल के राजा जितशत्रु ने मल्लिकुमारी के सौन्दर्य तथा गुणों की अपने मंत्रियों द्वारा प्रशंसा सुनी थी। इन छः भूपतियों ने पूर्व-जन्म के स्नेह से आकर्षित होकर मल्लिकुमारी से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। राजा कुम्भ द्वारा इस माँग को अस्वीकृत करने पर छहों भूपतियों ने अपनी सेनाएँ लेकर मिथिला पर चढ़ाई कर दी और शक्ति के बल पर मल्लिकु को वरण करने का संकल्प किया। छः राजाओं से एक साथ मुकाबला करने में असमर्थ राजा कुम्भ चिन्तित होकर युद्ध की तैयारी करने लगे।^२

प्रतिदिन की तरह चरण-वन्दन के लिये आई हुई मल्लिकुमारी ने अपने पिता को चिन्तित देखा, उनकी चिन्ता के कारणों को जानकर विनयपूर्वक बोली—

“तात, आप किंचित् मात्र भी चिन्तित न हों, मैं सारी समस्या को ठीक ढंग से हल कर लूंगी। आप छः राजाओं को दूत द्वारा अलग-अलग रूप में यहाँ आने का निमंत्रण भेज दोजिये।”

१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र पृ०-२५२

(क) उद्धृत त्रिषष्टिशलाकापुरुष-पर्व ६, सर्ग ६

२. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र पृ० २७६

मल्लिकुमारी की योग्यता, बुद्धिमत्ता और नीति-परायणता से राजा कुम्भ प्रभावित एवं आश्वस्त होकर छः राजाओं को पृथक्-पृथक् आने का सन्देश भिजवा दिया। सन्देश पाकर सभी राजा मिथिला राजधानी में पहुँचे और मोहन गृह में स्थापित मल्लिक की स्वर्ण प्रतिमा को निहारने लगे। जब मल्लिकुमारी ने भूपतियों को रूप दर्शन में तन्मय देखा तो स्वर्णपुतली का ढक्कन हटा दिया। ढक्कन हटते ही चिरसंचित अन्न की दुर्गन्ध चारों ओर फैल गई और सब भूपति नाक बन्द कर इधर-उधर भागने की चेष्टा करने लगे। उचित अवसर देख मल्लिक भगवती ने उन्हें प्रतिबोध देते हुए क्षणिक भौतिक सुख को त्यागकर आत्मज्ञान की ओर प्रेरित किया, तथा पूर्वभव का जीवन वृत्तान्त कह सुनाया। मल्लिक भगवती के इन उद्बोधक वचनों से राजाओं को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और इस ज्ञान से उन्होंने अपने-अपने पूर्वभवों को जाना। अन्त में मल्लिकुमारी ने माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के समय तीन सौ स्त्रियों तथा तीन सौ पुरुषों ने भी संयम ग्रहण किया। परम्परानुसार दीक्षा तथा केवल-ज्ञान का महोत्सव मनाया गया और तीर्थ की स्थापना की गई।^१

अन्य तीर्थंकरों की तुलना में मल्लिकनाथ में यह विशिष्टता रही कि उन्होंने जिस दिन दीक्षा ग्रहण को उसी दिन उन्हें केवल-ज्ञान को भी प्राप्ति हुई। केवली बनकर महती परिषद् में धर्मदेशना सुनाई। उपदेश सुनकर महाराज कुम्भ और प्रभावती ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया और जितशत्रु आदि छः राजाओं ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

आपके संघ में साध्वियों की आभ्यंतर परिषद् और साधुओं को बाह्य परिषद् का उल्लेख प्राप्त होता है।^२ आपके समवसरण में साध्वियों का अग्रस्थान माना गया है, क्योंकि उन्हें आभ्यंतर परिषद् में गिना गया है।

तीर्थंकर मल्लिक जनमानस को आत्मशुद्धि का मार्ग बताते हुए वर्षों तक ग्रामों और नगरों में घूम-घूम कर धर्म का उपदेश देती रहीं। अन्त में ग्रीष्मकाल के चैत्र शुक्ला चतुर्थी को अर्धरात्रि के समय पाँच सौ आर्यिकाओं

१. (क) आनन्दऋषिजी—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—पृ० ३१३

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० १३१

(ग) चौबीस तीर्थंकर चरित्र में एक हजार पुरुष और तीन सौ स्त्रियों के साथ दीक्षित होना लिखा है जो भ्रान्त प्रतीत होता है।

२. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० १३१

और पाँच सौ बाह्य परिषद् के साधुओं सहित संधारा पूर्ण कर चार अघाति-कर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुईं ।^१

पद्मावती^२

आप बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत की माता तथा राजगृह के महाराजा सुमित्र की महारानी थीं । पूर्वभव के सुरश्रेष्ठ राजा के जीव ने घोर तपस्या कर तीर्थंकर नाम कर्म उपाजन किया था । वही जीव रानी पद्मावती के गर्भ में उत्पन्न हुआ । माता ने चौदह महास्वप्न देखे तथा हर्षित हो गर्भ का सावधानी से पालन करने लगीं । माता को उस समय विधिपूर्वक व्रत पालन की इच्छा बनी रहती थी, वह मुनि की तरह व्रत का पालन करती रही ।^३ गर्भकाल पूर्ण होने पर माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया । इन्द्र ने आकर माता को प्रणाम किया तथा नरेन्द्र व पुरजनों ने जन्मोत्सव मनाया । माता ने युवावस्था आने पर प्रभावती आदि श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ कुमार का विवाह किया । राज्य का उपभोग कर दीक्षित हुए । अनन्तर केवल-ज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकरत्व को प्राप्त किया । माता भी अपने कर्मों का क्षय कर चौथे माहेन्द्र देवलोक में उत्पन्न हुईं ।^४

वप्रादेवी^५

इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ की माता तथा मिथिला नगरी के महाराजा विजय की महारानी का नाम वप्रादेवी था । पूर्वभव के सिद्धार्थ राजा का जीव माता वप्रादेवी के गर्भ में प्रवेश करने पर, मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न दिखाई दिये । योग्य आहार, विहार और आचार से महारानी वप्रा ने गर्भ का पालन किया । समय पूर्ण होने पर माता वप्रादेवी ने कनक वर्ण वाले पुत्र-रत्न को सुखपूर्वक जन्म दिया । नरेन्द्र और सुरेन्द्र ने मंगल महोत्सव मनाया । जिस समय बालक गर्भ में था उस समय शत्रुओं ने मिथिला नगरी को चारों ओर से घेर रखा था । माता वप्रादेवी की उन पर सौम्य दृष्टि पड़ते ही शत्रु राजा का मन बदल गया और वह चरणों में झुक गया । अतः शत्रुओं के इस प्रकार से नमन करने

१. आनन्दऋषिजी—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—अ० ८, पृ० ३२२

२. समवायांग १५७, आवश्यकनियुक्ति २२९, तीर्थोद्गालिक ४८३

३. आवश्यकचूणि—पृ० ११

४. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० ५९८

५. समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४८४

२२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

के कारण पुत्र का नाम नमिनाथ रखा गया।^१ युवावस्था को प्राप्त होने पर माता-पिता ने पुत्र का योग्य कन्याओं के साथ विवाह किया। राज्य का पालन कर दीक्षित हुए और केवल-ज्ञान प्राप्त किया। माता ने भी श्राविका व्रत ग्रहण किया तथा कर्मों का क्षय करके देवलोक में गईं।^२

शिवादेवी^३

बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि की माता शिवादेवी समुद्रविजय की धर्मशीला महारानी थीं। पूर्वभव के शंख राजा का जीव तीर्थंकर गोत्र का पुण्य उपाजित कर शिवादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने चौदह शुभ स्वप्न देखे तथा परम भाग्यशाली पुत्र-लाभ की बात जानकर बहुत प्रसन्न हुईं। गर्भकाल पूर्ण होने पर माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। भाग्यशाली पुत्र की माता को देवों ने आकर प्रणाम किया और जन्मोत्सव मनाया। बालक के गर्भकाल में रहते समय कई अनिष्ट टल गये तथा माता ने रत्नमय चक्र का दर्शन किया, अतः बालक का नाम अरिष्टनेमि रखा गया।^४

माता शिवादेवी, पिता समुद्रविजय तथा भाई श्रीकृष्ण ने अरिष्टनेमि की अनिच्छा होते हुए भी उग्रसेन राजा की सर्वगुण सम्पन्न कन्या राजीमती से विवाह की तैयारी की परन्तु अहिंसा के पुजारी नेमिकुमार ने विवाह के अवसर पर वध किये जाने वाले निर्दोष पशुओं की पुकार सुन कर विवाह करने के बजाय दीक्षित होकर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। माता शिवादेवी भी दीक्षित होकर कर्मक्षय कर मृत्यु प्राप्त कर चौथे माहेन्द्र देवलोक में गईं।^५

१. (क) नगरं रोहिज्जति, देवी अहे, संठिता दिद्धा, पच्छा पणता रायाणो अण्येय पच्चंतिया रायाणो, पणतातेए नमी।

—आवश्यकचूर्णि, उक्त० पृ० ११

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—पर्व ७, सर्ग ११, पृ० १९१

२. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग १, पृ० ५९८

३. कल्पसूत्र १७१, अन्तकृद्दशा ८, उत्तराध्ययननिर्युक्ति पृ० ४९६, समवायांग १५७, तीर्थोद्गालिक ४८५

४. आवश्यकचूर्णि—उक्त० पृ० ११

५. पउमचरिय, उक्त. २१, गा. २ उद. जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० १४१

राजीमती^१

राजीमती बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि की वाग्दत्ता, सत्यभामा (कृष्ण की रानी) की लघु भगिनी तथा राजा उग्रसेन व रानी धारिणी की पुत्री थी।^२ उस समय के सर्वगुण सम्पन्न यादव कुमार से वाग्दान हो जाने के कारण राजीमती अपने भाग्य को धन्य समझती थी। जब नेमिकुमार साक्षात् कामदेव के समान अपूर्व बारात सजाकर महाराजा उग्रसेन के प्रासाद की ओर बढ़े, तो उस समय बाल-वृद्ध सभी त्रिभुवन-मोहक नेमिकुमार को देखकर राजीमती के भाग्य को सराहने लगे। सखियाँ वर को देखते ही दौड़ कर राजीमती से कहने लगीं—“राजदुलारी ! तुम परम भाग्यवती हो जो श्री नेमिनाथ जैसा त्रैलोक्य-तिलक वर तुमसे पाणिग्रहण करेगा। हम वर दर्शन की प्रबल उत्कण्ठा को रोक नहीं सकते हैं, अतः हे सखी ! तुम भी लज्जा का परित्याग कर अति कमनीय वर को देखने चलो।” राजीमती महल के झरोखे से अपने प्रियतम का रूप तथा बारात की साजसज्जा का दृश्य देखकर अपना अहो भाग्य मानने लगी। उसी समय सहसा राजीमती की दाहिनी आँख और भुजा फड़कने लगी तथा अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय धड़कने लगा और पल मात्र में ही अपार जनसमूह ने देखा कि अहिंसा और करुणा की प्रतिमूर्ति नेमिकुमार हजारों पशुओं को जीवनदान देते हुए पुनः लौट रहे हैं।^३

राजीमती अपने प्राणेश्वर नेमिकुमार के लौट जाने और उनके द्वारा प्रव्रजित होने के निश्चय को जानकर वृक्ष से कटी हुई लता की तरह निश्चेष्ट होकर धरती पर गिर पड़ी। सखियों के प्रयत्न से होश में आते ही राजीमती हृदयद्रावी करुण विलाप करते हुए बोली—“हे नरशिरोमणि, तुमने विवाह की स्वीकृति देकर मेरे मन में आशालता अंकुरित क्यों की और असमय में ही उसे उखाड़ कर क्यों फेंक दिया ? महापुरुष अपने वचन को जीवन भर निभाते हैं। जिस दिन आपने वचन से मुझे स्वोकार किया उसी दिन मेरा आपके साथ पाणिग्रहण हो चुका, उसके

१. उत्तराख्ययन २२, ४३, कल्पसूत्रवृत्ति ३१३

२. (क) आ० हेमचन्द्र-त्रिषष्टिशलाकापुरुष-पर्व ८, सर्ग ९, पृ० ३७३, ३८१

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग १, पृ० १९०

(ग) जैन साहित्य के इतिहास में अरिष्टनेमि की बारात का वर्णन लालित्य-पूर्ण एवं बहुत आकर्षक भाषा में कई कवियों ने किया है।

३. आ० हेमचन्द्राचार्य—त्रिषष्टिशलाकापुरुष—पर्व ८, सर्ग ९, पृ० ३८४

बाद यह विवाह का समस्त आयोजन तो व्यर्थ ही किया गया। मुझे अत्यन्त दुःख तो इस बात का है कि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी वचन भंग करेंगे तो सारी लौलिक मर्यादायें नष्ट हो जायेंगी”। इन वाक्यों से उस समय की सामाजिक मान्यता तथा विवाह-पद्धति की महत्ता का बोध होता है। पुनः राजीमती दुःखी होकर कहने लगीं—“सखि ! इसमें नेमिकुमार का कोई दोष नहीं, मुझे तो यह सब मेरे ही किसी घोर पाप का प्रतिफल प्रतीत होता है। अवश्य ही मैंने पूर्व जन्म में किसी चिर-प्रणयी का विच्छेद कर उसे विरह की वीभत्स ज्वाला में जलाया होगा। जिसके फलस्वरूप मैं अभागिन अपने प्राणाधार प्रियतम के कर-स्पर्श का भी सुखानुभव नहीं कर सकी”। इस करुण क्रन्दन को देखकर सखियों ने उसे समझाते हुए यादव कुल के किसी दूसरे सर्वगुण सम्पन्न कुमार को पति रूप में चुनने की सलाह दी किन्तु राजीमती घायल शेरनी की तरह अपनी सखियों पर गरज पड़ी और बोलीं,—“कन्या का पाणिग्रहण एक बार ही होता है, मैं नेमिकुमार को अपने मन और वचन से वरण कर चुकी हूँ और अपने गुरुजनों द्वारा भी उन्हें दी जा चुकी हूँ। अतः मैं तो अपने प्रियतम नेमिकुमार की पत्नी हो चुकी। उन्होंने विवाह विधि से मेरे कर का स्पर्श नहीं किया है—पर मुझे व्रतदान देने में तो उनकी वाणी अवश्य-मेव मेरे अन्तःस्तल का स्पर्श करेगी”। इस तरह काम भोग के त्याग एवं व्रत-ग्रहण की दृढ़ प्रतिज्ञा से सहेलियों को चुप करा कर राजीमती नेमिनाथ के ही ध्यान में निमग्न रहने लगी। इस नव-परिणिता के हृदय की आशाओं तथा उमंगों का अति करुण वर्णन कई विद्वान् कवियों ने लेख तथा छंदों में किया है, मुख्यतः इनमें राजीमती की अतृप्त भावनाओं का हृदयग्राही चित्रण प्रस्तुत किया गया है। जैन धर्म में इस सती साध्वी को आदर्श नारी का स्थान दिया गया है ताकि भविष्य में नारियाँ इन्हीं के आदर्शों पर चल कर अपना जीवन उन्नत कर सकें।

नेमिकुमार के तोरण से लौट जाने पर उनका छोटा भाई रथनेमि राजीमती पर मोहित हो गया। कई प्रकार के भेंट, प्रलोभन देकर वह राजीमती, को अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश करने लगा पर इस संकल्प पर दृढ़ रहने वाली महिला ने चतुराई तथा युक्तिपूर्ण फटकार

१. आचार्य हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—भाग १,

पृ० १९३-१९५

२. वही, भाग १, पृ० १९५

से रथनेमि के सारे कलुषित मनोरथ मिट्टी में मिला दिये। रथनेमि के मोह को दूर करने के लिये अधोलिखित घटना का उल्लेख प्राप्त होता है—

“राजीमती ने दूसरे दिन रथनेमि के आने से पहले भर-पेट दूध पिया और उसके आने के पश्चात् वमनकारक मदन-फल को नासारन्ध्रों से छूकर सूँघा और रथनेमि से कहा कि शीघ्र ही एक स्वर्ण-थाल ले आओ। रथनेमि ने तत्काल राजीमती के सामने सुन्दर स्वर्ण-पात्र रख दिया। राजीमती ने पहले पिये हुए दूध का उस स्वर्ण-पात्र में वमन कर दिया और रथनेमि से गम्भीर दृढ़ स्वर में कहा—“देवर ! इस दूध को पी जाओ”।

इससे लज्जित तथा निराश होकर रथनेमि संसार से विरक्त हो गया और दीक्षा ग्रहण कर नेमिनाथ की सेवा में रैवतीचल की ओर निकल पड़ा^१।

नेमिनाथ की प्रव्रज्या की बात सुन कर राजीमती ने स्वयं भी प्रव्रज्या ग्रहण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया और किसी तरह माता-पिता की अनुमति लेकर अपने श्यामल बालों का लुंचन कर संयम मार्ग की ओर बढ़ने लगी। उस अवसर पर लुंचित केशवालो जितेन्द्रिया सुकुमारी राजीमती से वासुदेव श्रीकृष्ण आशीर्वचन के रूप में बोले—“हे कन्ये ! जिस लक्ष्य से दीक्षित हो रही हो, उसकी सफरता के लिए संसार-सागर को शीघ्राति-शीघ्र पार करना^२। राजीमती ने दीक्षित होकर बहुत-सी राजकुमारियों एवं अन्य सखियों को भी दीक्षा प्रदान की। शीलवती होने के साथ-साथ नेमिनाथ के प्रति धर्मानुराग से अभ्यास करते हुए राजीमती बहुश्रुता भी हो गई थी।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि को केवलज्ञान प्राप्त होने पर अनेक मुमुक्षुओं ने प्रभु चरणों में दीक्षा ग्रहण की। उस समय यक्षिणी आदि अनेक राजकुमारियों ने भी प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। यक्षिणी आर्या को श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी नियुक्ति किया गया है। महारानी शिवादेवी, रोहिणी,

१. उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय २२

२. आचार्य हस्तीमलजो—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—भाग १, पृ० २००

३. संसार सायरं घोरं, तर कन्ने लहुँ लहुँ—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२

देवकी और रुक्मिणी आदि अनेक महिलाओं ने प्रभु के पास श्राविका धर्म स्वीकार किया ।

प्रभु नेमिनाथ द्वारा केवलज्ञान की प्राप्ति तथा संघ-स्थापना का संदेश सुनकर राजीमती भी अनेक साध्वियों के साथ भगवान् को वन्दन करने हेतु रैवतगिरि (गिरिनार पर्वत) की ओर चल पड़ी । रास्ते में घनघोर वर्षा के कारण एक गुफा में राजीमती ने अपने भीगे कपड़े सुखाने के लिये फैला दिये । यहाँ राजीमती को निर्वस्त्र देखकर गुफा में ध्यानस्थ रथनेमि का मन पुनः विचलित हो गया फलतः उसने राजीमती से कामेच्छा-पूर्ति की प्रार्थना की, परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ राजीमती अपने मनोभाव को सुस्थिर रखते हुए निर्भयपूर्वक बोली, “हे रथनेमि तुम इन्द्रिय सुखों के मोह से पथ भ्रष्ट हो रहे हो, तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हें इस विपरीत मार्ग पर चलते लज्जा नहीं आती ? तुम्हें धिक्कार है, इस प्रकार अंगोक्त व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है । क्योंकि मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है और कुल जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए आत्म-कल्याण करना ही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है” ।

स्थिर संयम-नारी को हितकारी ललकार और फटकार को सुनकर रथनेमि धर्म में सम्यक् प्रकार से वैसे ही स्थिर हो गया जैसे अंकुश से हाथी हो जाता है । तदनन्तर अरिष्टनेमि के चरणों में पहुँच कर कठोर तपश्चर्या से कर्म समूह को भस्मसात् कर रथनेमि भी शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये । राजीमती ने भी अरिष्टनेमि के समवसरण में पहुँचकर तप संयम

१. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास-भाग १, पृ० २०१

शिवा रोहिणी देवक्यो, रुक्मिण्याद्याश्च योषितः

जगद्गुः श्राविका धर्ममन्याश्च स्वामिन्निधौ ।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-पर्व ८, ९

२. (क) धिरत्थु ते जसोकामी, ज्योतं जाविय कारणा

वतं इच्छसि आवेऊं, सेय ते मरणं भवे ।

—दशवैकालिक सूत्र, अ० २

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२

(ग) कोहं माणं निगिण्हिता, भायं लोभं च सव्वसो

इन्दियाई, वसे काउं, अय्याणं उवसंहरे ।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, पृ० २३१

की साधना करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति की और बाद में निर्वाण प्राप्त किया^१। यह आदर्श महिला तीर्थंकर अरिष्टनेमि के पूर्व ही मोक्ष को प्राप्त हुई।

देवकी^२ :

जैन धर्म के इतिहास में परमयोगी श्रीकृष्ण वासुदेव की माता देवकी के वात्सल्य-भावों का वर्णन इस प्रकार से किया गया है। देवकराजा की पुत्री तथा कंस की बहिन का विवाह सौरीपुर के राजा वसुदेव से हुआ था। “बहिन देवकी के पुत्रों द्वारा मेरी मृत्यु होगी” इस भविष्यवाणी के आधार पर कंस ने देवकी और वसुदेव से उनके पुत्रों को अपने अधीन रखने का वचन ले लिया था।

विवाह के पश्चात् देवकी ने क्रमशः छः बार गर्भ धारण किये परन्तु प्रसवकाल में ही देवकी के वे छः पुत्र सुलसा गाथापत्नी के यहाँ तथा सुलसा के छः मृत पुत्र देवकी के यहाँ हरिणैगमेषी नामक देव ने अपनी देवमाया द्वारा अज्ञात रूप से पहुँचा दिये। उन छः पुत्रों को वसुदेव ने अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रसव के तुरन्त पश्चात् ही कंस को सौंपा और कंस ने उन्हें मृत समझकर फेंक दिया^३।

सातवीं बार जब देवकी ने गर्भ धारण किया तो सात शुभ स्वप्न—मिह, सूर्य, अग्नि, गज, ध्वज, विमान और पद्म सरोवर देखकर जागृत हुई। वसुदेव ने स्वप्न का अर्थ बताते हुए कहा—“तुम भाग्यशाली पुत्र की माता बनोगी यह सुन कर वह पति से संतान रक्षा हेतु आर्द्र स्वर में अनुनय करने लगी। वसुदेव ने देवकी को आश्वस्त किया और तेजस्वी पुत्र के जन्म लेते ही उसे अपने मित्र नन्द-यशोदा के यहाँ गोकुल में छोड़ आये। माता देवकी सात-सात पुत्रों की जननी होते हुए भी अपनी गोद में किसी पुत्र की बाल-क्रीड़ा नहीं देख सकीं।

एक समय तीर्थंकर अरिष्टनेमि अनेक श्रमणों के साथ द्वारिकापुरी पधारे। तीर्थंकर के समवसरण का समाचार सुन कर श्रीकृष्ण यादव-

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, पृ० २३२

२. अन्तकृद्शा ६, उत्तराध्ययन २२.२, समवायांग १५९, कल्पसूत्रवृत्ति पृ० १७५, निशोथचूर्णि प्र० पृ० १०३

३. आ० हेमचन्द्र-त्रिषष्टिशलाकापुरुष—पर्व ८, सर्ग ५, पृ० ३१०

—आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—भाग १, पृ० १६४

परिवार तथा अन्तःपुर की राजमहिषियों के साथ देशना सुनने आये। उस समय अनेक नर-नारियाँ दीक्षित हुईं और अनेक ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। किसी समय बेल-बेले से तपस्या करने के कारण क्षीण हुए शरीर वाले छः साधु प्रभु की आज्ञा लेकर नगर में भिक्षा लेने गए। छहों मुनि बारी-बारी से दो-दो के संगड़े से तीन बार देवकी के प्रासाद में गोचरी लेने गये। श्राविका देवकी ने उन्हें भक्तिपूर्वक वन्दन किया और प्रेमपूर्वक विशुद्ध आहार की भिक्षा दी। मुनि-युगल की सौम्य आकृति, सदृश-वय, कान्ति और चाल-ढाल को देख उसे अपने छः पुत्रों का स्मरण हो आया^१ और उसके नयनों से पुत्र-स्नेह के कारण अनवरत अश्रु धाराएँ बह निकलीं।^२ मुनियों का तीसरा युगल भी जब देवकी के यहाँ भिक्षा लेने आया तो अपनी शंका का समाधान करते हुए उसने प्रश्न किया, 'भगवन्, मेरा अहो भाग्य है, आपने इस आँगन को पवित्र किया, पर अन्य गुणानुरागी सन्त सेवा को छोड़ कर आप मेरे यहाँ तीन बार कैसे पधारे?' अंतगड सूत्र के अनुसार देवकी ने मुनि युगल को दूसरी तीसरी बार एक ही घर पर भिक्षा लेने का कारण पूछा। मुनि ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने जीवन का वृत्तान्त, जो केवल ज्ञानी प्रभु द्वारा उन्हें बताया गया था वह कह सुनाया। मुनि की बात समाप्त होते ही देवकी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी क्योंकि उसे यह विश्वास हो गया था कि ये छः मुनि उसके ही पुत्र हैं। सचेत होने पर देवकी का मातृ-हृदय सागर की तरह हिलोरे लेने लगा और उसके स्तनों से दूध की और आँखों से अश्रुओं की धारा एक साथ बहने लगी। देवकी के इस हृदयस्पर्शी करुण विलाप को सुनकर मुनियों ने उसे संसार की अनित्यता तथा कर्मों की प्रधानता के बारे में समझाया। अंतगड सूत्र के अनुसार देवकी अपने शंका निवारण हेतु भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण में गईं। अरिहंत अरिष्टनेमि ने उसके मनोभावों को जानकर कहा, 'देवकी, तुमने जो छः मुनि देखे हैं वे सुलसा के नहीं, तुम्हारे ही पुत्र हैं। हरिणैगमेषी देव ने इन्हें तत्काल प्रसव के समय ही सुलसा के मृत पुत्रों में बदल दिया था। अतः वे वहाँ वृद्धि पाकर दीक्षित हुए हैं।'

इस पर देवकी ने हर्ष विभोर होकर छहों मुनियों को वन्दन करते

१. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग १, पृ० १६४

२. (क) त्रिषष्टिशलाकापुहण, पर्व ८

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग १, पृ २०६

हुए कहा, “प्रभो ! मुझे प्रसन्नता है कि मेरी कुक्षि से उत्पन्न छः पुत्रों ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साम्राज्य प्राप्त करनेवाली मुनि दीक्षा ग्रहण की तथा एक पुत्र (कृष्ण) ने उत्कृष्ट कोटि का विशाल साम्राज्य प्राप्त किया। पर मेरा हृदय संतप्त हो रहा है कि सातों पुत्रों की शैशवावस्था के लालन-पालन का अति मनोरम आनन्द मैंने स्वल्प मात्रा में भी अनुभव नहीं किया।” इस पर केवल-ज्ञानी प्रभु ने पूर्वभव में सपत्नी के रत्न चुराने की बात कह सुनाई।^१

समवसरण से लौटकर आने के पश्चात् भी देवकी अपने संतप्त हृदय को आश्वस्त न कर सकी। सात-सात पुत्रों की जननी होते हुए भी देवकी एक भी पुत्र को स्तन पान कराने, मीठी-मीठी लोरियाँ गाकर सुनाने तथा शैशवावस्था की अतिप्रिय तुतलाती मीठी बोली आदि को श्रवण कर सकने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इसी शोक सागर में गोते लगाती हुई वह चिन्तित रहने लगी और अन्न-जल त्याग दिया। माता की मनो-दशा देख कृष्ण ने इष्टदेव का स्मरण किया और एक लघु-भ्राता का वरदान प्राप्त किया।

कालान्तर में देवकी ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका गज-सुकुमाल नाम रखा गया। स्वयं दीक्षित होने के पश्चात् माता देवकी ने अपने पुत्र गज-सुकुमाल को बहुत करुण शब्दों में संसार भोग के लिए कहा परन्तु अपने प्रण पर दृढ़ कुमार ने युवावस्था में तोथँड्कर अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।^२

उपरोक्त पृष्ठों में देवकी के जीवन और उसकी क्रियाओं का वर्णन जैन धर्मग्रंथों के आधार पर किया गया है।

१. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग १, पृ० २०९
२. देवकी के चरित्र का मूल्यांकन किया जाता है तो प्रतीत होता है कि जैन धर्म तथा वैदिक साहित्य में, देवकी के स्वरूप और चरित्र में अन्तर है। जैन धर्म में पूर्वजन्म में रत्नों की चोरी करने पर इस जन्म में पुत्रों से वियोग सहना पड़ा। अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। श्रीमद् भागवत के अनुसार देवकी बड़ी सती साध्वी स्त्री थी। (श्रीमद् भागवत दशम स्कन्द, ५५)। कहा जाता है कि देवकी का शरीर बड़ा ओजमय और पुण्य प्रतापी था। उसके शरीर में सम्पूर्ण देवताओं का निवास था। जैन धर्म में तो केवल देवकी को आठ पुत्रों की माता दर्शाया गया है। परन्तु देवकी के शरीर में सम्पूर्ण देवताओं से निवास होने से यह कहा जा सकता

रुक्मिणी, सत्यभामा :

श्रीकृष्ण वासुदेव की पति परायण, सर्वगुण सम्पन्न ये दोनों रानियाँ तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में भी अपनी अलौकिक बुद्धि से कृष्ण को सहयोग देती थीं। एक समय अरिष्टनेमि कृष्ण को आयुध-शाला (शस्त्र-शाला) में पहुँचे और कुतूहलवश शंख फूँका।

कृष्ण वासुदेव का यह अद्भुत शंख कोई बलशाली ही उठाकर फूँक सकता है। यह कौन दूसरा ऐसा पराक्रमी पुरुष धरातल पर आ गया ? श्रीकृष्ण भी अपने प्रतिद्वन्द्वी का आभास होने पर चिन्तानुर हो गये।

है कि वह लोक माता नहीं देव-माता थी। (श्रीमद् भागवत, दशम स्कन्द, बलोक ५६)। देवकी के गर्भ से जो भी पुत्र हुए थे सब बलवान् एवं देवत्व धारण किये हुए थे। देवकी का जीवन बड़ा कष्ट साध्य था। वह एक जीवट देवी थी, जिसने कारागृह में अपनी प्रसव पीड़ा को सहन किया।

देवकी अपने वचन पर दृढ़ रहने वाली स्त्री थी। जब उसे कंस के हाथों अपनी सन्तानों को मारे जाने का ज्ञान हुआ तब उसने अपने ममत्व को एक चुनौती रूप में स्वीकार किया। अपने पति वसुदेव की सान्त्वना पर अपनी सन्तानों का वियोग हृदय में सहती रही। यदुवंश की इस महिला ने कृष्ण युग में जितनी पीड़ा सहन की है वह अलौकिक है। देवकी को एक सच्ची माता का हृदय प्राप्त था। उसमें त्याग, बलिदान और धैर्य की अटूट भावना थी।

पृथ्वी से पापी कंस के विनाश का श्रेय इसी महिमामयी माता की कुक्षि को प्राप्त हुआ है। देवकी के चरित्र-चित्रण से पता लगता है कि इतिहास की यह महिमामयी महिला वैदिक धर्म और जैन धर्म की विविधताओं के अनुसार यद्यपि एक ही महिला रही होगी, लेकिन इसकी गाथा दोनों धर्मों में अलग-अलग रूप से वर्णित है। सनातन वैदिक धर्म की कथाओं के अनुसार देवकी के सभी पुत्रों को उसके भाई कंस ने मार डाला था जब कि जैन आख्यायिकाओं के अनुसार महासती देवकी आठ अलौकिक सन्तानों की माता थी।

१. अन्तकृद्दशा, १, ज्ञाताधर्मकथा ५२, निरयावलिका ५-१ आवश्यकवृणि प्र० पृ० ३५६ आदि।
२. कल्पसूत्र, पृ० १७६, अन्तकृद्दशा १०, स्थानांग ६२६, आवश्यक पृ० २८, प्रश्नव्याकरण वृत्ति पृ० ८८

आयुधशाला के रक्षक से नेमिनाथ के शंख फूंकने पर वे चिन्तामग्न हो गये ।

कृष्ण की दोनों पटरानियों ने पति को चिन्तातुर देख अपने देवर को विवाह के लिये तैयार करने का कठिन कार्य हाथ में लिया । वसन्तोत्सव पर वसन्त क्रोड़ा के निमित्त रैवताचल पर एक कार्यक्रम आयोजित किया । भाई एवं भाभी के आग्रह पर नेमिकुमार भी इस वसन्तोत्सव पर उनके साथ गये । वहाँ कृष्ण की रानियों ने नेमिकुमार को सांसारिक भोग की ओर उन्मुख करने के बहुविध प्रयास किये । संसार से विरक्त नेमिनाथ मोह ममता को त्याग चुके थे किन्तु कुटुम्बियों के अति आग्रह को देखकर विवाह के लिये सहमत हो गये^१ ।

इस प्रकार कृष्ण की इन दोनों पटरानियों ने अपनी बुद्धिमत्ता एवं व्यवहार कुशलता से उन्हें कठिन परिस्थितियों में भी सहयोग दिया ।

द्रौपदी :

जैन परम्परा में महाभारत की प्रसिद्ध महिला पात्र 'द्रौपदी' का वर्णन कर्मों के आधार पर किया गया है ।

किसी पूर्वभव में द्रौपदी (उसका जीव) चम्पानगर के ब्राह्मण सोम की नगरी नागश्री नाम की पत्नी थी । उसने श्रवण मुनि धर्मरुचि को कड़वे तुम्बे के साग का भिक्षाहार दिया था । जिसे खाकर धर्मरुचि ने समाधिपूर्वक शान्त भाव से प्राण त्याग दिया । नगर में इसकी चर्चा फैलने से पति सोम ने नागश्री को घर से निकाल दिया । गाँव वाले भी धिक्कार व घृणा की दृष्टि से देखने लगे । अतः भरण-पोषण भी मिलना मुश्किल हो गया । इस प्रकार कई व्याधियों से ग्रसित होकर दीनहीन अवस्था में नागश्री की मृत्यु हुई ।

कई भवों में भ्रमण करने के पश्चात् चंपानगरी के जिनदत्त सार्थवाह की भार्या भद्रा की कुक्षि से पुत्री रूप में जन्म लिया । अति कोमल शरीर होने के कारण माता-पिता ने उसका नाम सुकुमालिका रखा^३ । यौवन वय प्राप्त होने पर पिता जिनदत्त ने पुत्री का विवाह सागरदत्त सार्थवाह के पुत्र सागर से किया ।

१. चउपन्नमहापुरिसचरियं—पृ० १९२

२. ज्ञाताधर्मकथा १०९, ११६, १२०, १२३-२४ प्रश्नव्याकरण वृत्ति, पृ० ८७

३. आ० आनन्द ऋषिजी—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र—अ० १६, पृ० ४४८

पूर्वभ्रम के अशुभ कर्म बंधन के कारण सुकुमालिका का स्पर्श करते ही अन्य पुरुष का शरीर अग्नि के समान जलने लग जाता था। अतः पति सुख प्राप्त नहीं होने पर वह दुःखी रहने लगी और भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र आदि का दान देने लगी। एक दिन गोपालिका आर्या अन्य साध्वियों के साथ सुकुमालिका के यहाँ आहार लेने आई। तब श्रेष्ठ कन्या ने अपना दुःख प्रकट करके दुःख से मुक्त होने का उपाय पूछा। साध्वीजी ने तप, त्याग तथा धर्म-ध्यान को ही दुःख से मुक्त होने का साधन बताया। सुकुमालिका ने आत्मकल्याण के लिये श्राविका व्रत धारण किया तथा बाद में दीक्षा ग्रहण की।^१

गोपालिका आर्या की आज्ञा में रह कर बहुत तपस्या जैसे उपवास, बेला, तेला आदि करती हुई सुकुमालिका अपने अशुभ कर्मों की निर्जरा करने लगी। एक समय गोपालिका आर्या की आज्ञा का उल्लंघन करके सुकुमालिका साध्वी संघ के नियमों को त्याग, नगर के बाहर के उद्यान में बेले-बेले का तप करके सूर्य के सन्मुख आतापना लेने लगी। (साध्वी-चर्या में इस प्रकार का तप निषिद्ध है)।

एक समय उसी उद्यान में नगर की देवदत्ता गणिका को पाँच पुरुषों से सांसारिक भोग भोगते हुए देखकर सुकुमालिका आर्या ने भी इसी प्रकार के भोग भोगने की अभिलाषा की तथा मन में दृढ़ निदान किया। अंत में कई प्रकार को उत्कृष्ट तपस्या करते हुए अर्द्धमास की सल्लेखना करके देह त्याग किया।

यही जीव द्रुपद राजा को चुलना रानी की कुक्षि से पुत्री के रूप में उत्पन्न हुआ जिसका नाम द्रौपदा रखा गया। यौवन वय में प्रवेश करने पर राजा द्रुपद ने पाँच पाँडवों से द्रौपदी का विवाह किया।^२ एक समय कच्छुल नारद को आते देख पाँचो पाँडवों सहित कुन्ती माता ने उन्हें प्रणाम कर आदर से बहुमूल्य आसन ग्रहण करने की विनती की। उस समय द्रौपदी देवी ने नारद को असंयमी, अविरत तथा पापों का प्रत्याख्यान न करने वाला जानकर उनका आदर नहीं किया। इस अपमान से नारद ने द्रौपदी का अभिमान चूर करने का संकल्प किया। नारद अमरकंका राजधानी के पद्मनाभ राजा के महल में गये। आदर सत्कार के पश्चात् राजा के पूछने पर उन्होंने द्रौपदी के रूप सौन्दर्य का वर्णन खूब

१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—अ० १६, पृ० ४६५

२. वही—अ० १६, पृ० ४८७, ३९२

बढ़ा-चढ़ा कर किया। यह सुनकर पद्मनाभ राजा द्रौपदी के रूप, यौवन पर मुग्ध हो गया तथा अपने देवमित्र की आराधना की एवं उसकी विद्या द्वारा द्रौपदी को अपने महल में मँगवा लिया। अपनी रानो बनने का अनु-रोध करने पर द्रौपदी ने कहा, “हे राजन्, यदि छः महोने तक कृष्ण मुझे लेने नहीं आयेंगे तो तुम जो कहोगे वही करूँगी”। द्रौपदी निरन्तर षष्ठभक्त^१ (दो उपवास) और पारणा में आर्यबिल तप करने लगी। हस्तिनापुर से कृष्ण तथा पाण्डव भारी सेना लेकर आए अमरकंका नगर पर हमला किया तथा युद्ध में पद्मनाभ को बुरी तरह पराजित किया। राजा पद्मनाभ अपने प्राणों की रक्षाहेतु द्रौपदी की शरण में गया। द्रौपदी ने शरणागत की रक्षा करते हुए उसे अपने भ्राता कृष्ण की शरण में जाने को कहा। अतः अपने किये हुए कर्मों का प्रायश्चित्त करते हुए पद्मनाभ ने कृष्ण तथा पाण्डवों से क्षमा माँगी। द्रौपदी कृष्ण तथा पाण्डवों के साथ पुनः हस्तिनापुर आ गई।

द्रौपदी-मूल्यांकन—ज्ञाताधर्मकथांग में वर्णित अमरकंका नामक सोलहवें अध्याय में द्रौपदी सम्बद्ध कथानक में दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला गया है। श्रावक-श्राविकाओं को त्यागी वर्ग की सेवा करते समय सावधानी रखना आवश्यक है। इस प्रकार के अविचारी कार्य गृहस्थ महिलाएँ न करें इसलिये नागश्री के जीवन के दुःखद उदाहरण दिये गये हैं।

दूसरा, त्यागी वर्ग का अविनय करने पर द्रौपदी को पति से वियोग का कष्ट उठाना पड़ा तथा उसके निवारणार्थ उसने अष्टम तप एवं आर्य-बिल करके अपने कर्मों का क्षय किया। अतः अशुभ कर्मों के क्षय के लिये त्याग और तपस्या करना आवश्यक है।

थावच्चा^२

द्वारिका के समृद्धशाली श्रेष्ठकुलों में थावच्चा माता का नाम प्रसिद्ध था। उसका पुत्र भी पिता के नाम के बजाय माता के नाम से पहचाना जाने लगा था। पति की अकाल मृत्यु तथा पुत्र के अल्पायु होने पर भी श्रेष्ठि पत्नी थावच्चा ने अपने कुल की प्रतिष्ठा और धाक को उसी प्रकार कायम रखा जैसी कि पूर्व में थी। माता थावच्चा ने अपने पुत्र का बड़े

१. ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—अ० १६, पृ० ४९७, ५००

२. वही, पृ० १७९

लाड़-प्यार से पालन-पोषण किया। आठ वर्ष की आयु में पुत्र को एक योग्य आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेजा। युवावस्था में थावच्चा-पुत्र का बत्तीस सर्वगुण सम्पन्न सुन्दर कन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ।^१

कुछ समय पश्चात् थावच्चापुत्र अपनी माता को प्रणाम कर विनय-पूर्वक बोला, “अम्बे, भगवान् अरिष्टनेमि के अमोघ प्रवचन सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मुझे अब संसार के भोगों से विरक्ति हो गई है। मैं जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ, ताकि आत्मकल्याण कर मनुष्य जन्म को सफल बना सकूँ।” अपने पुत्र की यह बात सुनकर गाथापत्नी थावच्चा अवाक् रह गई, मानो उस पर वज्र गिरा हो। उसने पुत्र को त्याग मार्ग में आने वाले घोर कष्टों से अवगत कराया। पर पुत्र के अटल निश्चय को देख उसने अद्वितीय अभि-निष्क्रमणोत्सव करने का निश्चय किया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह अपने कुछ आत्मीयजनों के साथ श्रीकृष्ण के पास बहुमूल्य भेंट लेकर पहुँची और निवेदन किया, “राजराजेश्वर, मेरा इकलौता पुत्र थावच्चाकुमार प्रभु अरिष्टनेमि के पास श्रमण दीक्षा स्वीकार करना चाहता है। मैं बहुत समृद्धि के साथ निष्क्रमणोत्सव मनाना चाहती हूँ। अतः आप कृपा कर छत्र, चँवर और मुकुट प्रदान कोजिये।”

थावच्चा की इस याचना पर कृष्ण ने सांत्वना देते हुए कहा, “देवानु-प्रिये, तुम्हें इसकी किञ्चित् मात्र भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं इस उत्सव की जिम्मेदारी उठाऊँगा।” अलौकिक ठाट-बाट से निष्क्रमणोत्सव की शोभा यात्रा निकली और समवसरण में जाकर थावच्चापुत्र ने विधिवत् प्रव्रज्या ग्रहण की।

जैन ग्रन्थों में राम अपरनाम पद्म बलदेव, लक्ष्मण वासुदेव तथा रावण प्रति वासुदेव के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। अतः उस समय की विशेष महिलाओं का वर्णन यहाँ दिया जाता है।

सीता^२

भारतीय संस्कृति में महासती सीता एक उच्चतम आदर्श की प्रतीक मानी जाती हैं। राजा जनक एवं रानी विदेहा की पुत्री एवं राम (पद्म,

१. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—प्रथम भाग, पृ० २३१-२३५
२. प्रश्नव्याकरण प्र० १६, प्रश्नव्याकरणवृत्ति पृ० ८६, आवश्यकचूर्ण पृ० १८७, निशीथचूर्ण, पृ० १०४

बलदेव) की भार्या का नाम सीता था। राम अपने पिता दशरथ की आज्ञा से चौदह वर्ष के लिये जब वन में जाने लगे, तो सीता भी पति की अनुगामिनी बनी तथा देवर लक्ष्मण (वासुदेव) भी साथ में गये। अयोध्या से प्रयाण कर भयंकर वनों आदि को पार कर वे वैजयन्तपुर के समीपवर्ती मैदान में पहुँचे। वहाँ उनका आदर-सत्कार किया गया। एक समय राजा पृथ्वीधर के राज दरबार में दूत ने आकर यह सन्देश दिया कि राजा अतिवीर्य भरत से युद्ध की तैयारी कर रहा है। यह समाचार जानकर भ्रातृ-प्रेम से प्रेरित होकर राम और लक्ष्मण सीता सहित पृथ्वीधर के पुत्रों एवं उनकी सेनाओं को साथ लेकर राजा अतिवीर्य से युद्ध करने चल पड़े। नन्दावर्तपुरी (अतिवीर्य राजा की राजधानी) के समीप पहुँच कर अतिवीर्य की प्रबल सैन्य शक्ति देखकर सीता ने राम को सलाह देते हुए कहा, 'हे नाथ, राजा अतिवीर्य अत्यन्त बलवान, भारी सेना का अधिकारी एवं क्रूरतापूर्ण व्यवहार करने वाला है। अतः इस कार्य को बहुत सावधानी के साथ मंत्रणा करके करना उपयुक्त होगा।'^१ सीता के इस सुझाव को मानकर राम ने गम्भीर मंत्रणा कर निर्णय लिया। सैन्य पड़ाव के सन्निकट जिन मन्दिर की आर्यिकाओं के पास सीता को छोड़कर राम एवं लक्ष्मण ने मनोहर नर्तकी रूप धारण कर अतिवीर्य की राज्यसभा में प्रवेश किया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अति-मनोरम नृत्य किया। नृत्यरस में राजा अतिवीर्य को आकण्ठ डूबा जानकर राम-लक्ष्मण ने सहसा धावा बोलकर बन्दी बना लिया और उसे अपने शिविर में ले आये। लक्ष्मण जब अतिवीर्य का वध करने चला तो सीता ने उसे रोका और कर्मों का फल तथा अहिंसा का महत्त्व बताते हुए कहा कि ऐसा करना धर्म-विरुद्ध है।^२

वहाँ से आगे चलने पर वंशधर पर्वत पर ध्यानस्थ मुनि को वन्दन कर तीनों ने पूजा की तथा राम-लक्ष्मण ने मधुर भाव से स्तवन गाये तथा भक्तिभाव से विभोर होकर सीता नृत्य करने लगी।^३ वहाँ से भयंकर वन और अटवी को पार करते हुए वे लोग दण्डक वन पहुँचे। दण्डक वन के घने बाँस के जंगलों को साफ करते समय भूलवश लक्ष्मण की तलवार से 'शम्बूक' का शिर कट गया। 'शम्बूक' रावण की बहिन

१. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण—भाग २, पर्व ३७, पृ० १६०, १६४

२. वही, पृ० १६५

३. वही, पर्व ३९, पृ० १८२

चन्द्रनखा का पुत्र था और वह वहाँ 'सूर्यहास खड्ग' (एक विशेष प्रकार की साधना) की तपस्या कर रहा था। चन्द्रनखा के पुत्र की मृत्यु से क्रोधित होकर रावण राम-लक्ष्मण से युद्ध करने आया किन्तु वहाँ सीता के रूप पर मोहित होकर छलपूर्वक उठा ले गया।^१ हरण करने के पश्चात् रावण ने सीता को अपनी ओर आकृष्ट करने का बहुत प्रयास किया परन्तु सीता ने क्रोधित होकर उससे कहा, 'हे अधम पुरुष, तेरा यह कार्य नरकगमन तथा अपकीर्ति का कारण है। तू परस्त्री-गमन की इच्छा से भारी पाप कर्म बाँधकर अवनति की ओर जा रहा है। सीता के इस नीति वाक्यों का रावण पर कोई असर नहीं हुआ और उसने सीता को देवा नामक उद्यान में बन्दी सदृश रखा। अपने पति रावण को दुःखी देखकर उसकी पट्टरानी मन्दोदरी भी सीता को समझाने आई। सीता ने उससे कहा, "हे वनिते, तेरे यह वचन शास्त्रों के विरुद्ध हैं। पतिव्रता स्त्रियों के मुख से ऐसे वचन नहीं निकल सकते।" मैं पतिव्रता नारी हूँ—किसी दूसरे पुरुष का विचार मन में भी नहीं ला सकती।"^२

अन्त में राम-रावण युद्ध में राम विजयी हुए और सीता को अयोध्या ले गये। वहाँ प्रजाजनों के मिथ्या दोषारोपण के कारण पुनः गर्भवती सीता को वन में भेज दिया। सेनापति सीता को घोर अरण्य में रथ से उतार कर जब जाने लगा तब सीता ने कहा, "हे भद्र, राम को यह संदेश देना कि आपने मुझे लोक अपवाद के भय से अरण्य में भेजा जबकि ऐसी स्थिति में मेरे सतीत्व की परीक्षा लेना श्रेयस्कर था। यह मेरे भाग्य का दोष है। पर जिस प्रकार आपने मुझे एकदम त्याग दिया उस प्रकार किसी मिथ्यादृष्टि वाले पुरुष के कहने से जिन धर्म का त्याग मत करना।^३ इतना सब होने पर भी सीता के मुख से राम के प्रतिकूल एक भी शब्द नहीं निकला।^४

वन में रहते हुए सीता ने दो युगल पुत्रों को जन्म दिया। बड़े होकर उन्होंने नारद द्वारा राम की कथा तथा अपनी माता के साथ हुए दुर्व्यवहार को सुना। फलस्वरूप सब विद्याओं में पारंगत दोनों कुमार क्रोधित

१. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग २, पर्व ४४, पृ० २३७

२. वही, भाग २, पर्व ४६, पृ० २५७-२५८

३. हेमचन्द्राचार्य-त्रिषष्टिशलाकापुरुष—पर्व ७, सर्ग ८, पृ० १६०

४. देखें—पद्मपुराण, विमलसूरि।

होकर राम और लक्ष्मण से युद्ध करने चले। भयंकर युद्ध करने के बाद भी राम और लक्ष्मण उन सीता-पुत्रों को परास्त न कर सके। अन्त में नारद द्वारा सीता के पुत्रों का परिचय ज्ञात होने पर राम ने उन्हें गले लगा लिया। सीता ने अपनी पतिव्रतता प्रमाणित करने के लिये अग्नि परीक्षा दी। राम सीता को वापस अपने साथ ले जाना चाहते थे परन्तु सीता को संसार से विरक्ति हो चुकी थी अतः आत्मकल्याण हेतु पृथ्वीमती आर्यिका के पास दीक्षित होकर त्याग-तपस्या आदि करने लगीं।^१

हेमचन्द्राचार्य के अनुसार सीता ने राम से दीक्षित होने की आज्ञा ली और स्वयं ही मुष्टि केशलुंचन किया तथा जयभूषण मुनि के पास दीक्षित होकर साध्वी सुप्रभा के समुदाय में सम्मिलित हुईं।^२ अन्ततः हम इतना अवश्य कहेंगे कि अनेक विषम परिस्थितियों में भी जिस संयम का परिचय देते हुए सीता ने अपने सतीत्व के संरक्षण का महान् कार्य किया वह समस्त भारतीय नारी के लिए अनुकरणीय एवं अतिगौरव का विषय है।

मन्दोदरी^३

राजा मय एवं रानी हेमवती की विदुषी कन्या मन्दोदरी भारतवर्ष के

१. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग ३, पर्व १००, पृ० २३७
२. हेमचन्द्राचार्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व ७, पृ० १७२

सीता रामचरितमानस की प्रधान नायिका हैं। राम अवतार की सार्थकता के लिये सीता राक्षसों के संहार का मूल कारण बनीं। जैन साहित्य एवं पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर सीता में हमें एक निश्चयात्मक बुद्धिवाली, निष्कपट, सरल हृदया, आत्म सम्मान के भाव से संपन्न तथा अतिशय स्नेहमयी एवं एक आदर्श कुलवधू का चित्र पाते हैं (डा० माता प्रसाद गुप्त, तुलसीदास, पृ० ३०९)। मानस में सीता का दैवीकृत रूप विद्यमान है। वह राम की मूल शक्ति है—जब कि जैन साहित्य में सीता राम के यथार्थ गृहस्थ जीवन की सहधर्मिणी हैं। वाल्मीकि रामायण में भी जानकी को भार्या कहा गया है। (डा० श्यामसुन्दर व्यास, हिन्दी महाकाव्य में नारी चित्रण, पृ० ९९)।

जैन साहित्य एवं रामचरितमानस में सीता के चरित्र के परंपरागत गुण तो विद्यमान हैं ही किन्तु जहाँ मानस में सीता राम की छाया मात्र है और उसका अस्तित्व पृथक् नहीं है। वह अनुगता अबला नारी है, वहाँ जैन परम्परा में वह एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व से युक्त है।

३. पद्मचरित्रं प्र० ख०, ५३, १३-१४ एवं अन्य, पृ० ३४८

महान् शक्तिशाली राजा रावण की पट्टरानी थी। अपनी गुण गरिमा के कारण ही उसे राजा रावण की पट्टरानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मन्दोदरी रावण को हितोपदेश देकर सदैव सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करती रहती थी। मन्दोदरी की व्यवहार कुशलता का प्रमाण हमें निम्न-पंक्तियों में दृष्टिगत होता है—जब खरदूषण द्वारा रावण की बहिन चन्द्र-नखा का अपहरण किये जाने पर वह उसको मारने को उद्यत होता है तब मन्दोदरी कहती है, “हे नाथ, कन्या निश्चय ही पराया धन होती है, उसे पिता का घर त्यागना ही होता है। खरदूषण जो आपकी बहिन को ले गया है, वह योग्य है, कई विद्याओं में पारंगत है। यदि युद्ध में वह मारा गया तो अपहरण के दोष से दूषित कन्या को दूसरा कोई वरण नहीं करेगा अतः उसे विधवा ही रहना पड़ेगा।” मन्दोदरी के इस नीतियुक्त कथन को ध्यान में रखते हुए रावण शान्त हुआ और युद्ध करने के अपने निश्चय को त्याग दिया।^१ इसी प्रकार जब रावण सीता का अपहरण करके लाया तब भी लोकव्यवहार एवं न्याय का उत्तम ज्ञान रखनेवाली मन्दोदरी ने पति को बहुत समझाया था। यद्यपि इस पतिपरायण नारी ने पति के दुःख से द्रवित होकर सीता को रावण की पत्नी बनने की प्रेरणा दी थी। लेकिन सीता ने कड़े शब्दों से प्रतिकार कर उसे ठुकरा दिया। रावण बलपूर्वक सीता को पत्नी क्यों नहीं बना सका, इसका रहस्योद्घाटन इस प्रकार करते हुए अपनी रानी से कहा, “हे देवो, मैंने निर्ग्रन्थ मुनियों की सभा में यह प्रण लिया है कि जब तक कोई भो पर स्त्री मुझे स्वयं नहीं चाहेगी तब तक मैं बलपूर्वक उसे वरण नहीं करूँगा। अतः तुम सीता को प्रसन्न करो, ताकि मेरा असंतुष्ट मन शान्त हो सके।”

पतिपरायणा मन्दोदरी ने सीता को समझाने का बहुविध प्रयास किया परन्तु महासती सीता पर उसका कोई असर नहीं हुआ। हनुमान ने तो उसके गर्व को चूर करते हुए उसे पट्टरानी के स्थान पर दूतो का कार्य करने का उलाहना दिया साथ ही यह भी कहा कि ‘हे मन्दोदरी, तुम्हारा वह सौभाग्य तथा उन्नतरूप कहाँ गया ? जान पड़ता है कि तुम रति कार्य के विषय में अत्यन्त साधारण स्त्री हो गई हो।’^२

अन्त में रावण की पराजय के पश्चात् राम मन्दोदरी आदि रानियों को समझाते हैं। संसार की असार्थता तथा क्षणभंगुरता को देख कर मन्दो-

१. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग २, पर्व ५३, पृ० ३३१

२. वही।

दरी तथा चन्द्रनखा, आदि रानियों ने अनन्तवीर्य मुनिराज के पास जाकर आर्थिका-व्रत ग्रहण किया तथा आत्मकल्याण में जीवन व्यतीत किया।^१

कैकेयी :

बहत्तर कलाओं में प्रवीण कैकेयी उत्तरापथ के राजा शुभमति तथा रानी पृथ्वी की कन्या और राजा दशरथ की पत्नी थी। रथसंचालन-कला में विशेष निपुण होने के कारण ही उसने युद्ध के समय विशेष चातुर्य से

१. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग ३, पर्व ५८, पृ० ७७-७८

रामायण में अनेक देवी चरित्रों के साथ मन्दोदरी का चरित्र भी उत्तम माना गया है। जब हम उसके चरित्र और कृत्यों की समीक्षा करते हैं तो यह विदित होता है कि मन्दोदरी सन्धि में निपुण तथा शास्त्र में विशेष ज्ञान रखती थी। वह यह जानती थी कि राम से शत्रुता लेकर रावण का जीवन कदापि सार्थक नहीं हो सकता। इसी हेतु उसने अपने पति रावण को समझाते हुए यह परामर्श दिया कि राम से युद्ध का विचार त्याग दीजिए क्योंकि राम मानव रूप में स्वयं परमात्मा हैं। (डा० माताप्रसाद गुप्त, तुलसीदास, पृ० ३११)।

मन्दोदरी के चरित्र में समय-समय पर अपने पति को "नीच" आदि संबोधनों से संबोधित करते हुए देखते हैं। (रामचरितमानस, लंका काण्ड, ३६)।

जैन साहित्य में मन्दोदरी का चरित्र उत्कृष्ट रूप से निरूपित है, जब कि कवितावली में मन्दोदरी का चरित्र कदाचित् और भी गिर गया है। उसमें वह रावण को "मन्दमति" (कवितावली-लंका, १८-२१) और "नीच" (कवितावली, लंका, १८) तो कहती ही है साथ ही अपने पुत्र मेघनाद को भी अपशब्द कहती है।

इस तरह रामचरितमानस में मन्दोदरी का चरित्र रावण के परामर्श-दाता के रूप में उजागर हुआ है जब कि जैन सन्दर्भों में मन्दोदरी रावण की शुभाकांक्षिणी के रूप में चित्रित की गई है। जैन संदर्भों में मन्दोदरी एक सूक्ष्म कूटनीतिज्ञा तथा एक सफल दूती के रूप में मानी गई है। मन्दोदरी रावण की कूटनीति को जाननेवाली और भविष्य में उसके दुष्परिणामों को दृष्टि में रखनेवाली लंका में अकेली विदुषी महिला थी। (कवितावली-लंका-सुन्दरकाण्ड-१२)।

२. तीर्थोद्गालिक ६०३, समवायांग १५८, स्थानांग ६७२, आवश्यक नि०४०९, पञ्चमचरियं २४/३७-३८, पृ० २१५

राजा दशरथ के रथ की बागडोर संभाली थी। इस विशेष गुण तथा रूपवान् रानी से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसे वरदान माँगने को कहा। प्रवीण रानी ने दोनों 'वर' धरोहर के रूप में राजा के पास ही रखे।^१

राजा दशरथ की पत्नी कौशल्या (अपराजिता) से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण तथा सुप्रभा से शत्रुघ्न उत्पन्न हुए। रानी कैकेयी ने भी सुन्दर कान्तिमान् पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम भरत रखा गया।^२

राम ने अपने पराक्रम से सीता तथा लक्ष्मण ने अन्य राज पुत्रियों को विवाह हेतु प्राप्त कर लिया किन्तु उस समय अपने शौर्य तथा पराक्रम के प्रदर्शन का अवसर न मिलने से भरत के मन में बहुत ग्लानि उत्पन्न हुई। तदनन्तर मनोविज्ञान में प्रवीण माता कैकेयी पुत्र के इस मनोभाव को जान गई। अतः उसने भरत की इस ग्लानि को दूर करने के लिये राजा दशरथ को सलाह दी कि, "हे नाथ, मुझे भरत का मन शोकयुक्त दिखाई देता है इसलिए राजा जनक के लघुभ्राता की पुत्रियों से भरत का भी विवाह करवा दीजिये"।^३ कैकेयी की सलाह से राजा दशरथ ने वैसा ही किया।

जैन ग्रन्थ पद्मपुराण के अनुसार कैकेयी ने राम के राज्याभिषेक के समय अपने धरोहर रूपी दो वरदान माँगे। कथानुसार जिस समय राजा दशरथ ने राम के राज्याभिषेक तथा स्वयं के दीक्षित होने का संकल्प सभाजनों के सामने रखा उस समय सब जगह शोक का वातावरण व्याप्त हो गया। अन्तःपुर की महिलाएँ कर्ण क्रन्दन करने लगीं। यह सब देख कर भरत को भी संसार से विरक्ति हो गई और संन्यास लेने की सोचने लगे। वात्सल्यहृदया कैकेयी से पुत्र के भाव छिपे न रह सके। वह भरत का अभिप्राय जानकर अत्यधिक शोकमग्न हो गई। उसने सोचा कि पति तथा पुत्र दोनों ही दीक्षा धारण करने को उद्यत हैं अतः किसी निश्चित उपाय से उन्हें रोकने का प्रयत्न करूँ।^४ इस कठिन बेला में उसे पूर्व में दशरथ द्वारा दिये गये वर माँगने की स्मृति हो आई। उचित समय जानकर वह राजा दशरथ के पास जाकर उन्हें अपने प्रण की याद दिलाई और

१. (क) रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग १, पर्व २४, पृ० ४८५
(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व ७, सर्ग ४, पृ० ६५
२. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग १, पर्व २५, पृ० ४९१
३. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग २ पर्व २८, पृ० ४२
४. वही, पृ० ७५

पति के आश्वासन भरे शब्द सुनकर बोली, “हे नाथ, मेरे पुत्र के लिये राज्य प्रदान कीजिए।” इस पर राजा ने अपने जेष्ठ पुत्र राम को बुलाकर कहा, “हे वत्स, कला की पारगामिनी चतुर कैकेयी ने युद्ध में अति चातुर्य से सारथि का काम किया था—उससे प्रसन्न होकर मैंने दो वर दिये थे। वही आज माँग रही है। यदि आज मैं उन दिये हुए वरों की पूर्ति नहीं करता हूँ तो संसार के आलम्बन से उन्मुक्त होकर भरत दीक्षा ले लेगा और तुम्हारी विमाता कैकेयी पुत्र शोक से प्राण त्याग देगी।” सारी स्थिति से अवगत होने पर राम ने सहर्ष भाई भरत के लिये राज्य सिंहासन त्याग दिया और स्वयं वन में चले गये।

कैकेयी के पुत्र स्नेह के कारण भरत ने राज्य सिंहासन प्राप्त किया। परन्तु पति दशरथ के प्रव्रज्या ग्रहण करने तथा राम-लक्ष्मण के वन में जाने से कौशल्या (अपराजिता) व सुमित्रा का दुःख देख कैकेयी का हृदय दुःखी हो गया और उसने भरत से कहा, “हे पुत्र, तुमने श्रेष्ठ राज्य सिंहासन प्राप्त किया है परन्तु वह राम और लक्ष्मण के बिना शोभा नहीं देता। सुखों में पले दोनों कुमार तथा सुकुमारी सीता वनों में कहाँ भटकते होंगे? उन दोनों की माताएँ निरन्तर विलाप करती हुई दुःखी हैं अतः तुम शीघ्र उन लोगों को पुनः ले आओ, मैं भी तुम्हारे पीछे आती हूँ।” माँ की आज्ञा से भरत राम-लक्ष्मण के पास गये। भरत तथा कैकेयी दोनों ने राम को वापस अयोध्या चलने का बहुत आग्रह किया पर राम नहीं लौटे।

१. उद. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग २, पर्व ३२, पृ० ९३

जैन ग्रन्थों में कैकेयी के व्यक्तित्व का अत्यन्त सम्माननीय चित्रण किया गया है। जबकि जैनेतर ग्रन्थों में कैकेयी का चरित्र-चित्रण निन्दनीय है। कैकेयी में एक आदर्शवादी ही नहीं वरन् एक वस्तुवादी नारी का स्वरूप पाते हैं। रामायण में कैकेयी का चरित्र अप्रिय रूप से मानसकार ने चित्रित किया है। जबकि जैन साहित्य में कैकेयी एक उदारवादी धर्मचारिणी तथा विदुषी के रूप में चित्रित हुई है।

कैकेयी के हृदय में ममत्व का सागर विद्यमान था जब कि रामचरित-मानस में राम के प्रति उसकी विद्वेष भावना को चरितार्थ किया गया है। जब हम कैकेयी के चरित्र का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करते हैं तो यह प्रतीत होता है कि वह जैन साहित्य और इतिहास की सुलक्षणा नारी है। वह अपने पुत्र भरत को राम से भेंट करने के लिये अनेक बार आग्रह करती

अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि राजा दशरथ से “वर” माँग कर उन्हें प्रतिज्ञा के बन्धन से मुक्त करने, भरत को असमय संसार त्यागने से रोकने तथा राम को वन जाने पर कई अनार्य राजाओं को जीत कर चारों ओर शान्ति स्थापित करने का श्रेय कैकेयी को ही है।

जैन इतिहास में इस नारी के बुद्धिचातुर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

अंजना :

पतिव्रता नारी अंजना की गौरव गाथा, भारतीय महिलायें बहुत श्रद्धा और भक्ति से गाती हैं। अञ्जना महेन्द्रनगर के राजा महेन्द्र तथा रानी अरिदमन की अत्यन्त लावण्यमयी पुत्री थी। अपने सौ बन्धुओं के साथ बाल-क्रीड़ाओं तथा अन्य कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने में इसका बाल्यकाल व्यतीत हुआ। यौवन वय प्राप्त होने पर माता-पिता ने अंजना का विवाह राजा प्रह्लाद के शूरवीर पवनंजय के साथ तय किया। अंजना के रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर, पवनंजय विवाह के पूर्व अपने मित्र प्रहसित को लेकर अंजना के महल में गया। वहाँ गुप्त रूप से अपंनी होने वाली पत्नी का सुन्दर रूप देखकर संतुष्ट हुआ। उस समय पवनंजय ने अंजना की सखियों का वार्तालाप सुना। वसन्ततिलका ने अंजना को सम्बोधित करते हुए कहा, “हे सखी, तू वास्तव में भाग्यवान् है कि तुझे पवनंजय जैसा पति मिला—जो चन्द्रमा की किरणों के समान निर्मल एवं

है, निर्देश देती है एवं राम के प्रति शुभेच्छा प्रकट करती है—जब कि मानस में कैकेयी के इन कृत्यों का प्रतिरोध है। मेरी मान्यता में मानस के रचनाकार के मन में कैकेयी के प्रति कोई जबरदस्त पूर्वाग्रह रहा होगा।

कैकेयी के चरित्र के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्यों का सत्यापन करते हुए यह परिलक्षित है कि कैकेयी जैसी विदुषी और विवेकी नारी मन्थरा दासी के बहकावे में आकर राम को वनवास और अपने पुत्र को राजगद्दी की अभिलाषा प्रकट करती है। जैन साहित्य में मन्थरा की कुटिल बुद्धि के सम्बन्ध का कहीं भी उल्लेख नहीं है। अतः कैकेयी का चरित्र जैन साहित्य में रामचरितमानस के सभी दोषों से बचा हुआ है।

१. पउमचरियं, प्रथम खण्ड, उद्देश १५-१७; पृष्ठ १५३-१७८

दीर्घायु है^१। इस पर मिश्रकेशी ने कहा, “हे सखी, चरम शरीरी (उसी शरीर से तथा उसी भव में मोक्ष जाने वाला आत्मा चरम शरीरी कहलाता है) विद्युत्प्रभ जो धीर-वीर तथा विद्याओं का पारगामी है, वही इसका पति होने योग्य है, यह सच है कि वह थोड़े ही वर्षों में मुनि पद धारण कर लेगा, किन्तु अमृत थोड़ा भी हो तो अमृत ही है”^२। सखियों के इस वार्तालाप में अंजना का मौन पवनंजय के क्रोध व घृणा का कारण बना। पवनंजय के मन में यह संदेह हो गया कि अंजना विद्युत्प्रभ की ओर आकर्षित है। इसी सन्देह के कारण पवनंजय पत्नी अंजना का तिरस्कार बाईस वर्षों तक करते रहे। युद्ध में जाते समय भी पत्नी की शुभ कामनाओं का उत्तर अनादर व अपमान से दिया।

मार्ग में सैन्य के साथ प्रथम पड़ाव पर एक चकवी को चकवे के विरह में आर्तनाद से विरहाकुल होते देख उन्हें अपनी प्रिया अंजना की स्मृति हो आई^३। वे पत्नी के साथ किये गये कठोर व्यवहार से स्वयं ही पश्चात्ताप करने लगे। वे पत्नी से मिलने को व्याकुल हो गये और मित्र प्रहसित के साथ रात को ही अंजना के महल में पहुँचे। पवनंजय ने अपने अविवेकी कृत्य के लिये क्षमा माँगी। इस प्रकार पति को अपने शयनकक्ष में देख अंजना आनंदविभोर हो गई और पति मिलन के आनंद का उपभोग करने लगी। प्रातःकाल जब पवनंजय जाने लगे तो अंजना ने उनसे अनुरोध किया कि वे अपने यहाँ आने का सन्देश माता-पिता को अवश्य दे दें। पर लज्जावश पवनंजय ने राज्य प्रासाद में किसी को सूचित नहीं किया तथा अपनी नामांकित मुद्रिका अंजना को देकर पड़ाव की ओर चल दिये। (उस समय पवनंजय संकोच को त्याग कर अपने आने की सूचना दे देते तो इस कथा का कुछ और ही रूप होता)।

पति के समागम के कारण अंजना गर्भवती हुई। सास-श्वसुर ने पुत्रवधू को कर्लकित मानकर नगर से जाने को कहा। पिता महेन्द्र ने भी लोकलाज के कारण पुत्री को आश्रय नहीं दिया। गर्भवती अंजना अपनी सखी के साथ निर्जन वन में गई—जहाँ महामुनि अमिगगति ने अंजना के पूर्व-

१. हेमचन्द्राचार्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व ७, सर्ग ३, पृ० ४३

२. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग १, पृ० ३४३

३. (क) वही भाग १, पर्व १६, पृ० ३४५-३४६

(ख) हेमचन्द्राचार्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व ७, सर्ग ३, पृ० ४३-४५

भव के कर्म बन्धन की कहानी सुनाई। मुनि ने कहा कि, “पूर्वभव में कनकोदरी रानी के भव में तुमने जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा को किसी कमरे के मध्य में रख दिया था। उस समय वहाँ जयश्री साध्वी ने (कहीं-कहीं संयम श्री नाम भी मिलता है) बताया कि जिन प्रतिमा के अविनय के कारण तुमने घोर बन्धन बाँधा है और वही अशुभ कर्म बन्ध के कारण तुम्हें यह दुःख सहन करने पड़े हैं।^१ अतः अब इन अशुभ कर्मों का अंत हो रहा है।” महामुनि की यह वाणी सुनकर दोनों आश्वस्त हुईं और मणिचुल पर्वत की गुफा में अरिहंत प्रभु की सेवा करती हुई अपना गर्भकाल व्यतीत करने लगी। गर्भकाल पूर्ण होने पर अंजना ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया।^२ कुछ समय पश्चात् अंजना का मामा प्रतिसूर्य विद्याधर उसे एवं उसके पुत्र को अपने यहाँ ले गया।

कालांतर में पवनंजय जब युद्ध से लौटा तो अंजना को महल में न पाकर उसे तलाश करते हुए अपने श्वसुर गृह गया। वहाँ भी अंजना को न पाकर पवनंजय शोक विह्वल होकर निर्जन वन में गया और प्रण किया कि, “जब तक अंजना का पता नहीं लगेगा मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा।” पवनंजय के माता-पिता तथा प्रतिसूर्य भी पवनंजय को खोजने निकले। काफी तलाश के बाद सभी लोगों ने पवनंजय को एक अटवी में मौन तथा मृत्यु का आलिंगन करने की तैयारी में देखा। यहाँ प्रतिसूर्य ने अंजना तथा पुत्र हनुमान (हनुरूह द्वीप में पालन-पोषण) के कुशल क्षेम का वृत्तान्त कह सुनाया और पवनंजय प्रतिसूर्य के साथ नगर में गये जहाँ चिर विरहिणी अंजना से मिलकर प्रसन्न हुए। इसी अंजना के पुत्र महाशूरी हनुमान रामायण के प्रसिद्ध राम सेवक हुए हैं।

दमयन्ती^३

विदर्भ के राजा भीम की गुणवती व शीलवती रानी पुष्पदन्ती ने एक रात्रि में दन्ती हाथी का स्वप्न देखा। कालान्तर में रानी ने एक पुत्री को जन्म दिया, जिसका नाम दमयन्ती रखा गया। उसका विवाह कीर्ति व पराक्रम में श्रेष्ठ राजा नल से हुआ।

रानी दमयन्ती राजा नल के राजकार्य में उचित मलाह देती थी। दोनों प्रजा को पुत्रवत् प्यार करते थे। अपने ऊँचे विचार व विनम्र

१. रविषेणाचार्य, पद्मपुराण, भाग १, पर्व १७, पृ० ३८२

२. वही, भाग १, पर्व १७, पृ० ३९५

३. आवश्यक, पृ० २८

स्वभाव के कारण नारी समाज में उसका उच्च स्थान था। दोनों की कीर्ति चारों ओर फैल गई। इससे छोटे भाई कुबेर को क्षोभ होने लगा।^१ उसने नल के द्यूतव्यसन का लाभ उठाकर कपट से उसका राजपाट इत्यादि छोन लिया। इससे नल व दमयंती राज्य त्यागकर अरण्य की ओर चल पड़े। वन में होने वाले पत्नी के दुःखों को देखकर नल दमयंती को निद्रा अवस्था में छोड़ कर चला गया। वन में अकेली राजरानी कई कठिनाइयों को पार करके अपने पिता के घर पहुँची। वहाँ अपनी बुद्धि-विवेक से पिता को विशेष स्वयंवर का आयोजन करने की सलाह दी। नल सारथी के वेश में दमयन्ती के स्वयंवर में आया किन्तु दमयन्ती और राजा ने उसे पहिचान लिया और अन्त में दोनों का मिलाप हुआ। इस प्रकार के वियोग का कारण पूछने पर अवधिज्ञानी मुनि ने बताया कि “हे दमयन्ती, पूर्वभव में तुमने एक मुनि पर क्रोध किया तथा उन्हें बारह घंटे रोक कर रखने के दोष से तुम्हें इस भव में यह दुःख उठाना पड़ा।”

मयणासुन्दरी

तीर्थंकर मुनि सुव्रत के समय में श्रीपाल राजा (उंबरराणा) एवं मयणासुन्दरी की कथा उल्लेखनीय है। किसी बात पर क्रोधित होकर पिता ने पुत्री का विवाह कुष्ठ रोग से पीड़ित श्रीपाल नामक कुष्ठ रोगियों के नायक उंबरराणा से कर दिया। मयणासुन्दरी को आचार्य ने इस रोग से मुक्ति पाने के लिये ‘सिद्धचक्र’ का विधि सहित व्रत पालन तथा उसका माहात्म्य समझाया। नौ दिन तक विधि सहित क्रिया कर पति-पत्नी दोनों ने आर्यबिल का व्रत किया। अतः इस श्रद्धा-भक्ति एवं सिद्धचक्र के प्रभाव से श्रीपाल रोग मुक्त हो पूर्व के समान एक सुन्दर राजकुमार हो गया। श्रीपाल का कथानक जैन समाज में इतना लोकप्रिय हुआ है कि उस पर प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत में लगभग ३०-४० ग्रन्थ लिखे गये।^२

मदनसेना

भरूच बन्दर के महाराजा महाकाल की पुत्री मदनसेना श्रीपाल कुँवर की दूसरी पत्नी थी। श्रीपाल के शारीरिक बल एवं अन्य गुणों को

१. हेमचन्द्राचार्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व ८, सर्ग ३, पृ० २६५ मुनि हस्तीमलजी—आगम के अनमोल रत्न, पृ० ६३०
२. डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १७४

४६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

देखकर महाकाल ने अपनी गुणवती पुत्री मदनसेना का विवाह श्रीपाल से किया था। दोनों श्री नवकार मन्त्र के प्रभाव से सुख से जीवन व्यतीत करने लगे।^१

मदनमंजूषा

कनककेतु राजा की पुत्री मदनमंजूषा प्रतिदिन अपने दादा द्वारा निर्मित श्री ऋषभदेव जिनालय में सुबह, दोपहर एवं सन्ध्या को पूजन के लिये जाती थी तथा भक्ति भाव से पूजन करती थी। एक दिन राजकन्या ने कलात्मक ढंग से प्रभु की आंगी रचाई। यह देख राजा कनककेतु को अपनी चौसठ कलाओं में निपुण पुत्री के योग्य वर की चिन्ता हुई। इस प्रकार की चिन्ता के कारण दैवी शक्ति से मन्दिर के द्वार बन्द हो गये। श्रीपाल कुमार के मन्दिर में दर्शनार्थ आने पर द्वार खुले और अंत में मदनमंजूषा से उसका विवाह हुआ।^२

मदनरेखा

वसुपाल राजा की पुत्री मदनमंजरी सब कलाओं में निपुण थी। ज्योतिषी की भविष्यवाणी के अनुसार समुद्र के किनारे चंपा के झाड़ के नीचे जो पुरुषरत्न सोता हुआ दिखाई देगा वही तुम्हारा पति होगा। अतः श्रीपाल समुद्र से तैर कर उस राज्य के किनारे आकर सो गया और मदनमंजरी से विवाह हुआ। यहाँ धवल शेठ, डूबनायक को श्रीपाल का सम्बन्धी बताकर श्रीपाल को नीच कुल का बताने की कोशिश करता है, अन्त में भेद खुल जाता है और मदनरेखा के साथ श्रीपाल सुख से रहते हैं।^३

गुणसुन्दरी

यह राजकन्या वीणा बजाने में निपुण थी। श्रीपाल कुबड़े का रूप बनाकर उसके पास गये और इतनी सुन्दर वीणा बजाई कि राजकुमारी

१. आ० विनयविजयजी, चित्रमय श्रीपाल रास, संपा० तथा संशो० साराभाई मणिलाल, पृ० ७७
२. वही पृ० ८६
३. वही, पृ० ११२

ने हार कर उससे विवाह किया। श्रीपाल ने पुनः अपना रूप राजकुमार के समान परिवर्तित कर लिया।^१

त्रिलोक सुन्दरी

त्रिलोकसुन्दरी नामक सर्वगुण सम्पन्न सुन्दर राजकन्या से श्रीपाल ने विवाह किया था।^२

शृंगारसुन्दरी

कण्ठ की पुतलियों द्वारा पूछे गये विचित्र प्रश्नों का सही उत्तर देने पर शृंगारसुन्दरी ने श्रीपाल के गले में वरमाला डाली और विवाह किया।^३

जयसुन्दरी :

श्रीपाल राजा ने आठ चक्रों पर घूमती हुई राधा नाम की पुतली की आँख को अपने बाण से विद्ध दिया और जयसुन्दरी की प्रतिज्ञा पूरी होने पर उससे विवाह किया।^४

तिलकसुन्दरी :

सर्प के डँसने से राजकुमारी तिलकसुन्दरी की मृत्यु हो गई। उसे श्मशान ले जाते हुए राजा श्रीपाल ने देखा। श्रीपाल ने मंत्रादि से राजकुमारी के शरीर में व्याप्त सर्प के जहर को उतार दिया तथा जीवित होने पर उससे विवाह किया।^५ श्रीपाल ने सिद्धचक्र की आराधना से अगाध सुख-सम्पत्ति प्राप्त की थी।

मयणासुन्दरी एवं श्रीपाल चरित्र में सिद्धचक्र की आराधना का महत्त्व बताया गया है। यह व्रत नौ दिन का होता है। इसमें पाँच दिन तक विभिन्न अनाजों का आर्यबिल करते हैं तथा चार दिन केवल चावल ही एक समय लेते हैं। इसमें चक्रेश्वरी देवी की आराधना करने से जिस प्रकार श्रीपाल की रानियों का कण्ठ दूर होता है उसी प्रकार अन्य श्रावक

१. आ० विनयविजयजी, चित्रमय श्रीपालरास, संपा० तथा संशो० साराभाई, मणिलाल, पृ० १४८

२. वही, पृ० १५५

३. वही, पृ० १६६

४. वही।

५. वही, पृ० १७०

श्राविकाओं की व्याधि एवं कष्ट नष्ट होते हैं। इस व्रत को चैत्र एवं आश्विन माह के शुक्ल पक्ष की सप्तमी से पूर्णिमा तक करते हैं।

नोट—इस अध्याय में बाईस तीर्थंकरों की माताओं का वर्णन क्रमशः दिया है इसलिये बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत स्वामी के समय की महिलाओं का वर्णन अन्त में दिया गया है।

भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के पश्चात् तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हुए। आपका समय ईसा से पूर्व लगभग आठवीं शताब्दी माना जाता है। आप भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए। प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर आज के इतिहासकार भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

वामादेवी^१ :

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की माता वामादेवी वाराणसी के महाराजा अश्वसेन की महारानी थी। पूर्वभव के स्वर्णबाहु का जीव पुण्य प्राप्त कर तीर्थंकर गोत्रबंध कर महारानी वामा की कुक्षि से अवतरित हुआ। अर्द्धनिद्रा की अवस्था में माता ने चौदह शुभ स्वप्नों के मुख में प्रवेश करते हुए देखा। रानी स्वप्न दर्शन के पश्चात् जागृत हुई और राजा से स्वप्न दर्शन की बात कही। प्रतिभाशाली पुत्र जन्म लेगा यह जानकर रानी प्रसन्न हुई तथा सावधानीपूर्वक गर्भ का धारण-पालन करती रही। गर्भकाल पूर्ण होने पर पौष कृष्ण दशमी के दिन माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।^२ इन्द्र ने आकर माता को प्रणाम किया तथा पुत्र का जन्म कल्याणक मेरु पर्वत पर सम्पन्न किया। पुत्र जन्म की खुशी में महाराजा ने दस दिनों तक मंगल-महोत्सव मनाया और बारहवें दिन नामकरण संस्कार किया। गर्भावस्था में माता ने अन्धेरी रात में पास (पार्श्व) में चलते हुए सर्प को देखा परन्तु उससे किसी प्रकार का अनिष्ट नहीं हुआ। अतः माता-पिता ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा।

युवावस्था को प्राप्त होने पर माता-पिता ने पुत्र की अनिच्छा होते हुए भी पार्श्व का विवाह कुशस्थल के नरपति प्रसेनजित की कन्या प्रभावती से किया। अर्हत धर्म के सिद्धान्तों (अहिंसा के) से वे बाल्यकाल से ही

१. आवश्यकनियुक्ति ३८६, प्रज्ञापना ३७, सूत्रकृतांगवृत्ति, पृ० १२३

२. आ० हस्तीमलजी, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग १, पृ० २८६-२८८

परिचित थे। अतः एक दिन गंगा नदी के किनारे पंचाग्नि में तपते हुए नाग-नागिन का उद्धार किया। इस घटना का वर्णन जैन साहित्य में अतिविस्तृत हुआ है।^१ अहिंसा तथा करुणा के गुणों को प्रतिपादित करने के लिये इस दृष्टान्त पर कई कथाएँ, कविताएँ व स्तवन की रचनाएँ हुई हैं। माता-पिता से संसार-त्याग की आज्ञा प्राप्त कर पार्श्वकुमार ने भगवती दीक्षा ग्रहण की। एक समय तपस्या करते हुए पूर्वभव के तापस के जीव ने मूसलाधार वर्षा का उपसर्ग किया किन्तु दृढ़धर्मी पार्श्वनाथ ने कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त किया। केवली प्रभु की त्याग व वैराग्य-पूर्ण वाणी सुनकर अश्वसेन व वामादेवी तथा प्रभावती ने कई राज्य महिषियों के साथ दीक्षा ग्रहण की।^२

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय सुभद्रा गाथापत्नी, जो बहुपुत्रिकादेवी के रूप में समवसरण में आई थी, उसका वर्णन जैन ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है—एक समय सुव्रता आर्या अन्य साध्वियों के साथ आहार लेने के लिये सुभद्रा गाथापत्नी के यहाँ पहुँची। उस महिला ने अपने निःसंतान होने के दुःख का विवरण कहा तथा सन्तान-प्राप्ति के लिए कोई उपाय जानना चाहा। साध्वी जीवन में इस प्रकार का कोई भी उपाय बताने का निषेध है, यह जानकारी देते हुए सुव्रता साध्वी ने उन्हें दुःखविनाशक वीतराग धर्म का त्याग-मार्ग अपनाने का उपदेश दिया। सुभद्रा ने श्राविका धर्म स्वीकार किया और अन्ततोगत्वा प्रव्रजित हुई^३। अपने मन में संतान प्राप्ति की भावना गहरी होने के कारण संसार त्याग करने पर भी उस भावना को मानस पटल पर से नहीं निकाल पाई। अतः त्यागवृत्ति के नियमों का यथारीति पालन करने पर वह मृत्यूपरान्त देवलोक गई और वहाँ अपनी वैक्रिय शक्ति से कई बालकों को उत्पन्न की। अतः उसे बहुपुत्रिका देवी नाम दिया गया^४।

१. (क) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० २९०

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—पर्व ९, सर्ग ३

—तिलोयपन्नत्ति पद्मचरित, महापुराण में विवाह का उल्लेख नहीं मिलता।

२. आ० हस्तीमलजी—ऐतिहासिक काल के तीन पुरुष—पृ० १६२

३. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० ३१५-३१८

४. वही, पृ० ३२०

इस प्रकार पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित होकर उस समय की २१६ कुमारियों ने प्रव्रज्या ली जिसका वर्णन निरयावलिका और ज्ञाताधर्मकथा सूत्रों में उपलब्ध होता है। निरयावलिका सूत्र के पुष्पचूलिका नामके चौथे वर्ग में श्री, ह्री, घी, कीर्ति आदि दस देवियों का वर्णन प्राप्त होता है, जिन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में भी उन साध्वियों का उल्लेख हुआ है जिन्होंने पुष्पचूला की शिष्याओं के रूप में भगवान् पार्श्व की परम्परा में दीक्षित होकर आत्मकल्याण किया। उनका नामोल्लेख निम्नवत् है—

पुष्पचूला, काली, राजी, रजनी, विद्युत्, मेघा, शुभा, निशुम्भा, इला, रूपा, सतेरा, सौदामिनी, इन्द्रा, घना, कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, भारिका, पद्मा, वसुमति, कनका, कनकप्रभा, अवतंसा, केतुमती, वज्रसेना, रतिप्रिया, रोहिणी, नवमिका, ह्री, पुष्पवती, भुजगा, भुजगवती, महाकच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्वरा, सरस्वती, सूर्यप्रभा, चन्द्रप्रभा, पद्मावती और कृष्णादेवी।^१

इसके अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति में भी पार्श्वपत्न्यीय परिव्राजिकाओं सोमा, जयन्ती, विजया और प्रगल्भा के उल्लेख मिलते हैं^२। ये चारों परिव्राजिकायें भगवान् महावीर के समकालीन थीं।

इसप्रकार पुष्पचूला आर्या जो कि साध्वी संघ की प्रमुख थी उसके संघ की २०६ जराजीर्ण वृद्ध महिलायें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के शासन में दीक्षा ग्रहण कर साध्वीसंघ में सम्मिलित हुईं।

इन महिलाओं के वर्णन से यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि उनकी अतृप्त इच्छायें, जो उनके अवचेतन मन पर व्याप्त थीं और जिन्हें वे धार्मिक अनुशासनमय जीवन पालने पर भी नहीं निकाल सकीं उन्हीं के कारण वे जन्म-मरण से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकीं।

१. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र, द्वि० श्रु०, वर्ग १-१० तक,

२. तत्थ य सोमाजयंतीओ उप्पलस्स भगिणीओ पासावच्चिजाओ दो परिव्वाइयातो ण तरंति पव्वज्जं काऊण ताहे परिव्वाइयत्तं करेति।

—आवश्यकचूर्णि पूर्वार्ध, पृ० २८६

तथा देखिए—अर्हत् पार्श्व और उनकी परम्परा (ले० डॉ० सागरमल जैन) पृ० ४२ (पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी से प्रकाशित)

दूसरा तथ्य यह भी प्रकट होता है कि संभवतः उस काल की अधिकांश राजकन्यायें योग्य वर न मिलने के कारण आजन्म अविवाहित रहने को मजबूर होती थीं। अतः वे सब पार्श्वनाथ के प्रवचन से प्रभावित होकर दीक्षित हुईं परन्तु अतृप्त इच्छाओं का दमन करने में सफल नहीं हो सकीं। इन मानसिक कुण्ठाओं के कारण वे पुनः जन्म धारण करती रहीं और महावीर के समवसरण में आकर भी अपनी वैक्रिय शक्ति से नाट्य-कला-प्रदर्शन कीं और अपने स्थान पर लौट गई थीं।^१

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की संघ-व्यवस्था में नारी का स्थान :

आज से लगभग दो हजार आठ सौ वर्ष पूर्व ऐतिहासिक पुरुष पार्श्वनाथ ने अर्हत् धर्म को परिष्कृत किया तथा उसे सुव्यवस्थित करने के लिये संघ की स्थापना की। उन्होंने यह भी बतलाया कि मनुष्य किसी विशेष कुल, जाति या धर्म में उत्पन्न होने से ही उच्च अथवा नीच नहीं होता है। उन्होंने अपने संघ को चार भागों में विभक्त किया। उनके समय में भी महिलाओं को धार्मिक शिक्षण प्राप्त करने का अधिकार था, तथा पुष्पचूला नाम की साध्वी के नेतृत्व में सोलह हजार महिलाओं ने दीक्षित होकर आत्मकल्याण किया।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह का साधु वर्ग कट्टरता से पालन करता था। इन चारों महाव्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत का पृथक् स्थान नहीं था। इसका मतलब यह नहीं कि पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा में ब्रह्मचर्य उपेक्षित था अथवा ब्रह्मचर्य की साधना को गौण माना जाता हो। ब्रह्मचर्य-पालन भी अन्य व्रतों की तरह अनिवार्य था। पार्श्वनाथ कालीन संत विज्ञ थे अतः वे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत समझकर बहिर्द्विदान में ही स्त्री और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव कर लेते थे। अतः धन-धान्य आदि की तरह स्त्री को भी बाह्य वस्तु मान कर त्याग करते थे।^२

पार्श्वनाथ के बाद देश-काल आदि के प्रभाव से साधु-साध्वियों में कुछ शिथिलता आ गई थी। अतः महावीर ने संघ को सुदृढ़ करने के लिये ब्रह्मचर्य को अलग से स्थान दिया। साधुओं के ब्रह्मचर्य महाव्रत

१. (क) आनन्दऋषि—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र—द्वितीय श्रुतस्कन्ध वर्ग १-१०
- (ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास-भाग १, पृ० ३२१
२. (क) घमानंद कौशाम्बी—पार्श्वनाथ का चातुर्थांश धर्म—पृ० १७-१८
- (ख) कल्पसूत्र १०१

५२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

का तात्पर्य है, साधु किसी स्त्री से बातचीत न करें, किसी स्त्री के संसर्ग का ध्यान न करें, किसी स्त्री से एकान्त में अधिक वार्तालाप न करें, अल्प भोजन करें और जिस गृह में स्त्री रहती हो वहाँ न रहें ।^१

अतः तीर्थंकर पार्श्वनाथ के काल में चार व्रत या यामों का धर्म आगे चल कर महावीर के समय पाँच महाव्रत में परिणित हो गया जिससे महिलाओं को आत्मोन्नति के इस मार्ग पर जाने की अधिक प्रेरणा मिली ।



अध्याय द्वितीय

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ

जैन आगमों में वर्णित चौबीस तीर्थंकरों में महावीर अंतिम तीर्थंकर हुए, जिन्होंने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा स्थापित चतुर्विध संघ को और सुदृढ़ बनाया। वर्तमान में जैन संघ को “महावीर के शासन” के नाम से संबोधित किया जाता है। इस व्यवस्था ने जैन धर्मावलंबियों के चारों वर्ग-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं को एक सूत्र में बाँध दिया। इस व्यवस्था को सुदृढ़ तथा व्यावहारिक बनाने के लिये महावीर ने त्यागी तथा गृहस्थों के कर्तव्यों का निर्धारण किया।

इस चतुर्विध संघ की प्रमुख विशेषता यह है कि साधु वर्ग श्रावकों को आत्मानुरागी बनने की प्रेरणा देता है तथा श्रावक त्यागी धर्मगुरुओं को अल्प आवश्यकताओं की पूर्ति करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझता है। इसी प्रकार साध्वी समुदाय भी श्राविकाओं के ज्ञानवर्धन में सहयोग देकर उन्हें आत्म-उन्नति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है तथा गृहस्थ श्राविकाएँ भी उनकी सुविधाएँ एवं संरक्षण आदि का ध्यान रखना अपना परम धार्मिक कर्तव्य समझती हैं। महावीर की संघ व्यवस्था में पुरुषों को जो आध्यात्मिक अधिकार उपलब्ध थे, महिलाओं को भी वे सब प्राप्त थे, क्योंकि जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा समान है तथा केवल कर्मों के कारण वह भिन्न योनि में जन्म लेता है। अतः इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद बुद्धि नहीं रखा जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियाँ थीं। वर्धमान के धर्म संघ में चौदह हजार श्रमण तथा छत्तीस हजार श्रमणियाँ थीं।^१ संख्या देखते हुए अतिशयोक्ति हो ऐसा भास होता है, परन्तु व्यापक दृष्टि से तत्त्वों की मीमांसा की जाये तो सत्य परिस्थिति का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है, उदाहरणस्वरूप—तत्कालीन राजनैतिक वातावरण में राजाओं के वैभव में सम्मिलित रानियों का नगण्य अस्तित्व, युद्ध में अनेक वीरों की मृत्यु, श्रेष्ठ पुत्रों का अनेक कन्याओं के साथ विवाह एवं समाज में महिलाओं

१. मुनि नथमलजी—जैन दर्शन : मनन और मीमांसा-पृ० ३०

५४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

का निम्न स्थान। इन सब कारणों के साथ एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि उस समय के प्रचलित अन्य धर्म संप्रदायों में ऐसा कोई धार्मिक संगठन नहीं था, जिसमें सुरक्षित रहकर महिलाएँ आत्म उन्नति कर सकती थीं। अतः इन्हीं सब राजनैतिक तथा सामाजिक वातावरण के कारण महावीर के संघ में साध्वियाँ तथा श्राविकाओं की संख्या पुरुष वर्ग से दुगुनी थी।

तीर्थंकर महावीर ने उस समय की इन सब विषम परिस्थितियों का गहन अध्ययन करते हुए स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति आध्यात्मिक उन्नति के संपूर्ण अधिकार प्रदान किये। जैसे—पूजा, आराधना, बारह व्रतों का पालन, सामायिक आदि ग्यारह अंग सूत्रों का अध्ययन इत्यादि। इस आध्यात्मिक उत्कृष्टता के कारण धर्मनिष्ठ श्राविकाओं ने दीक्षित होकर पाँच महाव्रतों का पालन किया तथा कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त किया। स्वयं तीर्थंकर महावीर ने अनेक धर्मनिष्ठ महिलाओं को प्रव्रजित कर संघ में उच्चतम स्थान दिया। उन्होंने चन्दना जैसी तिरस्कृत नारी (दासी) से आहार ग्रहण कर जाति-पाति के निकृष्ट भेद-भाव को मिटा दिया तथा उसे प्रवर्तिनी का पद देकर संघ के वरिष्ठ आचार्य के समान अधिकार प्रदान किया। उनके धार्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर अनेक राजमहिषियों ने संसार-त्याग किया तथा उग्रतम तपस्या कर उसी जन्म में सिद्धत्व को प्राप्त किया।

इस अध्याय को चार भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम में महावीर के परिवार की महिलाओं, द्वितीय में राजमहिषियों, तृतीय में श्रेष्ठ महिलाओं का तथा चतुर्थ में दासियों का वर्णन है।

तीर्थंकर महावीर जीवन-विषयक इस अध्याय में उन महिलाओं के जीवन वृत्त पर प्रकाश डाला गया है जिन्होंने इनके धर्म-तत्त्वों को समझकर जीवन में अपनाया। जयन्ति जैसी तत्त्वज्ञानी महिला ने श्रमण धर्म के गूढ़ सिद्धान्तों का विवेचन कर अपनी शंकाओं का समाधान किया।

देवानन्दा :

देवानन्दा के पति ऋषभदत्त वैशाली गणराज्य के पश्चिम स्थित

१. कल्पसूत्र २, भगवती, ४४२-४४३, ज्ञाताधर्मकथा-१००, समवायांगवृत्ति (अभयदेव), पृ० १०६, आचारांग २, १७६, आवश्यकनियुक्ति ४५८, विशेषावश्यकभाष्य १८३९ आदि

गंडकी नदी के तटवर्ती उपनगर ब्राह्मण कुण्डपुर के मुखिया थे। ऋषभदत्त व देवानन्दा जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के शासनानुयायी थे, पति-पत्नी दोनों श्रमणोपासक थे। देवानन्दा सुकुमार व सुन्दरवदना थी। रूप के अनुरूप ही उनका सुकुमार स्वभाव था। भावी तीर्थंकर महावीर के जीव के देवानन्दा के गर्भ में प्रविष्ट होते ही उसने परम्परानुसार क्रम से चौदह महास्वप्न देखे।^१

स्वप्न देखकर तुरन्त ही वे शय्या से उठकर अपने पति ऋषभदत्त के शयनागार में पहुँचीं और मधुर शब्दों में इन अद्भुत चामत्कारिक स्वप्नों को बताया और उत्सुकता से पूछा—“स्वामी, ये शुभ अशुभ, हैं अथवा, कृपया इसका फल तो समझाइए।” ऋषभदत्त ने स्वप्नों का वर्णन करते हुए बताया “प्रिये स्वामिनी, तुम्हें सर्वगुण सम्पन्न पुत्र की प्राप्ति होगी।”

देवानन्दा यह जानकर सन्तुष्ट हुई तथा प्रसन्नतापूर्वक गर्भ की रक्षा करने लगी। गर्भ के अनुकूल प्रभाव से देवानन्दा के शरीर की शोभा, कांति और लावण्य भी बढ़ने लगा। इसप्रकार गर्भ काल के ८२ दिन बीत गए।

गर्भहरण :

८२ दिन के पश्चात् मध्य रात्रि को माता देवानन्दा ने स्वप्न देखा कि जो १४ स्वप्न उन्होंने कुछ दिन पूर्व देखे थे उन स्वप्नों को किसी ने चुरा लिया है।^२ जैन अनुश्रुत के अनुसार इन्द्र ने देवानन्दा के गर्भ से महावीर के जीव को हरिणैगमेषि देव द्वारा अपहृत कराकर कुण्डपुर के नायक क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया। उसी समय रानी त्रिशला ने चौदह मंगल स्वप्न देखे। इन स्वप्नों का विस्तृत वर्णन कई ग्रन्थों में मिलता है। देवानन्दा अपने स्वप्नों को चुराते हुए देख अत्यन्त व्यथित हुई तथा तत्काल शय्या से उठकर यह आकस्मिक घटना अपने पति को बताई।

१. कल्पसूत्र प० १४ चौदह स्वप्न के नाम :—१. हाथी, २. वृषभ, ३. सिंह, ४. लक्ष्मी, ५. पुष्प माला, ६. सूर्य, ७. चन्द्र, ८. स्वर्ण कलश, ९. समुद्र, १०. सिंहासन, ११. सरोवर, १२. देवविमान, १३. रत्नों की राशि और १४. अग्नि

२. दिगम्बर परम्परा में देवानन्दा को महावीर की माता मानने से निषेध किया गया है, गर्भ परिवर्तन व पुनर्स्थापन को दिगम्बर सम्प्रदाय मान्यता नहीं देता।

माता देवानन्दा का नाम पुनः महावीर के केवल-ज्ञान के पश्चात् चौदहवें वर्षावास के समय आता है। महावीर ब्राह्मणकुण्ड के पास बहु-साल उद्यान में ठहरे थे। महावीर का आगमन सुनकर ऋषभदत्त बहुत प्रसन्न हुए और पत्नी देवानन्दा के साथ रथारूढ़ हो बहुसाल उद्यान में पहुँचे। विधिपूर्वक वन्दन, नमस्कार कर सभा में बैठे व भगवान् के उपदेश सुनने लगे। देवानन्दा तीर्थंकर महावीर को निर्निमेष दृष्टि से देखने लगी। महावीर की ओर ज्यों-ज्यों वह निहारती, अत्यन्त रोमांचित होती जाती थी। उनका वक्ष उभरता जा रहा था, साथ ही आँखों से हर्ष के अश्रु बह रहे थे। उन्हें स्वयं भी यह अनुमान नहीं हो पा रहा था कि यह सब क्या हो रहा है? अकस्मात् उनकी कंचुकी टूटी और उनके स्तनों से दूध की धारा बह निकली। उनका पुत्र-वात्सल्य उमड़ आया।^१

यह दृश्य देखकर महावीर द्वारा दीक्षित गौतम गणधर ने महावीर से देवानन्दा के इन शारीरिक भावों के बारे में उत्सुकता से प्रश्न किया, “भगवान्! आपके दर्शन से देवानन्दा का शरीर पुलकित क्यों हो गया है? नेत्रों में हर्ष के अश्रु क्यों आ गये और उनके स्तनों से दूध की धारा क्यों बहने लगी?” भगवान् महावीर ने उत्तर दिया, “गौतम! देवानन्दा मेरी माता हैं और मैं उनका पुत्र हूँ। देवानन्दा के शरीर में जो भाव प्रकट हुए उनका कारण पुत्रस्नेह ही है।”

ऋषभदत्त व देवानन्दा ब्राह्मण होते हुए भी जीव, अजीव, पुण्य-पाप आदि तत्त्वों के ज्ञाता व श्रमणोपासक थे। पार्श्वनाथ परम्परा को मानने वाले थे। अतः भगवान् महावीर ने महती सभा में अपनी माता देवानन्दा एवं पिता ऋषभदत्त को उपदेश दिया तथा उनके दीक्षित होने की भावना जानकर उन्हें दीक्षा दी।

देवानन्दा ने साध्वी चन्दनबाला के नेतृत्व में रहकर संयम का पालन किया तथा ११ अंगों का अध्ययन किया एवं कई प्रकार के तप, व्रतों से वर्षों तक संयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की।^२

त्रिशला^३

इस महान् नारी को युग के एक तेजस्वी एवं महान् तपस्वी पुत्र वर्ध-

१. कल्पसूत्र—

२. भगवती सूत्र, श० ९-उ० ६-१० सूत्र ३८२

३. आवश्यकचूर्णि, प्र०, पृ० २४५, कल्पसूत्र २१, विशेषावश्यकभाष्य १८४९, तीर्थोद्गालिक ४८७ आदि।

मान की जननी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण वे तत्कालीन महिला जगत् में पूजनीय एवं वंदनीय थीं।

इस महान् स्त्री का जीवन तीर्थंकर महावीर की माता होने के कारण धन्य हो गया। वे क्षत्रियकुण्ड के राजा सिद्धार्थ की धर्मपत्नी तथा वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष महाराजा चेटक की सर्वगुण सम्पन्न सहोदरा थीं।^१

एक रात्रि रानी त्रिशला^२ अपने शयनागार में शयन कर रही थीं। उनका शयनागार कई प्रकार के चित्रों से सज्जित तथा तलभाग मणिरत्नों से प्रकाशित, धूप, द्रव्य आदि सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित था। इस शुभ रात्रि के अन्तिम प्रहर में अर्ध जागृत व अर्ध सुप्तावस्था में उन्हें समस्त दुःखों का अपहरण करनेवाले सुखदायक चौदह स्वप्न दिखाई दिए। इन विस्मयकारी मंगल स्वप्नों को देखकर रानी शय्या से उठी और इष्ट देव का स्मरण कर राजा सिद्धार्थ के शयन कक्ष में गई। नम्र व मृदु सम्बोधन से उन्हें जगाती हुई, स्वप्नों का वर्णन करने के पश्चात् आतुरता से स्वप्नों का फल जानने की इच्छा प्रगट की।^३ राजा सिद्धार्थ, अपनी रानी के मुख से स्वप्नों का वर्णन सुनकर हर्षित हुए। अपने स्वाभाविक बुद्धि विज्ञान से उन्होंने स्वप्नों का अर्थ बतलाते हुए कहा—“हे देवानु-प्रिये! यह स्वप्न शुभ, श्रेष्ठ एवं मंगलकारी है। तुम एक उत्तम गुणोंवाले तेजस्वी तथा पराक्रमी पुत्र की माता बनोगी।” रानी त्रिशला पति के इस कथन से सन्तुष्ट व प्रसन्न हुई।

प्रातःकाल राजा ने स्वप्न-विचार विशेषज्ञों से भी इन स्वप्नों का भावार्थ पूछा। विशेषज्ञों ने प्रत्येक स्वप्न का भिन्न-भिन्न अर्थ बताते हुए अन्त में कहा, “हे राजन्! आपके सिंह समान निर्भय व दिव्य विभूतियों वाला पुत्र होगा, वह या तो चक्रवर्ती राजा होगा या धर्मचक्र की स्थापना करेगा। अपने भावी पुत्र के गुणों की महिमा सुनकर माता त्रिशला का रोम-रोम हर्ष से पुलकित हो उठा। वह अपने गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा के प्रति सावधान व सचेष्ट हो गई।

माता त्रिशला गर्भ का पोषण करती हुई शुभ चिन्तन में अपना समय व्यतीत करती थी। शनैः शनैः गर्भ की वृद्धि होने लगी। गर्भ के हलन-

१. (क) आयारचूला १५।२५, (ख) जैन दर्शन-मनन और मीमांसा, पृ० २०

२. दिगम्बर परम्परा में चेटक की पुत्री का नाम प्रियकारिणी उल्लिखित है। उत्तरपुराण, पृ० ४६०—आचार्य गुणभद्र

३. कल्पसूत्र—३७

चलन से माता को कभी कष्ट का अनुभव होता व कभी आनन्द का । करुणा एवं अहिंसा की प्रतिमूर्ति महावीर ने गर्भ में यह सोचकर कि उनके हलन-चलन से माता को कष्ट न हो इसलिए उन्होंने हलन-चलन बन्द कर दिया । अचानक गर्भ के स्थिर होने से रानी त्रिशला को आशंका हुई कि किसी देव या व्यंतर ने मेरे गर्भ का हरण तो नहीं कर लिया ? या वह गल गया या मर गया ? इन अशुभ शंकाओं से रानी त्रिशला का मुख ग्लानि से निर्जीव-सा हो गया । अंतःपुर में चिन्ता की लहर दौड़ गई, राज-भवन का समस्त आमोद-प्रमोद एवं मंगलमय वातावरण शोक और चिन्ता में परिणत हो गया । सूचना पाकर राजा सिद्धार्थ भी चिंतित हो गये तथा समस्त राज कर्मचारो किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये । गर्भस्थ पुत्र ने अवधिज्ञान द्वारा माता की यह शोकाकुल अवस्था और राजभवन की विषादमयी स्थिति को देखा और सोचने लगे कि अहो ! मैं तो माता की अनुकम्पा व भक्ति से प्रेरित होकर निश्चल और निस्पन्द हुआ था पर इसका परिणाम विपरीत हुआ । अतः माता की मनोदशा जानकर बालक महावीर ने अपने शरीर का एक अंग हिलाया । रानी त्रिशला गर्भ के हलन से पुनः सन्तुष्ट हुई । माता-पिता के अत्यधिक वात्सल्य स्नेह की प्रतीति उन्हें गर्भ में ही हुई । अतः महावीर ने यह निर्णय किया कि जब तक मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक मैं संसार-त्याग नहीं करूँगा ।^१ त्रिशला रानी भी गर्भ के कुशल-क्षेम का ध्यान रखती हुई आनन्द से रहने लगी । एक समय गर्भ के प्रभाव से त्रिशला रानी को उत्तम दोहद (इच्छा) हुआ कि मैं राज्य में सभी प्राणियों की हिंसा बन्द करवाने की घोषणा करवाऊँ, दान दूँ, गुरुजनों की अच्छी तरह अभ्यर्थना करूँ, जिन मंदिर में पूजा करवाऊँ, हाथी के सिंहासन पर बैठकर छत्र धारण करूँ । चामर आसपास हों, सामने पताकाएँ फहरा रही हों, वाद्यियों से दिशाएँ गूँज रही हों, आगे जन-समुदाय जय-जय शब्द कर रहे हों, तब मैं उद्यान की निर्दोष क्रीड़ा करूँ । राजा ने रानी त्रिशला के पूर्वोक्त समस्त मनोरथ पूर्ण किये ।^२ उनके किसी भी दोहद की अवगणना नहीं की । इसी प्रकार गर्भ को सुखपूर्वक धारण करती हुई, चैत्र मास की शुक्ल त्रयोदशी के चित्रा नक्षत्र में नवमास व साढ़े सात दिन सम्पूर्ण होने पर त्रिशला ने स्वर्णिम आभा से युक्त शरीरवाले पुत्र को जन्म दिया । प्रातःकाल अंतःपुर की दासी प्रियवंदा ने राजा सिद्धार्थ को पुत्र-जन्म की बधाई दी । इस

१. कल्पसूत्र ४९, विनयविजयजी की सुबोधिका टीका का हिन्दी भाषांतर ।

२. कल्पसूत्र ५०

शुभ संदेश से अतिहर्षित हो राजा ने मात्र मुकुट छोड़कर धारण किये हुए समस्त आभूषण दासी को उपहार में दे दिये और उसे दासत्व से मुक्त कर दिया ।

आज क्षत्रियकुण्ड की सजावट का कहना ही क्या ? क्षत्रियकुण्ड का हर नर-नारी अतीव प्रसन्न था, वैशाली के राजा, महाराजा, एवं नर-नारी ही राजप्रासाद में नहीं आये अपितु स्वर्ग के देवता भी महावीर के जन्म के समय भूतल पर उतर आये । चारों ओर हर्ष साकार रूप ले रहा था । परम्परानुगत प्रणाली के अनुसार इस उत्सव की खुशो में बन्दी-गृह के समस्त बन्दियों को मुक्त करने की राजा सिद्धार्थ ने आज्ञा दी । राज-कोष से याचकों व सेवकों को मुक्तहस्त से दान दिया गया । माता त्रिशला के हर्ष को प्रकट करने के लिए तो विद्वानों व कवियों के पास शब्द ही नहीं थे । ऐसा पुत्र-रत्न पाकर माता त्रिशला ही नहीं बल्कि सारा नारी जगत गौरवान्वित हो उठा । बालक के गर्भ में आने के साथ ही राज्य में धन-धान्य की वृद्धि होने के कारण माता ने अपने शिशु का नाम 'वर्द्धमान' रखा ।

माता त्रिशला सामान्य पुत्र की जननी नहीं थीं । उन्होंने त्रिकालदर्शी जिनेन्द्र को जन्म दिया था, जिसकी सेवा करने को सुरेन्द्र लालायित रहते थे । सौधर्म इन्द्र ने अवधिज्ञान से प्रभु के जन्म को जाना, जानकर परिवार सहित माता त्रिशला के निवास स्थान पर आये एवं उन्हें प्रणाम किया । भोगंकरा आदि नाम की छप्पन दिक् कुमारियों ने बालक व माता का सूतिका कर्म किया ।^१ तत्पश्चात् सुरेन्द्र ने प्रभु का जन्मोत्सव मनाया ।

शनैः शनैः अपनी बालक्रीड़ा से माता-पिता को आनंदित करते हुए वर्द्धमान बड़े होने लगे । एक समय नगर के बालक आम्र वृक्ष के आसपास लुका-छिपी खेल रहे थे । इतने में उन्होंने एक भयंकर सर्प को झाड़ से उतरते देखा । भय से क्रन्दन करते हुए बालक भाग खड़े हुए पर वर्द्धमान तो निडर थे, दूसरे बच्चों को सर्प डस न ले इस हेतु दया की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने साँप को जोर से पकड़ा और रस्सी के समान पूर्ण शक्ति से दूर फेंक दिया । बालक उनकी इस निडरता से बड़े प्रभावित हुए और फिर खेल में मग्न हो गये । यह बात माता त्रिशला के कानों में पड़ी,

१. कल्पसूत्र ५२; पृ० ५२; त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०-१८

माता ने पुत्र की बलैया लेकर प्यार से छाती से लगाया और 'बोर' नाम से सम्बोधित करने लगी।

शनैः शनैः वर्द्धमान ने यौवन वय में पदार्पण किया। राजमहल के राजरंग, युवा मित्रों की गोष्ठी तथा भौतिक जीवन में उनका मन नहीं रम सका। जब मित्रों व राजमहल की दासियों द्वारा यह संदेश माता त्रिशला तक पहुँचा तब वे व्याकुल हो उठीं। अपने किशोर पुत्र की भौतिक जीवन के प्रति अरुचि देखकर उसके भविष्य के प्रति चिन्ताकुल होकर कुमार वर्द्धमान के पास स्वयं गईं। माता का अभिवादन करने के पश्चात् पुत्र के पूछने पर वात्सल्य भाव से त्रिशला ने कहा, "पुत्र, तुमने यौवन में पदार्पण किया है, अब गृहस्थ जीवन में पदार्पण करो।"

कुमार वर्द्धमान की चिन्तन धारा तो गृह-त्याग तथा आत्मकल्याण करने की ओर चल रही थी। वे अपनी अन्तर्व्यथा माता को दिखाकर गृह-त्याग की आज्ञा माँगने का विचार कर रहे थे, पर माता के वात्सल्य स्नेह के सामने वे मौन रहे। पुत्र के अंतर्द्वन्द्व को समझते हुए माता ने पूछा, "पुत्र, तुम क्या चाहते हो?" इस पर वर्द्धमान बोले, "माता, मैं गृहस्थ जीवन से दूर रहकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहता हूँ।" इन शब्दों को सुनते ही माता त्रिशला अकल्पनीय पीड़ा से सिहर गई। वह बोली— "कुमार, मैं यह क्या सुन रही हूँ? रात-रात जागकर जो सपने मैंने सँजोये थे, वे क्या इस प्रकार धूमिल हो जायेंगे? क्या मैं तुम्हें देखे बिना जीवित रह सकूंगी? क्या मैं महलों में सुख-भोग करूँ और तुम सुकुमार कंचनकाया वाले मेरे लाल, शीत, गर्मी व वर्षा को सहन करो और मैं माता बनकर तुम्हारा यह कष्टपूर्ण जीवन देखती रहूँ? नहीं। नहीं कुमार, यह कदापि नहीं हो सकता।"

अनिच्छा होते हुए भी वर्द्धमान ने बहुत नम्रता से माता की आज्ञा को शिरोधार्य किया। माता त्रिशला पुत्र के इस हृदय परिवर्तन से आनन्द विभोर हो उठीं।

राजा सिद्धार्थ तथा रानी त्रिशला ने एकमत से अपने समक्ष गौर-वान्वित राजवंश की लावण्य एवं गुणों से अलंकृत राजकुमारी यशोदा से अपूर्व धूमधाम व सजधज के साथ वर्द्धमान कुमार का विवाह किया। सर्वगुण सम्पन्न पुत्रवधू यशोदा को पाकर माता त्रिशला स्वयं को धन्य अनुभव करने लगीं। आशा की किरण उन्हें मानो दिखाई देने लगी

कि कदाचित् अब मेरा पुत्र संन्यास ग्रहण की अभिलाषा को त्याग देगा ।

कुछ वर्षों के अनन्तर यशोदा ने कन्या को जन्म दिया, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया । प्रियदर्शना, माता त्रिशला की गोद में खेलने लगी । माता त्रिशला आत्मिक सुख का अनुभव करने लगीं ।

महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे । बहुत वर्षों तक श्रावक धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो पापों के लिए प्रायश्चित्त किया, चतुर्विध आहार का त्याग कर संथारा ग्रहण किया और मरणान्तिक संलेखना से देह त्याग कर बारहवें स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए^१ ।

किसी भी पत्नी का नाम निर्देश न करके वर्द्धमान स्वामी का अनेक कन्याओं के साथ पाणिग्रहण बतलाया गया है ।^२

यशोदा^३ :

वर्द्धमान महावीर को जीवन सहचरी यशोदा, वसंतपुर के महासामन्त समरवीर राजा की पुत्री थी^४ । अत्यन्त सुन्दर व गुणवान् पुत्रवधू को पाकर माता त्रिशला अति प्रसन्न थीं । मानव श्रेष्ठ पति वर्द्धमान की सहधर्मिणी होने से यशोदा अपने जीवन को धन्य मानती थी । पति की त्यागमयी मनोकांक्षाओं को समझकर पतिपरायणा यशोदा ने अपनी मनो-वृत्तियों को उनके अनुरूप मोड़ दिया था । कालान्तर में सफल दाम्पत्य जीवन के फलस्वरूप उन्हें एक कन्या की माता बनने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसका नाम प्रियदर्शना रखा गया ।^५

विवाहोपरान्त भी कुमार वर्द्धमान का मन सांसारिकता में लिप्त न हो पाया और वे अपनी सहधर्मिणी यशोदा को संसार की असारता के बारे में समझाने लगे । वे राज वैभव से दूर रहते, धरती पर सोते तथा सादा भोजन करते । यशोदा भी पति के विराग भाव को समझते हुए

१. आवश्यकचूर्णि, आचार्य जिनदास गणि, भाग १, पृ० २४९
२. चउप्पन्नमहापुरिसचरिय पृ० २७२
३. आचारांग, २, १७७, कल्पसूत्र १०९, आवश्यकभाष्य ७९-८०, आवश्यक-चूर्णि, प्र०, पृ० २४५, ४१६ उत्तराध्ययनवृत्ति पृ० १०१ विशेषावश्यक-भाष्य, १८७४-५
४. हरिवंशपुराण—दिगम्बर परम्परा महावीर को अविवाहित मानती है । कल्पसूत्र—कलिंग नरेश जितशत्रु की पुत्री थी यह उल्लेख भी आता है ।
५. त्रिषष्टिशलाकापुरुष पर्व १०, सर्ग २, पृ० २४

त्यागवृत्ति से रहती, उन्हें किसी प्रकार कष्ट न हो, उसकी सावधानी रखती। सांसारिक सुखों की नश्वरता तथा भौतिक जीवन की क्षणभंगुरता के उपदेशों को अपने पति से आदरपूर्वक सुनती तथा आचरण में लाने का प्रयत्न करती। पति वर्द्धमान के इस कथन पर कि मृत्यु को कौन रोक सकता है, संसार असार है, विजयो पुरुष वही कहलाता है जो कि संसार के विषय भोगों से दूर रहकर आत्म-कल्याण में लीन हो जाये। यशोदा अपने पति के सुख में अपना सुख मान कर संतोष करती थी। वह कहती, “नाथ ! आपका सुख जगत् के सुख में है, मेरा सुख आपके सुख में है।” दीक्षा के समय विदा होते हुए वर्द्धमान स्वामी से यशोदा ने कहा, “आर्य-पुत्र ! शरद् ऋतु में क्षत्रिय, प्रवास व संग्राम के लिए जाते हैं, क्षत्राणियाँ अपने शूरवीर पति को कुंकुम, केशर से तिलक कर उन्हें विदा देती हैं, आप तो संसार जीतने के लिए प्रयाण कर रहे हैं अतः आपका मार्ग सरल हो, आप विजयी हों।”

इस महान् नारी ने स्वयं के सुखों की आहुति देकर पति महावीर के मार्ग को आलोकित किया। यह नारी के मौन त्याग का अनूठा व दुर्लभ उदाहरण है।

यशोदा-मूल्यांकन

महावीर की सहधर्मिणी यशोदा के जीवन पर जैन साहित्य में विस्तार से प्रकाश नहीं डाला गया है। इस महान् त्यागमयी नारी के जीवन का बड़ा भाग अज्ञात ही है। वर्द्धमान महावीर भ्रातृ-स्नेह के वशीभूत होकर जब दो वर्ष गृह में अनासक्त भाव से रहे तब यशोदा ने उनकी किस प्रकार सेवा की ? महावीर की प्रव्रज्या के समय यशोदा की क्या मनोदशा थी ? पति के दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने अपना जीवन कैसे व किन मनोभावनाओं के बीच व्यतीत किया ? इस सबका विस्तृत वर्णन किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं हो पाया। ये सब प्रश्न पहेली बनकर जिज्ञासु के सामने उपस्थित हो जाते हैं। यशोदा के मनोभावों और अनुभूतियों की केवल कल्पना ही की जा सकती है, उनका मानसिक चिन्तन व मनोभावों का चित्रण केवल कल्पना के विषय ही रह जाते हैं। इस आदर्श नारी ने यौवन में पति की त्यागवृत्ति में सहयोग दिया तथा शेष जीवन भी भोगों से दूर आत्मकल्याण में व्यतीत किया ऐसा प्रतीत होता है।

रामायण में जिस प्रकार लक्ष्मण की जीवन सहचरी उर्मिला के जीवन, मनोदशा तथा क्रियाकलापों की उपेक्षा की गई है, उसी प्रकार जैन साहित्य में वर्द्धमान महावीर की जीवन सहचरी यशोदा की जीवन-ज्ञाँकी तथा उनके मानसिक मनोभावों की सर्वथा उपेक्षा की गई है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में गौतम बुद्ध की पत्नी यशोधरा के जीवन की घटनाओं के दिग्दर्शन की भी उपेक्षा की गई है, ऐसा प्रतीत होता है।

प्रियदर्शना^१ :

प्रियदर्शना माता यशोदा तथा उस समय के महान् तपस्वी, विचारक वर्द्धमान महावीर की इकलौती पुत्री थी। राजवंश की परम्परा के अनुसार उसे कई कलाओं की शिक्षा दी गई थी। यौवनारूढ़ होने पर महावीर की बहिन सुदर्शना के पुत्र राजकुमार जमाली से इसका विवाह हुआ था। यह परिवार अपने युग का अत्यधिक सम्पन्न, वैभवशाली एवं प्रतिष्ठित था^२।

कई स्थानों पर उपदेश देते हुए तीर्थंकर महावीर क्षत्रियकुण्ड पधारे। सर्वज्ञ महावीर का आगमन जान नगर-निवासी भक्ति और श्रद्धा से वन्दन व उपदेश सुनने को उस ओर चल पड़े। जमाली भी अपनी पत्नी प्रियदर्शना सहित प्रभु की वन्दना करने आये। समवसरण में धर्मोपदेश श्रवण कर उन्हें अर्हन्त-धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न हुई। अर्हन्त के उपदेश से प्रबोध पाकर तथा गुरुजनों की अनुमति से जमाली और प्रियदर्शना ने दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। जमाली ने पाँच सौ पुरुषों के साथ तथा प्रियदर्शना ने एक हजार महिलाओं के साथ तीर्थंकर महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण की^३। प्रियदर्शना ने सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा वह आर्या चन्दना के साध्वी संघ में सम्मिलित होकर उग्र तप करने लगी।

एक समय श्रावस्ती के कोष्ठक उद्यान में श्रमण जमाली अपने पाँच

-
१. आवश्यकभाष्य ८०, कल्पसूत्र १०९, आचारांग २, १७७, आवश्यकचूणि प्र० पृ० २४५, ४१६, उत्तराध्ययन वृत्ति पृ० १०१, विशेषावश्यक भाष्य, २८२५, २८३२
 २. (क) भगवतीसूत्र, २-६-३-३३।
(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १४४
 ३. भगवती शतक ९।३।६।

सौ साधुओं के साथ ठहरे हुए थे। संयम और तप की कठोर साधना से जमाली का शरीर रोगों से घिर गया, विपुल वेदना के वशीभूत होकर उन्होंने साधुओं से कहा, “हे देवानुप्रिय ! शीघ्र बिछौना करो (सथारा) साधु बिछौना करने लगे। असाध्य पीड़ा से व्याकुल होकर जमाली बार-बार साधुओं से पूछने लगे तो साधुओं ने क्रिया पूर्ण होने के पहिले ही कह दिया कि बिछौना हो गया। जब जमाली ने जाकर देखा तो कार्य पूर्ण नहीं हुआ था। यह देखकर जमाली की महावीर द्वारा उपदेशित सैद्धान्तिक धारणा हिल गई। अतः किया जा रहा है, ऐसे कार्य को, “किया जा चुका है”—ऐसा कहना असत्य है इस सिद्धान्त को उन्होंने मान्य किया तथा दूसरे साधुओं को भी यह सत्य अंगीकार करने को कहा। कुछ श्रमण इस सिद्धान्त को मानकर जमाली के साथ रहे और कुछ इसे अमान्य कर तीर्थंकर महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये।

साध्वी प्रियदर्शना ने भी इस सिद्धान्त की चर्चा सुनी तो मौलिक चिन्तक तथा सत्यशोधक साध्वी को इस सिद्धान्त में भी सत्य का आभास प्रतीत हुआ। बहुरतवाद कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ही यथार्थ है तथा वही स्पष्ट रूप से किया हुआ कहा जा सकता है। साध्वी प्रियदर्शना ने अपनी बुद्धि व चितन के आधार पर स्त्री जाति सुलभ पूर्व प्रीति-स्नेह के कारण एक हजार साध्वियों के साथ जमाली के मत को स्वीकार किया।

एक समय साध्वी प्रियदर्शना अपने साध्वी संघ के साथ विहार करती हुई श्रावस्ती नगर के ढंक नामक कुम्हार के बाड़े में ठहरी हुई थीं। यह अर्हन्त धर्म के सिद्धान्तों पर विश्वास करने वाला परम श्रावक था। उसने साध्वी प्रियदर्शना का भ्रम में पड़ा देखकर विचार किया कि किसी भी उपाय से यदि मैं इन्हें ठीक राह पर ला दूँ तो श्रेयस्कर होगा। यह सोचकर उसने एक समय बाड़े में से मिट्टी के पात्रों को इकट्ठा करते समय एक जलता हुआ तिनका बहुत ही गुप्त रीति से साध्वी प्रियदर्शना के वस्त्र पर फेंका। कुछ समय पश्चात् वस्त्र को जलता हुआ देख प्रियदर्शना साध्वी बोली—“अरे श्रावक ढंक, तुम्हारे प्रमाद से मेरा वस्त्र जल गया”। इस पर ढंक ने कहा—साध्वजी ! आप असत्य बोल रही हैं। आपके मतानुसार जब पूर्ण वस्त्र (सारा) जल कर राख हो जाय तभी उसे ‘जला’

१. (क) विशेषावश्यकभाष्य, प. २३२५

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १४७

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ । ६५

हुआ कह सकती हैं। जलते हुए को जला हुआ कहना यह तो श्री अर्हन्त का वचन है^१।

यह सुनते ही साध्वी प्रियदर्शना को शुद्ध बुद्धि उत्पन्न हुई, उनका भ्रम दूर हो गया। वे बोलीं—“श्रावक ढंक, तुम्हारा कहना यथार्थ है। जो किया जा रहा है उसे किया हुआ कह देना, ऐसा सर्वज्ञ का कथन सत्य है”। अपनी भूल पर पश्चात्ताप करती हुई साध्वी प्रियदर्शना जमाली के सिद्धान्त को त्याग कर अपने साध्वी समुदाय के साथ तीर्थंकर महावीर के संघ में पुनः सम्मिलित हुईं।

सुदर्शना^२ :

तीर्थंकर महावीर की सहोदरा सुदर्शना श्रमण साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण महिला के रूप में जानी जाती हैं। इनका विवाह क्षत्रियकुण्ड के एक अत्यन्त सम्पन्न तथा प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। इन्हें जमाली नामक एक प्रतिभा सम्पन्न, उदारमना, विवेकशील पुत्र की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त था। इसी इकलौते पुत्र का पाणिग्रहण संस्कार उन्होंने वर्द्धमान महावीर की सर्वगुण सम्पन्न विदुषी कन्या प्रियदर्शना के साथ किया। परम्परानुसार कुलवृद्धि को ध्यान में रखते हुए अन्य कुलीन आठ कन्याओं का भी जमाली के साथ विवाह किया। इस प्रकार सुदर्शना का तीर्थंकर महावीर से निकटतम सम्बन्ध था। वे स्वयं भी श्रमणोपासिका थीं और महावीर के उपदेशों व दार्शनिक कथनों पर श्रद्धा-भक्ति रखती थीं।

एक समय तीर्थंकर महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर जमाली ने महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना माता-पिता के सामने प्रकट की। पुत्र वियोग की आशंका से माता-पिता की आँखों में आँसू आ गये। अपनी एकमात्र संतान द्वारा युवावस्था में संसार त्याग व दीक्षित होने की बात सुनकर माता सुदर्शना शोक विह्वल हो गईं और इस आघात को सहन न कर सकने के कारण मूर्च्छित हो गईं। स्वस्थ होने पर माता ने स्वपुत्र को इस आयु में प्रव्रज्या नहीं लेने हेतु हर प्रकार से समझाया। पर

१. (क) भगवतीसूत्र, शतक १५ ।

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र-पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १४७

२. आचारांग २, १७७, कल्पसूत्र १०९, विशेषावश्यकभाष्य २८०७, आवश्यक-चूर्ण प्र०, पृ० २४५, ४१६, आवश्यकभाष्य १२५, निशीथभाष्य ५५९७

जमाली ने स्नेहमयी माता की शंकाओं का समाधान कर उन्हें संतुष्ट किया और अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। अन्ततः माता-पिता ने विवश होकर प्रव्रज्या लेने की अनुमति दे दी। राज्योचित समारोहपूर्वक दीक्षा-महोत्सव आयोजित किया गया और शुभ मुहूर्त में जमाली ने पाँच सौ अन्य पुरुषों के साथ तीर्थंकर महावीर से प्रव्रज्या अंगीकार की। अश्रुपूरित नेत्रों से माता ने आशीर्वाद दिया, “तेरी धर्म में, तप में जय हो, कल्याण हं, तुम संयम में दृढ़ रहना, पराक्रम करना और संयम पालन में किंचित भी प्रमाद मत करना”। माता सुदर्शना ने महावीर के समवसरण में उपस्थित होकर वंदन करके कहा, “भगवन्, यह हमारा इकलौता पुत्र है, आपके पास अनागार धर्म स्वीकार करना चाहता है। हम यह शिष्यरूपी भिक्षा समर्पित करते हैं, आप इसे स्वीकार करें”।

माता सुदर्शना ने अपने इकलौते पुत्र का मोह त्याग कर उसे महावीर के संघ में प्रविष्ट होने की अनुमति दी। माता के इस महान् त्याग को शब्दों में बद्ध कर पाना संभव नहीं।

ज्येष्ठा^२ :

ज्येष्ठा क्षत्रियकुण्ड के अधिपति राजा सिद्धार्थ के ज्येष्ठ पुत्र नंदिवर्द्धन की पत्नी तथा वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष चेटक की पुत्री थी^३। उनको शिक्षा व लालन-पालन राजपरिवार के अनुकूल सम्पन्न हुआ था। दोनों पति-पत्नी पार्श्वनाथ के धर्मावलम्बी थे, जो महावीर के वंश का कुल धर्म था।

ज्येष्ठा अपने रूप गुण में श्रेष्ठ तो थी ही साथ ही कला-कौशल में भी अत्यन्त निपुण थी। उसके रूप और शील की महिमा व प्रशंसा सर्वत्र थी। जैन अनुश्रुति के अनुसार एक बार देवता ने उनके शीलव्रत की परीक्षा लेनी चाही। देवता ने कई प्रकार के भय बताये, प्रलोभन दिये, पर ज्येष्ठा रानी अपने पतिव्रत धर्म पर अटल रही, अन्ततः देवता पराजित होकर चले गये। नंदिवर्द्धन को जब यह सब विदित हुआ तो वे

१. भगवती शतक ९, ऊ ३३, सूत्र ३८४, जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ४०५

२. आवश्यकचूर्णि दि०, पृ० १६४

३. (क) आवश्यकचूर्णि भाग-१, पत्र २४५

(ख) भगवती सूत्र, २१-१२-३-२

अपनी पत्नी द्वारा सतीत्व-रक्षा की इस घटना से बहुत प्रभावित हुए। पति-पत्नी ने गृहस्थाश्रम में रहकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ व श्रमण धर्म के बारह व्रतों को ग्रहण कर जीवन को सार्थक बनाया। जनश्रुति के अनुसार ऐसा माना जाता है कि महावीर की धर्मदेशना सुनकर ज्येष्ठा को वैराग्य उत्पन्न हुआ और पति की आज्ञा लेकर महावीर से दीक्षा ग्रहण कर आर्या चन्दना के साध्वी संघ में सम्मिलित हुई। राजा चेटक की अन्य पुत्रियों के समान ज्येष्ठा ने भी संयम व शील का दुर्लभ परिचय देकर जीवन धन्य किया।

शेषवती :

शेषवती श्रमणोपासिका माता प्रियदर्शना एवं अतुल समृद्धिशाली पिता जमाली की पुत्री थी। शेषवती का यशस्वती नाम भी कहीं-कहीं पाया जाता है। मातृ पक्ष से वह भगवान् महावीर की दौहित्री थी। मातृ व पितृ दोनों पक्ष से उनका महावीर से पारिवारिक सम्बन्ध था^१। धर्म में निरत कन्या शेषवती का बाल्यकाल से ही धर्म में अनुराग था। शेषवती का लालन-पालन व शिक्षा राजपरिवार की परम्परानुसार हुआ था। माता प्रियदर्शना व पिता जमाली ने तीर्थंकर महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण की थी, माता-पिता के धर्मानुराग व दृढ़ आस्था-निष्ठा का प्रभाव शेषवती पर कैसे नहीं होता? अतः वह भी श्रमण धर्म के आदर्शों का पालन करती थी।

चन्दनबाला^२ :

जैन इतिहास की सोलह मुख्य सतियों में महासती चन्दनबाला का चरित्र और स्थान अनुपम है। ये भगवान् महावीर द्वारा प्रवर्तित प्रथम साध्वी संघ की प्रमुख थीं।

चन्दनबाला का नाम वसुमती था। ये चम्पा नरेश महाराज दधिवाहन की पुत्री थीं। इनकी माता का नाम धारिणी था। धारिणी एक उच्च कोटि की विदुषी, विचारक और धर्मनिष्ठ महिला थी। माता

१. आचारांग २, १७७, कल्पसूत्र १०९, आवश्यकचूर्ण प्र०, पृ० २४५, कल्पसूत्रवृत्ति पृ० १४३
२. (क) कल्पसूत्र-६१।
(ख) मुनि नथमल-जैन दर्शन-मनन और मीमांसा, पृ० २२
३. आवश्यक पृ० २८, कल्पसूत्र १३५, तीर्थोद्गालिक ४६२, दशाश्रुतस्कंधचूर्ण पृ० ५०, भगवती ३८२, अन्तकृद्दशा १७-२६, समवायांग १५७ आदि।

की शिक्षा का ही परिणाम था कि चन्दनबाला बचपन से त्याग, सहिष्णुता और धर्मनिष्ठा की प्रतिमूर्ति बन गई।^१

आत्म कल्याण के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य धारण कर लोकोन्नति करने के संस्कार उसमें बचपन से ही बन गए थे। वय विकास क्रम से इसके विचार दृढ़ से दृढ़तर होते गए। योग्य वर के साथ कन्या का विवाह हो जाए, माता-पिता की यह स्वाभाविक इच्छा थी परन्तु राजकुमारी के अविवाहित रहने का दृढ़ निश्चय देखकर उन्होंने इसका प्रतिकार नहीं किया और पुत्री को अपने व्रत पर दृढ़ रहने को सहर्ष अनुमति दे दी।

दुर्भाग्यवश एक समय कौशाम्बी के राजा शतानिक ने चम्पानगरी पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। विजय के मद में एक रथी सैनिक छलपूर्वक राजमहल में घुस आया और बलपूर्वक रानी धारिणी और चन्दनबाला को रथ में बिठाकर जंगल की ओर चल पड़ा। इन सैनिक ने धारिणी का शीलभंग करना चाहा, पर अपने सतीत्व की रक्षा का कोई अन्य उपाय न देख उसने स्वरक्षा के लिये अपनी जीभ काट ली। इस प्रकार अपने प्राणों का उत्सर्ग करके सतीत्व का रक्षा की। इस करुण और बलिदानयुक्त घटना से सैनिक का कठोर हृदय विचलित हो गया। प्राण-त्याग के लिए आतुर चन्दनबाला को उसने समझाया और उसे अपनी पुत्री मानकर अपने घर ले गया।^२

राजमहल में पली बालिका चन्दनबाला ने सैनिक को पिता की तरह

१. हेमचन्द्राचार्य—त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ४, पृ० ८४

२. (क) वही, पर्व १०, सर्ग ४, पृ० ८४

(ख) आचार्य गुणभद्र ने उत्तरपुराण में चन्दना का वर्णन इस प्रकार किया है—

“एक बार चेटक की पुत्री चन्दना वन क्रीड़ा में मग्न थी तब एक विद्याधर उसके रूप पर मोहित होकर उसे किसी उपाय से उठाकर ले गया। जब वह घर पहुँचा तो उसकी पत्नी ने उसे बहुत भला-बुरा कहा। अतः विद्याधर ने अपनी गलती स्वीकार की और चन्दना को किसी वन में छोड़ गया। वहाँ एक भील ने पैसे के लोभ में पड़कर चन्दना को वृषभदत्त सेठ के हाथों बेच दिया। नारी के प्रति समाज में हीन भावना थी, उसका शब्दों के द्वारा विरोध किये बिना ही चन्दनबाला ने अपने कर्तव्य और धर्मनिष्ठ जीवन से नारी को सम्मानित किया।”

मानकर उसके घर में सभी प्रकार सेवा करके त्याग और विनयशीलता का परिचय दिया परन्तु चन्दनबाला के अनुपम सौन्दर्य, निष्ठापूर्ण सेवा और विनय ने सैनिक की पत्नी के मन में ईर्ष्या और संदेह पैदा कर दिया। इस संदेह के कारण सैनिक ने चंदनबाला को दासी के रूप में बेचने का निश्चय किया और बाजार ले गया। उसने चंदनबाला को एक धनिक गणिका के हाथों बेच दिया। चंदनबाला ने उसके यहाँ जाने से इन्कार किया किन्तु वेश्या का आग्रह प्रबल था और वह अपने सेवकों द्वारा बलपूर्वक उसे ले जाने का प्रयास करने लगी। तभी एक विचित्र घटना हुई। बहुत से बंदर उस वेश्या पर टूट पड़े। किसी ने उसे बचाने का साहस नहीं किया परन्तु चंदनबाला ने उसे बचाया। वेश्या उपकृत और लज्जित थी।

उसी समय धनवाह सेठ वहाँ आया और उसने धर्म, कर्तव्य और चात्सल्य से प्रेरित होकर वेश्या को समुचित मूल्य दिया और चन्दनबाला को स्नेहपूर्वक अपने घर लाया। परन्तु विधि की विडंबना ही कुछ और थी। चन्दनबाला का रूप और सेवा देखकर सेठ की पत्नी सशंकित हो गई और उसने सेठ के साथ कलह और चन्दनबाला पर अत्याचार करने शुरू कर दिये।

एक बार सेठ नगर से बाहर गये हुए थे। सेठानी ने अवसर देख चन्दना के सुन्दर केश काट दिये और मुँह काला कर दिया। एक छोटा सा वस्त्र पहनने को दिया, हाथों में हथकड़ी और पैरों में बेड़ियाँ डालकर उसे तहखाने में डाल दिया तथा स्वयं अपने पिता के घर चली गई।^१

इस घोर विपत्ति के कारण चन्दना ने आत्म-चितन करना शुरू कर दिया। तीन दिन बाद जब धनवाह सेठ घर लौटकर आये तो चन्दना को नहीं देख दुःखित हुए और दासी के द्वारा संकेत प्राप्त कर चन्दना को बाहर निकाला। उसे भूख से व्याकुल देखकर सेठ ने सूप में रखे हुए उड़द के वाकले दे दिये, व्रत में दृढ़निश्चयी चन्दना त्यागी महात्मा की राह देखने लगी।

भगवान् महावीर ने एक विकट प्रतिज्ञा की थी जिसके लिए पाँच माह और १५ दिन हो गए किन्तु आहार प्राप्त नहीं हो सका। अचानक चन्दन-

१. (क) हेमचन्द्राचार्य-त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व १०, सर्ग ४, पृ० ८५

(ख) कल्पसूत्र, हिन्दी अनुवाद, पृ० ८१।

बाला ने एक महान् तपस्वी को आते देखा तो उसके रोम-रोम हर्षित हो गये। अहा ! प्रभु मेरे हाथों आहार लेने आये हैं कितनी प्रसन्न थी वह, परन्तु यह क्या ? प्रभु एक क्षण ठहरे और लौटना ही चाहते थे कि उसके नेत्रों से आँसुओं की धारा बह चली^१ जिससे प्रभु की अंतिम प्रतिज्ञा भी पूरी हो गई। आहार देते ही चन्दना के हाथों-पैरों की हथकड़ियाँ खुल गईं और पूर्ण सुन्दरी बन गई। यह खबर नगर में चारों ओर फैल गई। जन समुदाय चन्दनबाला का दर्शन करने चल पड़ा। इस घटना से प्रभावित होकर राजा शतानीक ने क्षमा याचना की। सेठानी ने भी अपने कुट्टियों पर पश्चात्ताप किया और क्षमा याचना की।

भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर चन्दनबाला को संसार से विरक्ति हो गई। चन्दनबाला ज्ञानवती, गुणवती, तपस्विनी थी ही, अतः दीक्षा ग्रहण कर महावीर की प्रथम शिष्या तथा श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी का पद प्राप्त किया। इसके नेतृत्व में ३६ हजार साध्वियों का समुदाय था, जो ज्ञानार्जन और धर्माचरण करते हुए आत्म कल्याण में प्रवृत्त था।^२ इस प्रकार मानव जाति का पथ-प्रदर्शन करते हुए चन्दनबाला ने दिव्य ज्ञान की प्राप्ति की। चन्दना का चरित्र शताब्दियों के बाद आज भी प्रेरणा का ज्योति स्तम्भ है।

प्रभावती^३ :

प्रभावती महाराजा चेटक की पुत्री थी। उसका विवाह सिन्धु सौवीर राज्य के पराक्रमी राजा उदयन से हुआ था। उदयन की राजधानी वोत-भय (नगर) उस समय के अन्य नगरों की तुलना में सबसे अधिक समृद्ध था। राजा व रानी श्रमणोपासक थे। सर्वगुण सम्पन्न अभिचि नामक पुत्र

१. (क) कल्पसूत्र—हिन्दी अनुवाद, पृ० ८१
- (ख) हस्तीमलजी महाराज—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ४८३
२. (क) उत्तर पुराण में चन्दना ने यशस्वती आशिका के समीप श्राविका व्रत ग्रहण करने का उल्लेख है। पृ० ४८४
- (ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ६, पृ० १००
- (ग) मुनि नथमलजी—जैन दर्शन: मनन और मीमांसा, पृ० ३०
३. आवश्यकचूर्णि दि० पृ० १६४; प्रश्नव्याकरणवृत्ति पृ० ८९; उत्तराध्ययन-निर्युक्ति पृ० ९६; भगवती ४९१; निशीथचूर्णि तृ० पृ० १४२-६ इत्यादि।

प्राप्ति से दोनों आनन्दित थे ।^१

एक समय वीतभय नगर के चौक में एक वजनदार काष्ठ की पेटी एक नाविक ने लाकर रख दी । वहाँ के नागरिक व कई अन्य धर्मों के साधु-संत अपने मंत्रादि के प्रभाव से उस पेटी का ढक्कन खोलना चाहते थे पर उन्हें सफलता नहीं मिली । राजा उदयन भी मंत्री के साथ वहीं खड़े-खड़े यह सब देख रहे थे । मध्याह्न हो गया तब भी राजा भोजन के लिये राज-महल में नहीं लौटे । रानी प्रभावती ने चिंतित हो अपनी दासी के द्वारा राजा को बुला भेजा । राजा ने दासी द्वारा संदेश पहुँचा कर रानी को यह आश्चर्य देखने के लिये वहीं बुलवाया । रानी प्रभावती भी यह कौतूहल देखने के लिये रथ में आरूढ़ हो नगर के चौक में आईं । अरहन्त धर्म में अटल विश्वास वाली रानी ने कहा कि “देवी-देवताओं की अपेक्षा अरहन्त देव के नाम-स्मरण से ही यह काष्ठपेटी का ढक्कन खुल जायेगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है ।” राजा की आज्ञा व सहमति प्राप्त कर रानी ने सन्दूक के ऊपरी सतह को धोया, चन्दन, पुष्प अर्पित कर उच्च स्वर से बोली—“हे राग, द्वेष और मोह रहित तथा अष्ट प्रतिहारी आवृत ऐसे देवाधिदेव अरहन्त मुझे दर्शन दो ।” इतना बोलने के साथ ही उस मंजूषा का ढक्कन धीरे से खुला और उसमें स्थित देव की प्रतिमा का दर्शन सबको हुआ । इस घटना के परिणामस्वरूप अरहन्त धर्म पर जनता का विश्वास दृढ़ हुआ तथा राजा भी अरहन्त की पूजा व स्तुति करने लगे । उन्होंने भव्य मंदिर बनवाकर उसमें प्रतिमा की स्थापना की तथा रानी प्रभावती प्रतिदिन पूजा करने लगीं ।^२

एक बार रानी प्रभावती ने प्रतिमा की पूजा करके संगीत आरंभ किया तथा भाव विभोर होकर नृत्य करने लगीं । राजा तन्मयता से वीणा बजाने लगे । तल्लीनता के उन क्षणों में राजा को एक क्षण के लिये रानी का सिर नहीं दिखाई दिया, केवल नीचे का घड़ ही दिखाई दिया । इसे अशुभ मानकर राजा को क्षोभ हुआ और हाथ से वीणा जमीन पर गिर पड़ी । रानी जो कि नृत्य में मग्न थी, एकदम विघ्न उपस्थित होने से रुक गई और राजा से एकाएक वीणा वादन बन्द करने का कारण पूछने लगी । रानी के कारण जानने के अति आग्रह से राजा ने जो दृश्य

१. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ६, पृ० १११

(ख) आचार्य हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ५१६

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ११, पृ० २१५

देखा वैसा बता दिया। यह सुनकर रानी को रंचमात्र भी मृत्यु का भय नहीं हुआ।

एक दिन रानी प्रभावती ने अपने नित्य नियमानुसार स्नान करके भगवत् पूजा के अवसर पर दासी से शुद्ध वस्त्र पहनने के लिये मँगवाया। वस्त्र पर रानी को अशुभ चिह्न के रूप में रक्त के दाग दिखाई दिये। भगवान् की पूजा के लिये अशुद्ध वस्त्र है, यह जानकर उसने दासी को फटकारा तथा क्रोध के वशीभूत होकर उस पर प्रहार किया जिससे दासी की मृत्यु हो गई। कुछ समय पश्चात् वही वस्त्र उसे सफेद दिखाई दिये। पंचेन्द्रिय जीव की तथा स्त्री जाति की क्रोध के वश हत्या हो जाने पर रानी स्वयं को धिक्कारने लगी। इस घटना की जानकारी रानी ने राजा को दी तथा अपने जीवन की शेष आयु अल्प जानकर संसार त्यागने तथा दीक्षित होने की अनुमति माँगी। राजा को पहले से ही यह सन्देह हो चुका था। उन्होंने रानी प्रभावती को दीक्षित होने की अनुमति दे दी। राजा व्यथित होकर कहने लगे “महादेवी, अपने उच्च भक्ति भाव से यदि तुम देवभव में जाना, तो मुझे अवश्य प्रतिबोध देना।” पति की आज्ञा मिल जाने से रानी प्रभावती ने दीक्षा अंगीकार की। दीक्षित होने के पश्चात् कठोर संयम तप की आराधना की तथा अनशन करके देवगति प्राप्त की।^१

जैन धर्म की सतियों में प्रभावती को विशिष्ट स्थान प्राप्त है, उनकी धर्म निष्ठा ने ही राजा को श्रमणोपासक बनाने के लिए प्रेरित किया।

पद्मावती^२ :

श्रमणोपासिका पद्मावती (धारिणी) राजा दधिवाहन की पत्नी एवं चेटक राजा की पुत्री थी। उसने चंपानगरी को जैन धर्म का केन्द्र बनाया। इसे शिल्पकार्य, चित्रकला व धर्मशास्त्र का अपरिमित ज्ञान था। रानी धारिणी अपने पति की सेवा एवं धर्म-ध्यान में कर्तव्यरत रहकर सुख-शान्ति से रहती थी। उनकी पुत्री वसुमती अच्छी शिक्षा तथा उच्च संस्कारों से अलंकृत थी।

राजा शतानीक उस समय का अधिक बलिष्ठ एवं पराक्रमी राजा

१. (क) आवश्यकचूर्णि, ३९९

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ११, पृ० २१६

२. आवश्यकचूर्णि द्वि०, पृ० २०४-५; निशीथचूर्णि दि०, पृ० २३२; बृहत्कल्प-भाष्य ५०९९; उत्तराध्ययनवृत्ति (शान्तिसूरि) पृ० ३००

था। उसने एक बार राजा दधिवाहन पर चढ़ाई कर दी। दधिवाहन अपने सीमित सैन्य बल के साथ उसके सामने टिक नहीं सकते थे। वे युद्ध किये बिना ही राजधानी छोड़कर जंगल की ओर चले गये। इसलिये राजा शतानीक ने यह घोषणा की, “जो कोई चाहे वह यहाँ से कुछ भी ले सकता है।” आक्रामक राजा के सैनिकों ने शहर को जी भर कर लूटा। एक रथी, रानी धारिणी व वसुमति को बंदी बनाकर जंगल में ले गया। वहाँ उस रथी ने उन्हें अपनी पत्नी बनने को कहा पर पतिव्रता रानी धारिणी ने अपने जीवन का अन्त करना स्वीकार किया तथा रथी को कुविचार त्यागने के लिये समझाया। रथी पर किसी भी बात का असर नहीं हुआ। रानी धारिणी ने जीभ काटकर अपने शरीर का अन्त किया। इस घटना से रथी को बहुत दुःख हुआ और उसने वसुमती को अपनी बेटो बनाकर अपने घर रखा।^१ रानी पद्मावती द्वारा सतीत्व रक्षा के लिये प्राणों की आहुति देना भारतीय नारी के सामने आदर्श उपस्थित करता है।

मृगावती^२ :

मृगावती वैशाली के गणराजा चेटक की पुत्री तथा कौशाम्बी के राजा शतानीक की रानी थी। वर्द्धमान के परिवार से भी वे स्नेह-बंधन से सम्बद्ध थीं। वैशाली की इस सर्वगुण सम्पन्न कन्या का तत्कालीन समाज में बहुत आदर था। राजा शतानीक मृगावती के रूप-गुण पर तो मुग्ध थे ही साथ ही उसकी विलक्षण बुद्धि के कारण राजकीय समस्याओं पर भी उससे परामर्श लेते थे।

एक समय रानी मृगावती दोपहरी में शीष्म-ताप से व्याकुल होकर अपने प्रासाद में विश्राम कर रही थीं। उस समय राजमार्ग पर हो रहे कोलाहल और जय-धोष से उनका ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ। रानी ने अपनी सेविका से इस बारे में पूछा। इतने में एक सेवक दौड़ा-दौड़ा आया और कहा—“स्वामिन्, कई महीनों से नगर में जो एक मुनि निरा-

१. (क) त्रिषष्टिशलाकापुराण, पर्व १०, सर्ग ४, पृ० ८४

(ख) भारत की देवियाँ—ग्रन्थ ३, पृ० १० (गुजराती)

२. आवश्यकचूर्णि प्र०, पृ० ८८; विशेषावश्यकभाष्यवृत्ति पृ० ३३२; आवश्यकनियुक्ति १०५५; दशवैकालिकचूर्णि पृ० ५०; निशोथभाष्य ६६०६; स्थानांगवृत्ति पृ० २५८

हार भ्रमण कर रहे थे, आज उन्होंने धनवाह श्रेष्ठी की दासी से आहार ग्रहण किया है। इस समाचार से रानी मृगावती को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

इस सुखद संवाद ने रानी मृगावती को सोचने का समय भी नहीं दिया। वे उसी समय रथ में बैठकर श्रेष्ठी धनवाह के निवास पर गईं। वहाँ उन्होंने चन्दना को देखा, जिसके हाथों से मुनिराज ने आहार ग्रहण किया था। चन्दना पुलकित और आनन्द विभोर थी। उसी समय एक सैनिक ने चन्दना को पहचान लिया। सैनिक ने कहा—“स्वामिन्, यह तो हमारे राजा दधिवाहन की पुत्री वसुमती है।” चन्दना, रानी मृगावती की बड़ी बहन की पुत्री थी। मृगावती ने अपार उत्साह और स्नेह से चन्दना को गले लगाया और उसे अपने साथ राजमहल में ले गई।^१

रानी मृगावती अनुपम सौन्दर्य की स्वामिनी थी। राजा शतानीक ऐसी रूपवान पत्नी को पाकर अपने को धन्य समझते थे। एक समय कौशाम्बी के राज दरबार में एक युवा चित्रकार आया। वह अपनी कला में इतना प्रवीण था कि किसी व्यक्ति के अंग का एक भाग देखकर भी पूर्ण चित्र बना लेता था—मानो इस विधा में उसे दैवी वरदान प्राप्त था। ललितकला प्रेमी राजा शतानीक ने इस अद्भुत चित्रकार को अपने राज्य में आश्रय दिया। एक बार अनायास ही राजमहल की ओर उसकी दृष्टि चली गई। वहाँ उसे दरवाजे में से पैर का अँगूठा दिखाई दिया। उसने अपनी कला-निपुणता से पैर का अँगूठा मात्र देखकर ही सम्पूर्ण चित्र बना लिया। चित्र बनाते समय रंग की एक बूँद चित्रित रूपसी की जाँघ पर गिर पड़ी, उसे पोंछ लिया, परन्तु पुनः रंग वहाँ गिरा। अन्ततः कई बार पोंछने पर भी बूँद वहीं गिरती गई तो चित्रकार ने सोचा कि चित्रित व्यक्तित्व की जाँघ पर प्राकृतिक तिल होना चाहिये। अतः उसने उसे वैसा ही रहने दिया। चित्रकार अपनी इस कलाकृति को सजीव करने में रात-दिन लगा रहा। उसे भान ही नहीं था कि उसकी तूलिका से एक अनुपम सुन्दरी का चित्र बन रहा है।

अकस्मात् एक दिन राजा शतानीक अपने कला-प्रेम के कारण रंगशाला में आये। चित्रकार ने अपनी सुन्दर कृति पर से पर्दा हटाया। राजा शतानीक अपनी रानी मृगावती का ऐसा मनमोहक व सजीव चित्र देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। पर जैसे ही वह कलाकार की प्रशंसा करने लगे

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ४, पृ० ८८

उनकी दृष्टि जाँघ के तिल पर पड़ गई। अतः राजा के प्रशंसा के विचार एकदम क्रोध में परिणत हो गये तथा उन्हें रानी व चित्रकार के चरित्र पर संशय हो गया। मन में विचार उत्पन्न हुआ कि बिना रानी को देखे चित्रकार को इस गुप्त-स्थान के तिल का कैसे पता चल सका। चित्रकार ने राजा को यक्ष के वरदान की बात बताई परन्तु राजा की शंका का निवारण नहीं हो सका। राजा ने चित्रकार का अंगूठा कटवा कर उसे चित्रशाला से हटा दिया।

इस अनहोनी घटना से चित्रकार को आघात लगा तथा वह अपनी कला के इस अपमान को सहन नहीं कर पाया। बदले की भावना के वशीभूत होकर रानी मृगावती का नयनाभिराम चित्र बनाकर तत्कालीन उज्जैन नगरी के स्त्री-लोलुप राजा चन्द्रप्रद्योत को दिखाया। चन्द्रप्रद्योत ने रानी मृगावती को प्राप्त करने की इच्छा से शतानीक की राजधानी कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी। राजा शतानीक यह आघात सहन नहीं कर पाये जिससे उनको मृत्यु हो गई।

रानी मृगावती पर मानो वज्रपात हो गया। पति की अचानक मृत्यु, राजकुमार उदयन का अवयस्क होना व राज्य पर शक्तिशाली राजा का आक्रमण व नगर का घेराव इन परिस्थितियों का सामना रानी मृगावती ने बहुत धैर्य, चतुरता व साहस के साथ किया। उन्होंने अपने विश्वस्त दूत के द्वारा राजा प्रद्योत के सैन्यशिविर में सन्देश भिजवाया, “मेरे पति राजा शतानीक का स्वर्गवास हो गया है, मैं आपकी शरण में हूँ परन्तु पुत्र उदयन अभी अवयस्क है। आसपास के राजा भी इस नगरी पर चढ़ाई करने के लिये तत्पर हैं। अतः इस नगर को सुरक्षित रखने के लिये इसके चारों ओर ईंटों का कोट बँधवा दीजिये तथा धन-धान्य से कौशाम्बी नगरी को भरपूर कर दीजिये।” मोह के वशीभूत राजा ने यह सब स्वीकार कर लिया। रानी मृगावती ने अपने को पूर्ण सुरक्षित पाकर किले के द्वार बन्द करवा दिये।^१ इन सब घटनाओं से दुःखित हो उसे जीवन की नश्वरता का भान हुआ और वह महावीर के आगमन की आतुरतापूर्वक राह देखने लगी।

एक दिन महावीर के आगमन का सन्देश पाकर वह धन्य हो उठी। उसने दीक्षित होने का दृढ़-संकल्प किया तथा नगर के दरवाजे खुलवाकर राजसी ठाठ से भगवान् महावीर के दर्शन व प्रवचन सुनने नगर के मध्य

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष—पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १५१

में प्रस्थित हुई। राजा प्रद्योत भी (श्रावक) प्रभु का भक्त होने से वहाँ आकर धर्म-देशना सुनने लगे। धर्म-देशना के पश्चात् अनुकूल अवसर पाकर रानी मृगावती ने अपने दीक्षित होने की मनोकांक्षा प्रभु के समक्ष प्रकट की। राजा प्रद्योत को अपना पुत्र उदयन सौंपते हुए उनसे भी आज्ञा चाही। राजा प्रद्योत की आन्तरिक भावना न होते हुए भी इतनी बड़ी परिषद् में तथा महावीर के वैराग्य के प्रभाव से उसने मृगावती को आज्ञा दी। मृगावती परिव्राजिका होकर साध्वी वन्दना के सानिध्य में अपनी आत्मोन्नति में लीन हो गई।

एक समय भगवान् महावीर का अपने संघ के साथ पुनः कौशाम्बी में शुभागमन हुआ। समाज के चारों वर्ग साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविकाएँ प्रवचन के सारभूत तथ्यों को श्रवण करने में निमग्न थे। संध्या हो चली थी। साध्वी चन्दना भी अपने साध्वी समुदाय के साथ आचार-संहिता के नियमों का ध्यान रखकर अन्धेरा होने के पूर्व ही उपाश्रय में चली गई। मृगावती प्रभु का उपदेश तन्मयता से सुन रही थी अतः चन्द्र-सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित संध्या का भान ही नहीं रहा। जब अपने आत्म-ध्यान से हटकर देखा तो चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ था। वह घबड़ा कर शीघ्र दो-तीन अन्य साध्वियों के साथ उपाश्रय गई— वहाँ आचार्या चन्दना ने उन्हें उपालम्भ देते हुए कहा—“मृगावती, तुम जैसी कुलीन स्त्रियों को रात्रि में अकेले बाहर रहना शोभा नहीं देता।” मृगावती ने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया और आचार्या से अन्तःकरण से क्षमा माँगने लगी। वह सोचने लगी कि मेरे द्वारा आचार-संहिता के नियमों का उल्लंघन किये जाने से आचार्या को सन्ताप हुआ। अतः वह समभाव से स्वयं की त्रुटि पर विचार करने लगी एवं सोचते-सोचते अपने ही विचारों में खो गई। शुभ भावनाएँ उदित हुईं तथा घातिकर्मों का क्षय होकर उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ।^२

उसी रात्रि के अन्धकार में जब चन्दना जी सो रही थीं, कहीं से एक सर्प चन्दना जी के संधारे के पास से होकर जाने लगा। मृगावती ने दिव्यदृष्टि से गहन अन्धकार में भी उसे देख लिया तथा आचार्या

१. (क) आवश्यक चूर्णों, प्र० १, पृ० ९१

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १५४

२. (क) गुणचन्द्र-महावीर चरित्र, प्रस्तावना ८, पत्र १७५

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १५९

चन्दना का हाथ एक ओर हटा दिया। चन्दना स्पर्श से जागृत होकर स्पर्श करने का कारण पूछने लगी, तब मृगावती ने सब वृत्तान्त कह सुनाया। इस पर संघ-आचार्या ने पूछा—‘तुम्हें इस गहन-अन्धकार में सर्प कैसे दिखाई दिया।’ इस पर मृगावती ने कहा—‘आपकी कृपा से मुझे दिव्य-ज्ञान प्राप्त हुआ है।’

साध्वी चन्दना ने भी दिव्य-ज्ञान प्राप्त मृगावती को विनयपूर्वक नमस्कार किया। उनके अन्तःकरण में भी शुभ-भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ व दिव्य-ज्ञान प्राप्त हुआ। धन्य है, मृगावती जिसने सांसारिक-जीवन में अपनी विलक्षणता से विजय प्राप्त की। आध्यात्मिक जीवन में भी आचार्या से पहले ही दिव्यज्ञान प्राप्त कर लिया।^१

मृगावती—मूल्यांकन

मृगावती, राजवैभव में पली नारी थी, उसने बाल्यकाल में ही पिता चेटक के यहाँ राज कौशल व राज दक्षता की शिक्षा प्राप्त की थी। जीवन में हर समय भाँति-भाँति के दुःख सहन किये तथा अतिविकट परिस्थितियों में साहस तथा धैर्य रख संकटों का सामना किया। इस नारी के पराक्रम तथा सतीत्व की कथा वैदिक, बौद्ध तथा जैन तीनों साहित्य में समान रूप से प्रसिद्ध है। चेटक की सातों पुत्रियाँ महावीर के अर्हत् धर्म पर पूर्ण विश्वास रखती थीं फलतः कठिन परिस्थितियों में भी उन्होंने धर्म पर अपने विश्वास को अडिग रखा।

कौशाम्बी नरेश शतानीक की रानी तथा उदयन की माता मृगावती का जैन धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन धर्म में सोलह सती स्त्रियाँ मानी गई हैं, जिनका नाम प्रातःकाल बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है, मृगावती उन्हीं सोलह में से एक है। सोलहवीं शताब्दी के मुसलमान सूफ़ी कवि कुतबन ने भी मृगावती की कथा लिखी। भगवती सूत्र तथा आवश्यक चूर्णि में मृगावती सम्बद्ध कथा का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त कुछ स्वतंत्र रचनाएँ उपलब्ध होती हैं^२—

१. (क) भगवतीशतक १-३-५, उदोहर पृ० ५५०-५५१
(ख) आवश्यक चूर्णी-पूर्व भाग, पृ० ९१
२. कल्याण का नारी अंक ७१०
(श्री अगरचन्द्र नाहटा लिखित)

- | | | |
|-----------------------------|-------------|----------------|
| १. मृगावती चरित्र (संस्कृत) | देवप्रभसूरि | १३वीं शताब्दी |
| २. मृगावती चौपाई | सकलचन्द्र | सं० १९४३ पूर्व |
| ३. " " | विनयसमुद्र | सं० १६०२ |
| ४. " " | समय सुन्दर | सं० १६६८ |

शिवादेवी :

उज्जैनी के महाप्रतापी राजा चंडप्रद्योत की रानी शिवादेवी वैशाली गणराज्य के अध्रक्ष चेटक की पुत्री थी। एक समय उज्जैनी में महामारी का प्रकोप हुआ, इस भयंकर महामारी से नगर निवासी त्रस्त हो गये, कहीं भी उन्हें चैन नहीं मिलता था। राज्य मंत्री ने नगर निवासियों के असहनीय कष्ट से राजा चंडप्रद्योत को अवगत कराया। इस महामारी से बचने के उपाय पर मंत्रणा करने के लिये विभिन्न राजवैद्यों को आमंत्रित किया गया कई प्रकार के उपाय किये गये, लेकिन उससे छुटकारा नहीं मिल पाया।

राजा चंडप्रद्योत ने विद्वत्-मंडल से परामर्श किया, इस आतंक से बचने के लिए सभी उपायों पर विद्वानों ने परस्पर मंत्रणा की। उनमें से एक ने राजा से कहा कि यह दैवीप्रकोपवश हुआ है, अतः आपके अन्तःपुर की शीलवती रानी, यक्ष को पूजा से सन्तुष्ट कर सकें तो इस महामारी का शमन होना सम्भव जान पड़ता है।

सतीत्व परीक्षा :

राजा चंडप्रद्योत के अन्तःपुर में इस संवाद से सब रानियों में हलचल मच गई। सब रानियों में से रानी शिवादेवी इसके लिये तैयार हुई। उन्होंने यक्ष का पूजन परामर्श अनुसार किया और पूजन के प्रभाव से उज्जैनी में महामारी का प्रकोप शान्त हो गया।

कहीं-कहीं यह भी उल्लेख मिलता है कि एक समय उज्जैनी में भयंकर आग लगी, सब उपाय किये गये लेकिन अग्नि शान्त नहीं हो सकी। राजा चंडप्रद्योत ने मंत्रणा की, उन्हें बताया गया कि, जो अग्नि सब उपाय किये जाने पर भी शान्त नहीं हो रही है, वह दैवीय जान पड़ती है। अतः कोई पतिव्रता स्त्री अग्नि पर जल छिड़के ती हो सकता है कि,

१. आवश्यकचूणि द्वि० १६०, १६८, १७६, आवश्यक पृ० २८, उत्तराध्ययन वृत्ति पृ० १८८

अग्नि का प्रकोप शान्त हो जाए। रानी शिवादेवी सम्पूर्ण निष्ठा एवं आत्म विश्वास के साथ इस कार्य के लिये तैयार हुई, उनके द्वारा जल का छिड़काव करते ही भयंकर अग्नि प्रकोप शान्त हो गया।

कौशाम्बी में भगवान् महावीर का आगमन हुआ। उनके उपदेश से प्रेरित होकर रानी अंगारवती सहित अन्य रानियों ने दीक्षा अङ्गीकार की। रानी शिवादेवी भी दीक्षा अङ्गीकार कर आर्या चन्दना के साध्वी संघ में सम्मिलित होकर व्रत, तप करते हुए आत्मकल्याण में प्रवृत्त हुई।

सुज्येष्ठा^२

वैशाली के महागणराज्य के अध्यक्ष राजा चेटक की पुत्री सुज्येष्ठा अपनी छः बहनों के समान सभी कलाओं में प्रवीण थी। अन्य बहनों का विवाह समृद्ध राजाओं के साथ होने के पश्चात् राजकुमारी सुज्येष्ठा अपनी बहन चेलना के साथ अत्यन्त स्नेहपूर्वक रहती थी। राजमहल में रहकर दोनों राजकुमारियों ने कई कलाओं में निपुणता प्राप्त कर ली थी।^३ संगीत व चित्रकला में विशेष निपुण होने के साथ-साथ धर्म के प्रति भी विशेष जागरूक थीं।

अन्तःपुर में एक बार दोनों कन्याओं के पास एक तापसी आई और उन्हें शुचि धर्म का आडम्बरपूर्ण धर्मोपदेश देने लगी परन्तु दोनों राज-कन्याओं ने श्रमणोपासक-धर्म के सिद्धान्तों से उसके तर्कों का खण्डन किया तथा भगवान् महावीर द्वारा बताए गए मार्ग पर चलने के लिये समझाया। सुज्येष्ठा व उसकी बहन द्वारा बताये मार्ग को अपना अपमान समझ कर वहाँ से तुरन्त चल दी। तापसी इस अपमान का बदला लेने का विचार करने लगी।

तापसी ने सुज्येष्ठा का एक सुन्दर चित्र बनाकर राजा श्रेणिक को दिखाया। श्रेणिक इस रूपसी कन्या को देख उसे पाने के लिये व्याकुल हो उठा। मंत्री अभयकुमार के बुद्धि कौशल से राजा श्रेणिक सुज्येष्ठा को प्राप्त करने के लिए सुरंग द्वारा वैशाली के अन्तःपुर में गुप्त रूप से

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १० सर्ग ११, पृ० २०८

२. आवश्यकचूर्णि दि०, पृ० १६४-६, १७४; आवश्यकवृत्ति पृ० ६७६-७, आवश्यक पृ० २८, स्थानांग वृत्ति पृ० ४५७, उत्तराध्ययन वृत्ति ८१

३. सुज्येष्ठा आवश्यक चूर्णा वैराग्येण प्रव्रज्या ४-आ० ३. ३. ९२७

से गये। सुज्येष्ठा राजा श्रेणिक के साथ जाने को तैयार हो गई। सुज्येष्ठा ने अपनी छोटी बहिन चेलना को सम्पूर्ण वृत्तान्त बता दिया। चेलना नैराश्यपूर्ण शब्दों में कहने लगी—“बहिन, हम दोनों इतने वर्ष साथ रहे, अब तुम मुझे छोड़ कर क्यों जा रही हो, मुझे भी साथ ले चलो”। बहिन की वेदना व प्रेम देखकर सुज्येष्ठा ने चेलना को भी साथ ले लिया। जब दोनों बहनें गहन अन्धकार में खड़े रथ पर बैठ रही थीं, तभी सुज्येष्ठा को कक्ष में रखी अपनी रत्नाभूषणों की मंजूषा का स्मरण हुआ और वह चेलना को रथ में अकेली छोड़कर मंजूषा लेने गई वह वहाँ से शीघ्र नहीं लौट सकी। शत्रु सीमा में अधिक समय रुकना उचित न समझ कर राजा श्रेणिक ने रथ से प्रस्थान किया जिसमें सुज्येष्ठा नहीं थी। जब संकट का समय टल गया तब राजा श्रेणिक ने सुज्येष्ठा को आवाज दी। उसे उत्तर मिला—“मैं सुज्येष्ठा नहीं उसकी बहिन चेलना हूँ”।

इधर जब सुज्येष्ठा रत्नाभूषणों की मंजूषा लेकर लौटी तो रथ वहाँ न पाकर रुदन करने लगी। घटना जानकर राजा चेटक के सेनापति ने राजा श्रेणिक का पीछा किया। दोनों दलों में मुठभेड़ हुई—जिसमें सुलसा के बत्तीस पुत्र जो राजा श्रेणिक के अंगरक्षक थे, मारे गए। सुज्येष्ठा को अपनी बहिन चेलना के इस व्यवहार से क्षोभ हुआ। सुरंग मार्ग में हुई मुठभेड़ में सुलसा के बत्तीस पुत्रों के मारे जाने की दुःखद घटना के संवाद का सुज्येष्ठा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। उसे वे दृश्य दिखाई देने लगे और संसार असार लगने लगा, इससे सुज्येष्ठा को सांसारिक जीवन से विरक्त हो गई। उसने अपने पिता राजा चेटक से दीक्षित होने की अनुमति चाही। पिता ने राजसी ठाठ व समारोहपूर्वक अपनी पुत्री सुज्येष्ठा को महावीर के संघ में दीक्षित किया।^१

वैशाली के अध्यक्ष राजा चेटक भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का पालन करते थे। उनके स्वजनों में से उन्हीं की पुत्री सुज्येष्ठा ने दीक्षित होकर राज-परिवार में साध्वी-परम्परा का प्रारंभ किया।

राजा चेटक की अन्य पुत्रियाँ भी भगवान् महावीर के संघ में प्रविष्ट हुई तथा आर्या चन्दना के सानिध्य में रहकर आत्म कल्याण की ओर अग्रसर हुईं।

१. (क) आवश्यक त्रुणि, १६४-१६६

चेलना^२

चेलना राजा श्रेणिक की पत्नी [और चेटक की पुत्री थी। राजा श्रेणिक को जैन धर्मावलम्बी बनाने व धर्म के प्रति आस्था तथा विश्वास की उत्तरोत्तर वृद्धि करने का श्रेय इस महान् नारी चेलना को दिया जाता है। राजा श्रेणिक तथा चेलना सुखपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए आनन्द से जीवन व्यतीत करते थे। कालान्तर में रानी के गर्भ से पूर्व-भव में सैनिक का जीव पुत्र (कूणिक) के रूप में पैदा हुआ इसके अलावा हल और विहल नाम के दो पुत्र और भी पैदा हुए। एक बार राजा श्रेणिक ने विचार किया कि मैं रानी चेलना के लिये एक अद्भुत प्रासाद बनवाऊँ जिसमें रहकर वह धर्म ध्यान करे। राजा ने अपने महामंत्री एवंपुत्र अभयकुमार को आज्ञा दी। कथानुसार अभयकुमार ने वन में एक सर्व लक्षणों से युक्त वृक्ष देखा और उसमें रहनेवाले अधिष्ठायक देव की विनती की, फलस्वरूप उस देव ने शीघ्र ही एक स्तम्भवाला महल बनाया और नन्दनवन जैसा उद्यान भी तैयार कर दिया। राजा यह देख आनन्दित हुआ और अपनी प्रिय रानी चेलना को उस भवन में रखा। वहाँ रहकर सती चेलना सभी ऋतुओं के फूलों की माला बनाकर उससे सर्वज्ञ प्रभु की पूजा करने में अपना समय व्यतीत करने लगी^१।

चेलना की साधुभक्ति

महावीर के आगमन का शुभ-संदेश पाकर उनका उपदेश सुनने हेतु रानी चेलना अपने पति श्रेणिक के साथ उद्यान में गई। लौटते समय रास्ते में एक मुनि को उत्तरीय वस्त्ररहित (बिना वस्त्र के) शीत परीषह सहन करने की तपस्या करते हुए देखा। दोनों ने रथ से नीचे आकर उन्हें भी नमन किया। रात्रि के समय रानी चेलना का एक हाथ गलती से ओढ़े हुए वस्त्र से बाहर निकल गया और ठंड में ठिठुर गया। उसे एकाएक मुनि का विचार आया—“भला ऐसी शीत में परिधानरहित उस मुनि का क्या होगा” ? ऐसे शब्द धीरे से मुँह से आह के साथ निकल पड़े। राजा श्रेणिक ने यह सुना और उसे अपनी प्रिय रानी के चरित्र पर शंका हुई। ईर्ष्याविश उसने सारी रात जागृत रहकर बिताया। प्रातःकाल अभयकुमार को बुलाकर क्रोध व क्षोभ में यह आज्ञा दी कि

२. आवश्यकचूर्ण प्र०, पृ० ३७१, द्वि०, पृ० १६४-६६, आवश्यकवृत्ति पृ० ६७७-८ दशाश्रुतस्कंध १०, १

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ५३४

मेरे अन्तःपुर में दुराचार फैल गया है अतः उसे जला दो। अभयकुमार ने अपने बुद्धिचातुर्य से एक हाथी बाँधने का जीर्ण घर जलवा कर राजा श्रेणिक को अन्तःपुर जल जाने का विश्वास दिलाया।^१

राजा श्रेणिक महावीर को वंदन करने गये, वहाँ उन्होंने भगवान् से पूछा कि चेलना पतिव्रता है कि नहीं। प्रभु बोले, राजन् तुम्हारी धर्मपत्नी चेलना महासती है तथा शील और अलंकार से शोभित है राजा तत्काल नगर की ओर वापस आया और अभयकुमार के बुद्धि कौशल से अपने अन्तःपुर को सुरक्षित पाकर अत्यन्त हर्षित हुआ।

चेलना की पतिभक्ति :

अभयकुमार के दीक्षित होने के बाद राजा कूणिक ने किसी कारण वश श्रेणिक को बन्दीगृह में डाल दिया। उनके पास जाने की इजाजत किसी को नहीं थी। कर्तव्य बोध से प्रेरित होकर कूणिक ने माता चेलना को जाने की अनुमति दे दी थी। चेलना सौ बार सुरा से (शराब से) बालों को धोकर गीले बालों को बाँधकर शोघ्रता से श्रेणिक के कारावास में जाती थी और केश के बीच कुलमाष (उड़द) का एक लड्डू भी छिपा कर ले जाती थी। इसे ही राजा दिव्य भोजन समझकर खाता था तथा बालों से टपकने वाली सुरा का पान करके तृप्त होता था।

एक समय जब राजा कूणिक भोजन कर रहा था तब उसका पुत्र उसकी गोंद में बैठा अठखेलियाँ कर रहा था तथा माता चेलना भी पास में बैठी हुई थीं। भोजन करते समय पुत्र ने पेशाब कर दिया तथा भोजन के थाल में भी उसका कुछ अंश चला गया। राजा कूणिक भोजन का कुछ हिस्सा फेंक कर बाकी खाना खाने लगा और माता चेलना से पूछने लगा कि मेरे जैसा पुत्र-प्रेम और कोई पिता करता होगा क्या? रानी चेलना ने कहा अरे पापी, तेरे पिता श्रेणिक इससे भी अधिक तुझे प्यार करते थे। मेरे गर्भ में जब तू आया उस समय मुझे अपने पति का कलेजा खाने का दोहद उत्पन्न हुआ और राजा श्रेणिक ने अभयकुमार की मदद से मेरी इच्छा तृप्त भी की थी। तभी मैंने यह जान लिया था कि तू पिता की बैरी बनेगा अतः जन्म से ही मैंने तुझे जंगल में भिजवा दिया, पर राजा श्रेणिक ने पुत्रस्नेह के वशीभूत होकर तुझे पुनः मंगवा लिया

१. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व, १०, सर्ग ७, पृ० १२५

(ख) आवश्यकचूर्ण, द्वि०, पृ० १६४-६६

(ग) जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ५३४

और पाल पोषकर बड़ा किया। उनके पुत्रस्नेह के सामने तेरा पुत्रस्नेह नहीं के बराबर है।

यह वृत्तान्त सुनकर कूणिक को अपने ऊपर बहुत क्षोभ हुआ। वह स्वयं को धिक्कारने लगा, तथा शीघ्र ही पिता को बेड़ियों के बंधन से मुक्त करने के लिए लौह दण्ड लेकर श्रेणिक के बन्दीगृह की ओर दौड़ा। राजा श्रेणिक ने कूणिक के रूप में अपनी मृत्यु सामने खड़ी देखकर स्वयं ही तालपुट विष जिह्वा पर रखकर अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार रानी चेलनी ने पत्नी व माता के कर्तव्य को निभाकर एक आदर्श उपस्थित किया।^१

धारिणी^२ :

राजगृह के राजा श्रेणिक की सहधर्मिणी रानी धारिणी मेघकुमार की माता थी। रानी धारिणी राजा श्रेणिक की प्रिय रानी थी जो रूप, शील आदि गुणों से सर्वत्र प्रिय थी। एक समय रात्रि के चौथे प्रहर में रानी धारिणी ने एक अद्भुत स्वप्न देखा कि चार दन्त वाला उज्ज्वल वर्ण का हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा है। इससे रानी की नींद टूट गई और वे उठकर द्रष्ट प्रभु का स्मरण कर, राजा के शयनागार में पहुँची, राजा को मृदु शब्दों से जगाती हुई, अपने अनोखे स्वप्न की बात कही। स्वप्न ज्ञान रखने वाले राजा ने हर्षित होकर रानी से कहा 'हे देवानुप्रिय! यह शुभ स्वप्न है तथा तुम एक शुभ लक्षणों वाले पुत्र को जन्म दोगी।'

तीसरे माह रानी धारिणी को दोहद हुआ—मैं मेघों से आच्छादित आकाश को देखूँ और उसी प्राकृतिक वातावरण में पति के साथ क्रीड़ा करूँ।^२ किन्तु वर्षाऋतु के अभाव में मेघों से आच्छादित आकाश का दर्शन ही कैसे होगा, इस विचार ने रानी धारिणी को चिन्तित कर दिया। वे मन ही मन दुःखी रहने लगीं। राजा श्रेणिक को किसी प्रकार

१. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र प्रथम अध्याय पृ० २१-४५
त्रिषष्टिशलाकापुरुष०, पर्व ११, सर्ग १२, पृ० २३४-२३५
२. ज्ञाताधर्मकथा ८-१०, १३, १५-१७, २३
कल्पसूत्रवृत्ति पृ० ३०-३१
अनुत्तरीपपातिक, १-२
३. त्रिषष्टिशलाकापुरुष०, पर्व १०, सर्ग ६, पृ० ११७

यह सब मालूम हुआ तो उन्होंने रानी को आश्वस्त किया और कहा—
तुम्हारी कामना अवश्य पूरी होगी।

उन्होंने अपने पुत्र अभयकुमार (राज्य के मंत्री) से सारा वृत्तान्त कहा। अभयकुमार ने तीन दिनों तक निरन्तर उपवास रखकर अपने आराध्यदेव की आराधना की। साधना में दृढ़ अभयकुमार को देखकर उनके पूर्वभ्रत के मित्र (जो अब देवयोनि में थे) ने उनकी सहायता करने का निर्णय लिया। अतः अभयकुमार की सहायताार्थ देव ने आकाश में अकाल मेघ की रचना कर माता धारिणी का दोहद पूर्ण किया।¹

कालान्तर में गर्भ काल पूर्ण होने पर रानी धारिणी ने सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। माता को मेघ का दोहद हुआ था अतः पुत्र का नाम मेघकुमार रखा गया। उनका पालन-पोषण बड़ी सतर्कतापूर्वक किया गया। जब वे युवा हुए तब उनका पाणिग्रहण संस्कार आठ विदुषी राजकुमारियों के साथ किया गया। किसी समय भगवान् महावीर भ्रमण करते हुए नगर में पधारे, मेघकुमार भी उनके प्रवचन सुनने गये। भगवान् महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर वे ऐश्वर्य की ओर से विमुख हुए तथा दीक्षा लेने का संकल्प किया। माता धारिणी से प्रव्रज्या लेने के लिये आज्ञा चाही। माता को अपने पुत्र के इस संकल्प से आकुलता हुई और वात्सल्य स्नेह से प्रेरित होकर पुत्र से बोली 'हे पुत्र ! तुम सुकुमार हो, दीक्षा-पर्याय सरल नहीं है तुम्हें महाकठिन पाँच महाव्रत पालन करने होंगे। तुमको रात्रि भोजन का त्याग करना पड़ेगा, उद्गम-शुद्ध, उत्पादनाशुद्ध, ग्रासशुद्ध तथा एषणाशुद्ध आहार ग्रहण कर जीवन निर्वाह करना पड़ेगा। लोभ को छोड़कर अपरिग्रह से रहना होगा, तीन गुप्ति और पंच समिति धारण करना होगा।

माता ने साधु-व्रतों के बारे में विस्तार से बताया। उन्होंने कहा—हे वत्स ! तुम्हें जीवनपर्यन्त स्नान का त्याग करना होगा। भूमिशयन, केश-लोच तथा साधु-संघ के साथ उपाश्रय में रहना होगा। क्षुधा के २२ परिषहों को सहना होगा तथा शूद्र, तिर्यञ्च, नर और देवों के उपसर्गों को भी सहन करना होगा। वत्स ! दीक्षा लेना, लोहे के चने चबाने से भी दुष्कर है। यह सरल कार्य नहीं है, यह सब खड्ग की तीक्ष्ण धार पर चलने के समान है।¹

१—असमय हो मेघ आच्छादित हुए—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र। अ-१, पृ० २८-४५

२—अभयकुमार मंत्रीश्वरनुं जीवनचरितुं (पृ० सं० १४४)

माता धारिणी ने अनेक प्रकार से समझाया लेकिन मेघकुमार अपने संकल्प से तनिक भी नहीं डिगे। उन्होंने भगवान् महावीर के सान्निध्य में प्रव्रज्या अंगीकार की। उनके साथ उनकी आठों रानियों ने भी दीक्षा ग्रहण की। मेघकुमार माता धारिणी के एकमात्र पुत्र थे, पुत्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने के संकल्प से स्वाभाविक रूप से उन्हें व्यथा हुई। आँखों में ममताश्रु के साथ उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र को प्रव्रज्या के लिए अनुमति दी। पुत्र को अनुमति देते समय माता के समक्ष पुत्र की शैशवावस्था के चित्र बार-बार उपस्थित होकर उन्हें विचलित कर रहे थे।

धारिणी-मूल्यांकन

मेघकुमार ने दीक्षा लेने के पूर्व माता से ही यह सब जाना कि साधु-जीवन सरल नहीं होता, यह एक कठिन मार्ग है। माता धारिणी के चरित्र से यह बोध होता है कि भगवान् महावीर के समय में भी स्त्री में शक्ति, सहयोग और त्याग विद्यमान रहा। सद्धर्म के प्रसार में नारी का अप्रतिम त्याग रहा, जिसकी तुलना अन्यत्र सरलता से सुलभ नहीं है।

अंगारवती :

अंगारवती उज्जैनी (अवन्तिका) के महाप्रतापी राजा चंडप्रद्योत की रानी लक्ष्म्यवतार रूप पुत्री वासवदत्ता की माता थी। शारीरिक-सौष्ठव तथा सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण, विनयादि गुणों की आगार राजकन्या वासवदत्ता को माता अंगारवती व पिता चंडप्रद्योत पुत्र से भी अधिक स्नेह व वात्सल्य से रखते थे।

एक समय राज्य दरबार में रानी मृगावती (कौशाम्बी के राजा शतानीक की रानी) का अत्यन्त सुन्दर चित्र देखकर स्त्री-लोलुप राजा चंडप्रद्योत आसक्त हो गया और मृगावती को अपनी रानी बनाने की इच्छा से कौशाम्बी नगरी को चारों ओर से घेर लिया। राजा शतानीक को इस अप्रत्याशित आक्रमण से आघात पहुँचा। वे इसे सहन नहीं कर पाये और कुछ दिनों बाद उनकी मृत्यु हो गई। कौशाम्बी के इस युद्ध में राजा चंडप्रद्योत अपने अंतःपुर की सभी रानियों को साथ ले गये थे। बाद में रानियों को यह मालूम हुआ कि राजा कौशाम्बी की रानी मृगावती को अपने अन्तःपुर में रानी बनाकर रखना चाहते हैं। राजा के इस कृत्य से रानियों के आत्म-सम्मान को गहरी ठेस लगी।

१. आवश्यकचूर्णि द्वि० पृ० १६१, १९९ आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि), पृ० १०४

तीर्थंकर महावीर बीसवें चार्तुमास के समय कौशाम्बी नगरी पधारे, कौशाम्बी को चंडप्रद्योत ने अपने सैन्य दल के साथ घेर रखा था। रानी मृगावती को जब यह सुसंवाद प्राप्त हुआ कि महावीर पधारे हैं तो वह भी दर्शन हेतु तीर्थंकर महावीर के समवसरण में गई। रानी अंगारवती तथा शिवा आदि रानियों ने महावीर के समवसरण में जाने हेतु चण्ड-प्रद्योत से आज्ञा प्राप्त की। इसी अवसर पर कौशाम्बी की रानी मृगावती ने दीक्षा ग्रहण की। तीर्थंकर महावीर को श्रद्धा-विनयपूर्वक वंदन इत्यादि कर रानी अंगारवती विचार करने लगी कि मैं तथा मेरी भाँति रूप-गुण सम्पन्न अन्य रानियों के अन्तःपुर में होते हुए भी राजा मृगावती को पाने के लिए पागल हो रहे हैं। यह क्षणभंगुर सौन्दर्य का आकर्षण मनुष्य की अधोगति का कारण है। पुरुष केवल हमें भोग की वस्तु समझकर अनादर करता है, फिर इस जीवन की सार्थकता ही क्या है? अतः मैं भी तीर्थंकर महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण कर आत्म-कल्याण के मार्ग का अनुसरण करूँ। एक दृढ़-संकल्प के साथ उसने मृगावती की भाँति अपने स्वामी राजा चंडप्रद्योत से आज्ञा प्राप्त कर तीर्थंकर महावीर से प्रव्रज्या अंगीकार की।^१ इस प्रकार साध्वी अंगारवती आर्या चन्दना के-साध्वी-संघ में सम्मिलित हुई तथा कई प्रकार के तप, व्रत करते हुए आत्म-कल्याण में संलग्न रही।

नन्दा^२ :

वेन्नातट नगर के व्यापारी भद्र श्रेष्ठी की गुणवान् पुत्री नन्दा राजगृह के कुमार श्रेणिक की पत्नी थी। माता-पिता ने उसे लाड़-प्यार से पाला-पोसा और स्त्रियोचित् शिक्षा देकर सर्व कार्यों में निपुण बनाया। स्नेहवश उसे सुनन्दा नाम से भी पुकारा जाता था। शनैः शनैः नन्दा किशोर वय को प्राप्त हुई। माता-पिता उसके लिए योग्य वर की तलाश करने लगे। इसी बीच राजगृह नरेश प्रसेनजित् के पुत्र श्रेणिक भद्र श्रेष्ठी की दुकान पर विचरण करते हुए आये। कुमार श्रेणिक ने श्रेष्ठी को उसके कार्य में सहायता की जिससे भद्र श्रेष्ठी प्रसन्न हुए और उन्हें अपने निवास स्थान पर ले गये। यथोचित् अतिथि सत्कार कर अपने साथ भोजन कराया।

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १३४

१. अन्तकृद्दशा १६, अनुत्तरोपपातिक १, निरयावलिका १.१ ज्ञाताधर्मकथा ६, आवश्यकचूर्णि, द्वि० पृ० १७१ आदि।

शनैः शनैः परिचय बढ़ता गया और नन्दा भी इस युवक की ओर आकृष्ट हो गई। नन्दा के पिता भद्र श्रेष्ठी को जब मालूम हुआ तो वे बड़े प्रसन्न हुए और नन्दा का विवाह श्रेणिक से करने को तैयार हो गये।

श्रेणिक को जब यह बात मालूम हुई तो वह श्रेष्ठी पुत्री नन्दा से बोले, 'भद्रे ! मेरे समान अपरिचित व्यक्ति जिसके माता-पिता व वंश का आपको पता न हो, उससे विवाह करना कदापि उचित न होगा।' इस पर नन्दा ने मर्यादापूर्वक उत्तर दिया, 'हे भाग्यवान् ! मैंने निश्चय कर लिया है कि यदि मैं विवाह करूँगी तो आपसे ही करूँगी, नहीं तो संयमपूर्वक कौमार्य व्रत धारण कर जीवन बिताऊँगी। आप परदेशी हैं, विवाहोपरान्त मुझे छोड़कर यदि चले भी जायेंगे तो मैं पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई दिन-रात आपका नाम जपती रहूँगी।' श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री का दृढ़ निश्चय जानकर बहुत धूमधाम से दोनों का विवाह संस्कार सम्पन्न किया। भार्या नन्दा के साथ श्रेणिक ने कुछ समय आनन्द से व्यतीत किया।^१

तत्पश्चात् श्रेणिक के पिता प्रसेनजित् के व्याधिग्रस्त होने पर श्रेणिक अपनी एक निशानी नन्दा को देकर राजगृह चले गये। यहाँ नन्दा के गर्भ को जब तीन महीने हुए तो उसे एक दोहद उत्पन्न हुआ कि मैं हाथी पर चढ़कर बाजे-गाजे के साथ निकलूँ, रास्ते में जो दीन-दुःखी मिलें उन्हें दान देकर उनका दुःख दूर करूँ, अहिंसा धर्म का पालन करूँ और साधु-सन्तों को सात्विक भोजन कराके धर्म प्रचार करवाऊँ। पुत्री नन्दा की इस अभिलाषा को जानकर उसकी माता प्रसन्न हुई। माता-पिता ने नगर के राजा से हाथी माँगकर पुत्री का मनोरथ पूर्ण किया।^२ यथासमय नन्दा ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। माता महे (माता के पिता) ने शुभ दिन और मुहूर्त में 'अभयकुमार' नामकरण किया।^३

कालान्तर में अभय कुमार कई कलाओं में पारंगत हुए। माता से पिता का परिचय प्राप्त कर माता नन्दा को साथ लेकर राजगृह की ओर

१. (क) उपा० चन्द्रतिलक—अभयकुमार मंत्रीश्वर जीवन चरित्र, पृ० २४

(ख) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ६, पृ० १०८

२. कल्याण, नारी अंक, पृ० ७१३

३. बौद्ध परम्परा में अभयकुमार उज्जैनी की पद्मावती गणिका से उत्पन्न हुए श्रेणिक का पुत्र था ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। (येरीगाथा-३१-३२)

चल पड़े^१। राजा श्रेणिक, पत्नी व बुद्धिमान पुत्र को पाकर अत्यन्त आनन्दित हुए। राजा श्रेणिक ने भव्य समारोह के साथ नन्दा को अपनी पटरानी बनाया। रानी दीन-द्ररिद्रों को सेवा, धर्मोपदेश, ईश्वर की आराधना तथा सत्कार्यों में अपना जीवन व्यतीत करने लगी।

एक समय तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का प्रभाव रानी नन्दा पर बहुत गहरा पड़ा। उसने राजा श्रेणिक से दीक्षा लेने की अभिलाषा प्रकट की। श्रमणोपासक राजा श्रेणिक ने सहर्ष स्वीकार कर राज्योचित-समारोहपूर्वक रानी नन्दा को तीर्थंकर महावीर के समवसरण में प्रेषित किया। यहाँ सर्वज्ञ प्रभु के पास नन्दा ने भागवती दीक्षा ग्रहण की। इन्हीं की प्रेरणा से राजा श्रेणिक की अन्य रानियों ने भी दीक्षा अंगीकार की (जिसका विवरण आगे दिया गया है) इन्होंने सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। साध्वी संघ की प्रमुख आचार्या चन्दना के संघ में सम्मिलित होकर अनेक प्रकार की उग्र तपस्या कर कर्मों का क्षय किया। बीस वर्षों तक चारित्र्यपर्याय का पालन तथा दो मास तक संथारा कर सभी कर्मों का क्षय करते हुए मोक्ष की अधिकारिणी हुई^२। नन्दा के साथ ही श्रेणिक की अन्य रानियों ने भी दीक्षा ग्रहण की—२. नन्दमती, ३. नन्दोतरा, ४. नन्दिसेणिया, ५. मरुया, ६. सुमरिया, ७. महामरुता, ८. मरुदेवा, ९. भद्रा, १०. सुभद्रा, ११. सुजाता, १२. सुमना, और १३. भूतदत्ता आदि ने भगवान् के साध्वी संघ में प्रवेश किया।

श्वेताम्बर परम्परा में चेटक की पुत्रियों का उल्लेख

चेटक की पुत्रियों के नाम	चेटक के जामाताओं के नाम	उनकी राजधानी के नाम
प्रभावती	उदायन	सिंधु सौवीर
पद्मावती	दधिवाहन	चम्पा
मृगावती	शतानीक	कौशाम्बी
शिवा	चण्डप्रद्योत	अवन्ती
ज्येष्ठा	भगवान् के भाई नन्दिवर्धन	कुण्डग्राम
सुज्येष्ठा	(साध्वी बन गई)	
चेलणा	बिम्बसार (श्रेणिक)	मगध

स्रोत:—त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पृ० १११

उद० भगवती शतक—७, पृ० १२१ चेटक की सात पुत्रियों का वर्णन

१. एम. सी. मोदी—अंतगडदसासूत्र, अनुत्तराववाइय-वर्ग-१

दिगम्बर परम्परा में चेटक की पुत्रियों का उल्लेख

चेटक की पुत्रियों के नाम	चेटक के जामाताओं के नाम	उनकी राजधानी के नाम
प्रियकारिणी	सिद्धार्थ	कुण्डपुर
मृगावती	शतानोक	कौशम्बी
सुप्रभा	दशरथ	अयोध्या
प्रभावती	उद्दायन	सिंधु सौवीर
चेलना	श्रेणिक	मगध
ज्येष्ठा	विरक्ति	
चंदना	महावीर की प्रथम साध्वी	

स्रोत:—महाकवि पुष्पदंत—वीरजिणिंदचरित्त,
सं० डा० हीरालाल जैन, पृ० ६३

वासवदत्ता^१ :

अर्वन्तिका (उज्जयिनी) के महापराक्रमी राजा चंडप्रद्योत तथा रानी अंगारवती की पुत्री वासवदत्ता थी। सुलक्षणा, सुशीला बालिका को माता-पिता अत्यन्त स्नेह से रखते थे। कन्या वासवदत्ता ने कई कलाओं में निपुणता प्राप्त की लेकिन गंधर्व कला (संगीत) की शिक्षा गुरु के अभाव में प्राप्त नहीं कर पाई थी। राजा चंडप्रद्योत अपनी पुत्री को संगीत विद्या में पारंगत कराना चाहता था। राज मंत्रियों से यह विदित होने पर कि कौशाम्बी का राजा उदयन संगीत विद्या में पारंगत है, राजा प्रद्योत के चतुर सेवकों ने छल-कपट पूर्वक राजा उदयन को पकड़कर राज्य दरबार में उपस्थित किया। प्रद्योत को यह आशंका थी कि कहीं उदयन मेरी पुत्री पर मोहित न हो जाय, इसलिये उसने पुत्री को एक आँखवाली तथा उदयन को कुष्ठ रोग से पीड़ित बताकर विद्या सिखाने के समय बीच में परदा डलवा दिया।

कुछ समय पश्चात् यह असत्य कथन का भेद प्रत्यक्ष हो गया और बीच के व्यवधान के दूर होते ही दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गये तथा

१. आवश्यकचूर्णि द्वि०, पृ० १६१-६२, उत्तराध्ययनसूत्र एवं नियुक्ति,
पृ० १४२

१० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

प्रणयसूत्र में बँध गये। एक समय प्रद्योत के अनगगिरी हाथी को वश में करने में वासवदत्ता तथा उदयन ने अपनी कला का परिचय दिया जिससे राजा प्रसन्न हो गया। राजा उदयन अपनी राजधानी जाने के अवसर की ताक में था। कौमुदी (वसंतोत्सव) उत्सव के समय जब राजा तथा प्रजा नगर के बाहर के उद्यानों में रंग-राग में व्यस्त थे, उसी समय वासवदत्ता, उसकी सखी कंचनमाला, घोषवती वीणा तथा वसंत महावत को लेकर पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार राजा उदयन वेगवती हथिनी पर आरूढ़ होकर अपनी राजधानी लौट आया। अन्त में पुत्री के वात्सल्य के कारण प्रद्योत ने गुणी राजा उदयन को अपना दामाद स्वीकार किया।^१

वासवदत्ता-मूल्यांकन

इस कथा से यह आभास होता है कि उस समय कन्याओं की चौसठ कलाओं में पारंगत करने की प्रथा थी। कन्याओं को सर्वगुण सम्पन्न बनाने का कार्य माता-पिता का होता था। यही कन्याएँ अपने भावी जीवन की कठिनाइयों का सामना अपने ज्ञान तथा विवेक से किया करती थीं।

दुर्गन्धा :

राजगृह के राजा श्रेणिक की छोटी रानी का नाम दुर्गन्धा था। इसने अल्पकाल में ही कर्मों का क्षय कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। दुर्गन्धा के विवाह-प्रसंग के बारे में निम्न प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।

एक बार राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के समवसरण में जा रहे थे। तब सैनिकों ने मार्ग में उन्हें बताया कि निकट वृक्ष की छाँव में एक बालिका पड़ी हुई है जिसके बदन से तीव्र दुर्गन्ध आ रही है और पथिक उस ओर जाने से मुँह मोड़ रहे हैं। इस संवाद ने श्रेणिक राजा की विचारधारा मोड़ दी और उन्हें इस अबोध बालिका के भूत-भविष्य के बारे में जानने की जिज्ञासा हुई। आतुर राजा ने सर्वज्ञ महावीर से सम्पूर्ण वृत्तान्त निवेदित किया और कारण जानने की इच्छा प्रकट की।

भगवान् महावीर ने कहा “हे आर्यपुत्र ! यह दुर्गन्धा बालिका पूर्वभव में शालिग्राम के धनमित्र की धनश्री नामक कन्या थी। जब धनश्री का विवाह महोत्सव बहुत धूमधाम से मनाया जा रहा था उस समय निर्ग्रन्थ

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग १०, पृ० २०४

श्रमण भिक्षा के लिये उनके यहाँ आये। श्रेष्ठी ने विनय से वन्दन कर धनश्री से साधुओं को अन्नाहार देने के लिए कहा। धनश्री ने भोजन उनके काष्ठ के पात्रों में अर्पित किया, पर उनके मलिन वस्त्रों की दुर्गन्ध उसे आई और वह सोचने लगी कि श्रमण धर्म के सब सिद्धान्त उच्च कोटि के हैं, पर सचित्त जल (बहता पानी) में मुनियों को स्नान करने की अनुमति होती तो उसमें क्या दोष हो जाता ? यह दुर्गन्ध स्नान नहीं करने से ही आती है। परिणामस्वरूप मुनियों की मलिनता से घृणा करने पर जो जुगुप्सा उत्पन्न हुई उससे जो कर्मबन्ध हुआ उसके कारण यह इस भव में वेश्या की पुत्री हुई, दुर्गन्ध के कारण वेश्या ने उसे निर्जन वन में छोड़ दिया है।”

राजा श्रेणिक को उसके भविष्य के बारे में बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा “हे देवानुप्रिये ! यह बालिका अशुभ कर्मों के क्षय होने पर तुम्हारी रानी होगी और तुम उसे पटरानी बनाओगे। उसके पहचानने का लक्षण यह रहेगा कि जब वह शतरंज में तुमसे जोतेगा तो तुम्हारी पीठ पर बैठ जायेगी जबकि दूसरी रानियाँ केवल अपना पल्ला (आँचल) डालेंगी इससे तुम पहचान जाओगे कि यह वही दुर्गन्धा बालिका है।” इस अद्भुत कर्मगति की विचित्र बात सुनकर राजा आश्चर्यचकित हो गये और उपदेश श्रवण कर अपने महल को लौट आये।

एक समय कौमुदी मेले में राजा श्रेणिक तथा महामंत्री अभयकुमार वेश बदलकर मेले का आनन्द ले रहे थे, साथ ही नागरिकों को विचार-धारा तथा चर्चा को भी जानना चाहते थे। उस समय एक कन्या राजा श्रेणिक पर अपना हाथ रखकर कौतुक देखने लगी। यह दुर्गन्धा बालिका थी, जिसे मार्ग पर से एक निःसंतान ग्वालिन ने उठाकर अपनी पुत्री की भाँति पाला था। कर्मक्षय होने पर यह बालिका एक सुन्दर युवती में परिवर्तित हो गई। बहु पत्नियों का स्वामी राजा श्रेणिक इस नवयुवती के रूप व सम्पर्क से मोहित हो गया और उसे पाने के लिये अपनी मुद्रिका उसके पल्लू में बाँध दी। अभयकुमार ने अपनी विलक्षण बुद्धि से राजा का मन्तव्य जान लिया और उस नवयुवती से राजा श्रेणिक का विवाह हो गया तथा पूर्व में की गई तीर्थंकर महावीर की भविष्य-वाणी भी सत्य हुई।

दुर्गन्धा को अपने पूर्वभव के कर्मबंधन की क्रिया, इस भव में दुर्गन्ध-पूर्ण शरीर तथा तत्कालीन बहुपत्नियों वाले पति के बीच स्वयं को देख

कर ग्लानि हुई, अतः वह चिंतन की गहराई में डूब गई। भौतिक जीवन की क्षणभंगुरता को देख उसने राजा श्रेणिक से दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की। राजा ने राजसी वैभवपूर्वक दीक्षा महोत्सव का आयोजन किया। रानी दुर्गन्धा साध्वी बनकर आचार्या चन्दना के साध्वी संघ में सम्मिलित होकर आत्म कल्याण में प्रवृत्त रहने लगी।^१

दुर्गन्धा—मूल्यांकन

पत्रज्या के अनन्तर जीवन की सुरभि एक अलग प्रकार की होती है, मलिनता का प्रश्न शेष नहीं रह जाता। बोधता अथवा अबोधता के कारण जीवनमात्र के प्रति मन में घृणा का भाव उत्पन्न न होने पाये, यह सब अभ्यास पर निर्भर है। दुर्गन्धा का जीवन भी इसी प्रकार की भावना ईंगित करता है जो कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के निकट ले जाती है।

पृथा :

वैशाली गणराज्य के अध्यक्ष चेटक की रानी पृथा^२ सात विदुषी कन्याओं तथा दस वीर पुत्रों की माता थी। माता की अद्भुत सूक्ष्म-बुद्धि के कारण सातों कन्याओं ने विभिन्न कलाओं में शिक्षा व निपुणता प्राप्त की, तत्कालीन समाज में, त्याग, तपस्या तथा सेवा के कारण इन कन्याओं का नाम व यश चारों ओर फैला हुआ था।

रानी पृथा व राजा चेटक श्रमण धर्म के उपासक थे। राजा निष्ठा व दृढ़तापूर्वक श्रमण धर्म के बारह व्रतों का पालन करते थे। धर्म के सिद्धान्तों को आचरण में लाने को तत्पर रहते थे। इन्हीं व्रतों के पालन में वे आरंभ-संरंभ वाले कार्यों से दूर रहते थे। अपनी विभिन्न कलाओं में निपुण कन्याओं के विवाह के लिये भी वे उदासीन रहते थे। रानी ने कई प्रकार से राजा को इस दायित्व निर्वाह के लिये समझाया पर राजा ने इस कार्य में अधिक उत्साह नहीं दिखाया, क्योंकि विवाह आदि संसार-वृद्धि के आयोजनों से दूर रहने का वे प्रण ले चुके थे। अन्ततोगत्वा रानी पृथा ने यह जिम्मेदारी स्वयं वहन करने का निश्चय किया और अपनी पाँचों कन्याओं का निकटवर्ती राज्य के प्रसिद्ध राजाओं से विवाह किया।^३

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ७, पृ० १३१-१३३

२. दिगम्बर परंपरा में चेटक की रानी का 'सुभद्रा' नामोल्लेख है।

'विरजिणिद चरिउ'

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग ६, पृ० १११

महारानी पृथा धार्मिक कार्यों में राजा चेटक को पूर्ण सहयोग देती थीं। उनके साहस व उदात्त गुणों का प्रवाह उनकी पुत्रियों के जीवन में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। उन्होंने जीवन की कई कठिन समस्याओं का बहुत वीरता से सामना किया और सतीत्व-रक्षा के लिये प्राणों का भो मोह त्याग दिया। अतः वे सभी कन्याएँ वीर व धर्म परायणा थीं, जिनका तत्कालीन महिला समाज पर बहुत प्रभाव था। पद्मावती, मृगावती आदि कन्याओं की वीरता एवं धार्मिक गुणों के कारण तत्कालीन महिला समाज में रानी पृथा को भी सम्मानित स्थान प्राप्त था। जैन धर्म के इतिहास में इनकी गौरव गाथा स्वर्णाक्षरों से लिखी गई है।

पृथा-मूल्यांकन

महारानी पृथा का जोवन यह बोध कराता है कि संतानों का दायित्व पति-पत्नी दोनों का तो है ही किन्तु माता का दायित्व सन्तान के प्रति पिता से भी बढ़कर है। माता संतान की प्रथम गुरु है और उसकी शिक्षा-दीक्षा के अनुरूप ही सन्तान अपने जीवन निर्माण करने की ओर अग्रसर होती है। एक सच्ची सहधर्मिणी का दर्शन निश्चय ही महारानी पृथा के जीवन से होता है।

काली :^१

राजगृही के राजा श्रेणिक की रानी काली कूणिक (अजातशत्रु) की विमाता एवं कालकुमार की धर्मपरायणा माता थी। राजा श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् अपना समय धर्मध्यान में व्यतीत करती थी।

एक समय तीर्थंकर महावीर विभिन्न नगरों व ग्रामों में धर्मदेशना देते हुए चम्पानगरी^२ के पूर्णभद्र चैत्य (उद्यान) में पधारे। उनके आगमन का शुभ सन्देश नगर में फैलते ही, नागरिक तथा राजा के अन्तःपुर की राज-महिषियाँ भी त्रिकालदर्शी महावीर के दर्शन तथा प्रवचन श्रवण करने के लिए गईं। देशना के अनन्तर अनुकूल अवसर देख काली रानी ने विनय-पूर्वक जिज्ञासा व्यक्त की “हे भगवन् ! कालकुमार युद्ध में गये हुए हैं, क्या वे सकुशल वापस लौटेंगे ?”

पुत्र स्नेह से व्याकुल रानी के इस प्रश्न के उत्तर में महावीर ने कहा

१. अन्तकृद्शा १७, निरयावलिका १-१, आवश्यकवृत्ति, पृ० ६८७

गच्छाचार प्रकीर्णकवृत्ति, पृ० ३१, उत्तराध्ययनसूत्र, पृ० ८४

२. कूणिक ने राजगृह के स्थान पर चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था।

“हे देवानुप्रिय ! तुम्हारा पुत्र युद्ध में मारा गया है।” पुत्र वियोग से दुःखी माता को महावीर ने संसार की नश्वरता तथा संयोग-वियोग के सम्बन्ध में उपदेश दिया। पुत्र की अकाल मृत्यु ने माता का हृदय परिवर्तित कर दिया। रानी संसार के सुख वैभव से विमुख होकर त्याग और वैराग्य मार्ग अपनाने के लिये तत्पर हो गई। तीर्थंकर महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण कर काली रानी आर्या चन्दना के साध्वी संघ में सम्मिलित होकर अपना जीवन सार्थक करने लगी। इस प्रकार दीक्षित होने के पश्चात् साध्वी काली कठोर तपस्या कर कर्मों की निर्जरा करने लगी। आत्मशक्ति का यह अद्भुत परिचय भारतीय नारियों में कूट-कूट कर भरा है जिसकी झलक आज तक हमें दिखाई देती है।

एक दिन साध्वी काली ने आर्या चन्दना से पूछा कि आप आज्ञा दें तो मैं ‘रत्नावली तप’ करूँ। आर्या चन्दना की अनुमति प्राप्त होने पर उन्होंने ‘रत्नावली तप’ प्रारम्भ किया। इस कठोर तपस्या से साध्वी काली का देह अत्यन्त क्षीण हो गया। उसके शरीर का रक्त और मांस सूख गया, शरीर मात्र हड्डियों को ढाँचा रह गया। शरीर के सूख जाने पर भी भस्म से आच्छादित अग्नि के समान उनका शरीर स्रष्टेजस्वी लगता था।

एक दिन अपने शरीर की शक्ति क्षीण होते देख साध्वी काली ने विधिपूर्वक सल्लेखना (अन्न, जल का त्याग) लेने का संकल्प किया। आर्या चन्दनबाला से आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने सल्लेखना व्रत लिया। काली साध्वी ने आठ वर्ष तक चारित्र्य पर्याय का पालन कर उत्कृष्ट तपस्या से कर्मों का क्षय करके अन्त में एक मास की सल्लेखना विधि से प्राण त्याग कर सिद्ध गति को प्राप्त किया।^१

सुकाली^२ :

चम्पा नगरी के राजा कूणिक की माता सुकाली राजगृह के राजा श्रेणिक की रानी थी। अपने पुत्र सुकालकुमार की मृत्यु का समाचार सुनकर सुकाली को वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्होंने आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा ग्रहण को तथा सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। सुकाली ने कनकावली नामक तप प्रारम्भ किया। इसकी एक परिपाटी में एक वर्ष पाँच माह व अट्ठारह दिन लगते हैं।

१. एम० सी० मोदी-अन्तगडदसाओ-अट्टमो वग्गो, सूत्र १७, पृ० ५३-५६

२. निरयावलिका २. २, अन्तकृद्दशा १८

इसमें अट्ठाइस दिन पारणे के और एक वर्ष दो महीने चौदह दिन तपस्या के होते हैं। चारों परिपाटी को पूरा करने में पाँच वर्ष नौ महीने अट्ठारह दिन लगते हैं। सुकाली आर्या ने भी काली आर्या की तरह किया और चारित्र्य पालन कर साठ भक्तों का अनशन कर केवलज्ञान प्राप्त किया और मुक्तात्मा हुई।^१

महाकाली :^२

महाकाली राजा श्रेणिक की रानी और कूणिक राजा की छोटी माता थी। पुत्र की अकाल मृत्यु तथा भगवान् महावीर के उपदेश श्रवण से उन्हें वैराग्य हुआ। सुकाली आर्या की तरह आर्या चन्दनबाला से दीक्षा लेकर सामायिकादि ११ अंगसूत्रों का अध्ययन कर अनेक प्रकार की छोटी बड़ी तपस्या की। एक समय आर्या चन्दनबाला की आज्ञा प्राप्त कर इस साध्वी ने 'लघुसिंहनिष्क्रोडित' तप प्रारम्भ किया। इस एक परिपाटी में छः महीने सात दिन लगे। इस प्रकार महाकाली आर्या ने चार परिपाटी की जिनमें दो वर्ष और अट्ठाइस दिन लगे।

इस प्रकार महाकाली आर्या ने सूत्रोक्त विधि से 'लघुसिंहनिष्क्रोडित तप' की आराधना की। अन्तिम समय में संथारा करके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर मोक्ष गई। इस आर्या ने दस वर्ष तक चारित्र्य का पालन किया।

कृष्णा^३ :

राजा श्रेणिक की रानी कृष्णा चम्पा के महाराजा कूणिक की छोटी माता थी। पुत्र की मृत्यु के समाचार तथा भगवान् के उपदेश से इन्हें वैराग्य उत्पन्न हुआ और इन्होंने आर्या चन्दनबाला के समीप दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेकर आचार्या की आज्ञा से 'महासिंहनिष्क्रोडित' तपस्या की। इस तपस्या की चार परिपाटी में ६ वर्ष २ महीने और १२ दिन लगे। इस तरह कृष्णा आर्या ने 'महासिंहनिष्क्रोडित' तप शास्त्रोक्त विधि से पूरा किया। इस कठोर तप-साधना के कारण कृष्णा साध्वी का देह

१. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष, पर्व १०, सर्ग १२, पृ० २४६

(ख) निरयावलिका अध्ययन, १

(ग) एम० सी० मोदी-अंतगड़दसाओ-अट्ठमो वग्गो, सूत्र १८, पृ० ५६-५७

२. अन्तकृद्दशा १९, २६

३. एम० सी० मोदी-अंतगड़दसाओ-अट्ठमो वग्गो, सूत्र १९, पृ० ५७-५८

क्षीण हो गया। इन्होंने ११ वर्ष तक दीक्षा पर्याय का पालन करते हुए मोक्षपद प्राप्त किया।^१

सुकृष्णा :^२

रानी सुकृष्णा चम्पा के राजा कूणिक की लघु माता एवं राजगृह के महाराजा श्रेणिक की रानी थी। पुत्र की अकाल मृत्यु तथा भगवान् महावीर के उपदेश से उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और चन्दनबाला के पास दीक्षा ग्रहण कर सामायिकादि ग्यारह अंग सूत्रों का अध्ययन करने लगी। चन्दनबाला से आज्ञा लेकर सुकृष्णा ने अष्ट-अष्टमिका भिक्षु प्रतिमा तप किया। यह तपस्या चौसठ दिन रात में पूर्ण हुई। जिसमें आहार पाने की २८८ दत्ति हुई। सुकृष्णा ने शास्त्रोक्त विधि से इस अष्ट अष्टमिका प्रतिमा की आराधना की। इसके पश्चात् उन्होंने नव-नवमिका भिक्षु प्रतिमा तथा दस-दसमिका भिक्षु प्रतिमा तपस्या पूर्ण की। इस प्रकार यह तप उन पचास, चौसठ, इक्यासी और एक वर्ष में पूर्ण हुआ। इस प्रकार इन भिक्षु प्रतिमाओं की शास्त्रोक्त विधि से आराधना कर सुकृष्णा आर्या अर्द्धमास खामण व मासखामण आदि विभिन्न प्रकार की तपस्या से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी। इस प्रकार घोर तपस्या के कारण सुकृष्णा आर्या अत्यधिक दुर्बल हो गई। अन्त में एक माह का संथारा करके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध गति को प्राप्त हुई। इसने १२ वर्ष तक चारित्र का पालन किया था।^३

महाकृष्णा^४ :

कूणिक राजा की छोटी माता तथा श्रेणिक राजा की छठी रानी का नाम महाकृष्णा था। इसने भी काली रानी की तरह भगवान् महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण की। सामायिकादि ग्यारह अंग सूत्रों का अध्ययन किया। इसने 'लघुसर्वतोभद्र तप' किया। इस तप की चारों परिपाटी के पूर्ण करने में ४०० दिन लगते हैं। इस प्रकार शास्त्रोक्त विधि से तप की आराधना कर अन्त में संथारा ग्रहण किया और सिद्ध पद प्राप्त किया। इसने तेरह वर्ष तक चारित्र का पालन किया।^५

१. एम० सी० मोदी—अन्तगङ्गदसाओ—अट्ठमो वग्गो, सूत्र २०, पृ० ५८

२. निरयावलिका १, ५, अन्तकृद्दशा—२१

३. एम० सी० मोदी—अन्तगङ्गदसाओ वग्गो, सूत्र २०।२१, पृ० ५८-६०

४. अन्तकृद्दशा २२

५. एम० सी० मोदी—अन्तगङ्गदसाओ—अट्ठमो वग्गो, सूत्र २२, पृ० ६०

वीरकृष्णा^१ :

कूणिक राजा की छोटी माता श्रेणिक राजा की सातवीं रानी का नाम वीरकृष्णा था। अन्य रानियों की भाँति वह भी दीक्षा लेकर अनेक प्रकार की तपस्या करने लगी। इन्होंने आर्या चन्दना से अनुमति लेकर 'सर्वतोभद्र तप' प्रारम्भ किया। इस तप की चार परिपाटी को पूर्ण करने में दो वर्ष, आठ मास, २० दिन लगे। उमने तप की शास्त्रोक्त विधि से आराधना को। अन्त में संधारा कर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सिद्ध गति को प्राप्त हुई। इसका पर्याय १४ वर्ष का था।^२

रामकृष्णा^३ :

कूणिक राजा की छोटी माता एवं श्रेणिक राजा की आठवीं रानी का नाम रामकृष्णा था। दीक्षा धारण कर आर्या चन्दनबाला की आज्ञा से 'भद्रोत्तर प्रतिमा तप' करने लगी।

इस तप की चारों परिपाटी को पूर्ण करने में दो वर्ष; दो महीने और बीस दिन लगे। रामकृष्णा आर्या ने इस तप को शास्त्रोक्त विधि से किया और सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन करती हुई विचरने लगी। अन्तिम समय में केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर मोक्ष पद को प्राप्त किया।^४

पितृसेनकृष्णा^५ :

कूणिक राजा की छोटी माता और श्रेणिक राजा की नौवीं रानी का नाम पितृसेनकृष्णा था। दीक्षा के बाद वह सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन कर अनेक प्रकार तप करती हुई विचरने लगी। सती चन्दन बाला की आज्ञा लेकर उसने "मुक्तावली तप" किया। इस तप की चारों परिपाटियों को पूर्ण करने में तीन वर्ष और दस महीने लगे। इस प्रकार तप करते हुए पितृसेनकृष्णा रानी ने देखा कि अब मेरा शरीर तपस्या करने से अति दुर्बल हो गया है। अतः उसने सती चन्दनबाला से आज्ञा

१. अन्तकृद्दशा, सू० २३

२. वही, सूत्र २३

३. वही, सूत्र २४, २६

४. एम० सी० मोदी-अंतगड दसाओ-अट्टमो वग्गो, सूत्र २४, पृ० ६१

५. अन्तकृद्दशा सू० २५

१८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

लेकर एक मास की सल्लेखना की। इसने १६ वर्ष तक चारित्र का पालन किया।^१

महासेनकृष्णा^२ :

श्रेणिक राजा की दसवीं रानी का नाम महासेनकृष्णा था। अपने पुत्र की मृत्यु का सन्देश पाकर उसे संसार से विरक्ति हुई तथा आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा लेकर “आर्याविल वर्द्धमान तप” करना शुरू कर दिया।

महासेनकृष्णा आर्या ने इस तप को शास्त्रोक्त विधि से किया तथा अन्य भी बहुत प्रकार के तप कर सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। कुछ समय पश्चात् आर्या चन्दनबाला से आज्ञा लेकर सल्लेखना की। मरण की वांछा न करती हुई तथा आर्या चन्दनबाला के पास पड़े हुए ग्यारह अंगों का स्मरण करती हुई धर्म ध्यान में तल्लीन रहने लगी। एक महीने का संथारा कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर मुक्त हुई। इसने १७ वर्ष तक संयम का शुद्धभाव से पालन किया।^३

सुसेनांगजा :

सुसेनांगजा राजगृह के राजा श्रेणिक की बहिन सुसेना की इकलौती पुत्री थी। बहन सुसेना का विवाह श्रेणिक ने अपने परम मित्र विद्याधर के साथ किया था। सुसेनांगजा बाल्यकाल में ही माता की गोद से वंचित हो गई। पत्नी सुसेना की मृत्यु के बाद पुत्री सुसेनांगजा के उचित पालन-पोषण हेतु उसके पिता चिन्तातुर रहते थे। अतः अपनी प्रिय पत्नी सुसेना की एकमात्र निशानी, पुत्री की रक्षा के लिये पिता ने राजा श्रेणिक से कहा “हे राजन् ! मैं अपनी इकलौती पुत्री को तुम्हारे संरक्षण में छोड़ता हूँ, तुम्हारी बहन की यही एक स्मृति है, तुम्हीं इसका योग्य पालन-पोषण कर सकोगे।”^४

बहन सुसेना की पुत्री श्रेणिक के अन्तःपुर में अपना बाल्यकाल

१. एम० सी० मोदी—अंतगड दसाओ—अट्टमो वग्गो, सूत्र २५, पृ० ६१-६२
२. अन्तकृद्दशा सू० २६
३. (क) निरयावली अध्ययन, पृ० ६०
(ख) एम० सी० मोदी—अंतगडदसाओ—अट्टमो वग्गो, सूत्र २६, पृ० ६४
४. उपा० श्रीमत् चन्द्रतिलकजी—अभयकुमार मंत्रीश्वर का जीवन चरित्र—१५९

व्यतीत करने लगी। शनैः शनैः सब कलाओं में निपुणता प्राप्त कर यौवन वय में प्रवेश किया।^१

महामंत्री अभयकुमार को योग्य वर जानकर, राजा श्रेणिक ने बहन की आत्मजा सुसेनांगजा से बहुत धूमधाम से विवाह किया। अभयकुमार की रानी बनकर इस नारी ने उनके कठिन तथा विचित्र कार्यों में कई प्रकार से सहायता की। विलक्षण बुद्धि व प्रतिभावान् पति प्राप्त होने से इस राजमहिषि ने अपने जीवन को धन्य बनाया। अर्हत् धर्म में दोनों पति-पत्नी अनुराग रखते थे। तीर्थंकर महावीर के उपदेशों को जीवन में आत्मसात् कर तदनुकूल आचरण करते थे।

पद्मावती^२ :

तेतलिपुर नगर के राजा कनकरथ की रानी पद्मावती अर्हत् धर्म पर आस्था रखती थी और राजा को भी इस ओर मोड़ना चाहती थी। कनकरथ राजा अपने राज्य तथा विभिन्न प्रकार के भौतिक साधनों में लिप्त रहते थे। वे इस भौतिक ऐश्वर्य को रंचमात्र भी छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि यदि पुत्र हुआ तो वह मुझे सिंहासनच्युत करके स्वयं राज्य का स्वामी बनेगा। अतः स्वनिर्मित इस आंतरिक भय के कारण वह रानी पद्मावती के जो भी पुत्र पैदा होते थे, उन्हें जन्म के समय ही विकलांग कर देता था। क्योंकि उस समय की व्यवस्था के अनुसार विकलांग (खंडित) व्यक्ति राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता था।

अपने पुत्रों को इस प्रकार विकलांग किये जाने से रानी अर्थात् पद्मावती को अत्यधिक कष्ट होता था। वह पुत्र वात्सल्य के कारण दुःखी होकर अपने होनेवाले शिशु की सुरक्षा के लिये सोचने लगी। उसने राज्य के विश्वासपात्र अमात्य तेतलीपुत्र से इस बारे में चर्चा की। अमात्य ने रानी को आश्वासन दिया कि राजपुत्र को जन्म लेते ही सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देंगे ताकि तेतलीपुराधिपति अपने नवजात शिशु को विकलांग न कर सके।

गर्भवती रानी ने जब राजपुत्र को जन्म दिया तो एक विश्वासपात्र धायमाता के साथ उस नवजात शिशु को अमात्य तेतलीपुत्र के यहाँ

१. त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व १०, सर्ग ६, पृ० ११०

२. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र ९६, आवश्यकचूर्ण प्र० पृ० ४९९

पहुँचा दिया तथा उसके स्थान पर तैतलीपुत्र की मृत कन्या को लाकर रानी के पास सुला दिया। धायमाता ने राजा को सन्देश दिया कि रानी ने एक मृत कन्या को जन्म दिया है। अमात्य तैतलीपुत्र ने यह सब वृत्तान्त अपनी पत्नी पोट्टिला को पहले ही बता दिया था। पोट्टिला भी आनन्दित होकर राजपुत्र का पालन-पोषण करने में कोई कसर नहीं रखती थी। चूँकि यह बालक राजा कनकरथ का पुत्र था इसलिये इसका नाम कनकध्वज रखा। धीरे-धीरे बालक बड़ा हुआ और सर्वकलाओं में पारंगत हुआ।

कुछ समय पश्चात् राजा कनकरथ की मृत्यु हो गई। नगर निवासी तैतलीपुत्र अमात्य के कार्य की प्रशंसा करते हुए उनके पुत्र को राजगद्दी पर बैठने की याचना करने लगे। इस पर नगरजनों के सामने अमात्य ने सच्ची घटना को कह सुनाया और यह कुमार राजा कनकरथ तथा पद्मावती का आत्मज है यह विश्वास दिलाया। कुमार का परिचय प्राप्त होने पर नगरवासी अत्यन्त हर्षित हुए और राज लक्ष्णों से युक्त कुमार का राज्याभिषेक किया।^१

राजा कनकध्वज भी सुचारु रूप से राज्य का पालन करता हुआ आनन्द से जीवन व्यतीत करने लगा।

पद्मावती—मूल्यांकन

अपनी संतान की सुरक्षा के लिये माता ने असत्य का सहारा लिया तथा पुत्र को योग्य बनाकर राज्य कार्य में संलग्न किया। उस काल में राजा अपनी राज्य लिप्सा को तृप्त करने के लिए कोई भी घोर अपराध करने में संकोच नहीं करते थे। पुत्र वात्सल्य के वशीभूत होकर रानी ने बड़ी चतुरता से पुत्र का संरक्षण कर उसे राज्य का अधिकारी बनाया।

जयन्ती^२ :

महावीर कालीन राजमहिषियों में तत्त्व चिंतक जयन्ती का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। जयन्ती वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी के सहस्त्रानीक राजा की पुत्री, शतानीक राजा की भगिनी

१. डा. आनन्द ऋषिजी म.—शोभाचन्द्र भारिल्ल श्रीमद् ज्ञाताधर्मकथांग, पृ० ४०६-४०८
२. आवश्यक पृ० २८, भगवती ४४१-३, भगवतीवृत्ति पृ० ५५८
बृहत्कल्पभाष्य, ३३८६

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : १०१

तथा तत्कालीन उदयन राजा की बुआ थी।^१ वह श्रमणोपासिका थी तथा अर्हत् धर्म पर श्रद्धा करने वालों का आदर-सत्कार करना अपना धर्म समझती थी।^२

तीर्थंकर महावीर कैवल्य प्राप्ति के तृतीय वर्ष में विहार करते हुए कौशाम्बी के 'चन्द्रावतरण' चैत्य में पधारे। यह शुभ सन्देश सुनकर जयन्ती राजा उदयन तथा मृगावती के साथ समवसरण में वन्दन करने गईं। देशना के पश्चात् जयन्ती ने अर्हत् धर्म के तत्त्व तथा दार्शनिक पहलुओं को विस्तार से समझने के लिये चार महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये—

प्रश्न १ : भगवन् ! जीव हल्का कैसे होता है और भारी कैसे होता है ?

प्रश्न २ : भगवन् ! भव्यपन, अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता, जीव में स्वभावतः होती है या परिणाम से ?

प्रश्न ३ : भगवन् ! क्या सब भव-सिद्धिक मोक्ष जाने वाले हैं ?

प्रश्न ४ : भगवन् ! यदि सब भव-सिद्धिक जीवों की मुक्ति होना माना जाय तो क्या संसार कभी भव्य जीवों से खाली शून्य हो जायेगा ?

उपरोक्त चारों प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने इस प्रकार दिये :—

उत्तर प्रश्न क्र० १—हिंसा, असत्य आदि अठारह दोषों के सेवन से इस जीव पर इतना अधिक पाप कर्मों का भार हो जाता है कि वह नरक, तिर्यंच आदि गतियों में निम्न स्थान प्राप्त कर महान् दुःख सहन करता है।

उत्तर प्रश्न क्र० २—हिंसा, असत्य आदि की निवृत्ति से जीव को तीव्र कर्म का बंध नहीं होता और वह संसार भ्रमण से बचकर शीघ्र मुक्ति मार्ग को प्राप्त करने में सफल होता है।

उत्तर प्रश्न क्र० ३—इसका उत्तर प्राप्त हुआ कि मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता परिणाम से नहीं है किन्तु स्वभाव से है।

१. भगवतीसूत्र शतक, १२-३-२, सूत्र ४४३

२. आ० हस्तीमलजी मेवाड़ी—आगम के अनमोल रत्न, पृ० ७८५

३. आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—पृ० ४०६

जीव में रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र्य) प्राप्ति की शक्ति से स्वभाव है। यह शक्ति प्रत्येक जीव में स्वभाव से होती है। इसीलिये वह पुरुषार्थ करके मुक्त हो जाता है।

उत्तर प्रश्न क्र० ४—इसके उत्तर में भगवान् से समाधान मिला कि भवसिद्ध अर्थात् भव्य जीव ही मुक्ति प्राप्त करते हैं, अभव्य जीव नहीं।

इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण हेतु पुनः जयन्ती ने शंका प्रस्तुत की कि भगवन् ! भव्य जीवों के मुक्त हो जाने पर क्या संसार उनसे रहित हो जायेगा ? समाधान मिला कि संसार की अभव्य और भव्य राशि अनंत है। कितने ही जीव भव्य राशि में से मुक्त हो जायें, परन्तु अनन्त सदा अक्षय ही रहता है। गणित का यह सिद्धान्त है कि अनन्त में से अनन्त घटाने पर भी अनन्त अवशिष्ट रहता है। जिस प्रकार आकाश अनन्त है उसी प्रकार जीव द्रव्यराशि भी अनन्त है। पुद्गल, परमाणु भी अनन्त हैं। यह अनन्तराशि कभी समाप्त नहीं होती।

इसी सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत है—

मिट्टी में घड़े बनने की, और अच्छे पाषाण में मूर्ति बनने की योग्यता है, फिर भी कभी ऐसा नहीं हो सकता कि सब के घड़े और मूर्तियाँ बन जायें और पीछे वैसी मिट्टी और पाषाण न रहें। बीज में पकने की योग्यता है फिर भी कभी ऐसा नहीं होता कि कोई भी बीज सीझे बिना न रहे। वैसा ही भव्यों के बारे में भी समझना चाहिए।

उपरोक्त मुख्य प्रश्नों के उत्तर से संतुष्ट होकर जयन्ती ने कुछ अन्य प्रश्न भी किये जो इस प्रकार हैं—

‘भगवन्, जीव सोता हुआ अच्छा है या जागता हुआ ? भगवन् ने उत्तर दिया कि कुछ जीव सोते हुए अच्छे और कुछ जागते अच्छे। जो लोग अधर्म के प्रेमी अधर्म के प्रचारक और अधर्माचरण में ही रंगे रहते

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : १०३

हैं, उनका सोना अच्छा। इसके विपरीत जो धर्म की आराधना करते हैं उनका जागना अच्छा है। फिर जयन्ती ने पूछा—‘भगवान्। जीवों की दुर्बलता अच्छी या सबलता।’ ‘जीवों का दक्ष और उद्यमी रहना अच्छा है या आलसी होना?’ भगवान् ने कहा कि जो जीव धार्मिक हैं, धर्म करके स्वयं का उद्धार करता है, दूसरों के दुःख व कष्ट कम करने में मदद करता है उसका सबल रहना उचित है। उसके विपरीत जो अधार्मिक हैं तथा अधर्म से जीविकोपार्जन करते हैं उनका दुर्बल रहना ही अच्छा है। उन्होंने आगे कहा कि धर्माचरण तथा उपकार करनेवाले जीव का उद्यमी रहना उचित है। इसके विपरीत जो जीव अधर्मानुसार विचरण करता है उसका आलसी होना अच्छा है।

जयन्ती—मूल्यांकन : इन प्रश्नोत्तर से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज से २५०० वर्ष पहले भी कुछ महिलाएँ धर्म के तत्त्व को समझने को उत्सुक थीं तथा विशिष्ट ज्ञान प्राप्त धर्म गुरु से निःसंकोच होकर अपनी शंकाओं का समाधान किया करती थीं। देश, काल एवं समय की परिधि, ज्ञान प्राप्त करने में बाधक नहीं हो सकती थी। जयन्ती ने ऐसे गूढ़ तत्त्वों का विवेचन कर उस समय की विदुषी महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया है। यहाँ हमें वैदिक साहित्य की गार्गी वाचकम्बी का उल्लेख उपयुक्त प्रतीत होता है। वह भी तत्त्व ज्ञान की चर्चा करती थी तथा अच्छे-अच्छे ऋषि-मुनियों को अपने गहन ज्ञान से प्रभावित करती थी। वह आत्म-ज्ञान की इतनी गहराई तक पहुँच गई थी कि उसे देह का भी भान नहीं रहता था।

शिवानन्दा^२ :

वाणिज्य ग्राम के शासक जितशत्रु के राज्य में, शिवानन्दा अपने पति आनन्द के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करती थी। एक समय वाणिज्य राज्य के शासक जितशत्रु महावीर के आगमन पर उनका दर्शन करने गये। आनन्द की कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। उनकी पत्नी शिवानन्दा एक सुशील, शान्त, सौम्य, सहिष्णु, मधुरभाषी, स्नेहशील, चतुर और सुन्दर नारी थीं। शिवानन्दा के अतिरिक्त आनन्द श्रेष्ठी की और भी पत्नियाँ थीं, फिर भी शिवानन्दा और आनन्द का दाम्पत्य जीवन अत्यन्त

१. जगदीशचन्द्र जैन—लाइफ़ इन एंसिएण्ट इण्डिया, पृ० ५२

२. उपासकदशांग, सू० ३

सुखमय व समृद्ध था। दूतिपलास नामक उद्यान में तीर्थंकर महावीर के आगमन पर आनन्द भी प्रभु की धर्मदेशना सुनने हेतु वहाँ गये। महावीर स्वामी के उपदेश और धर्मदेशना का श्रेष्ठी आनन्द पर बहुत प्रभाव हुआ। इस धर्मदेशना से प्रभावित होकर आनन्द ने श्रावक के बारह व्रत को अंगीकार किया तथा अपनी सम्पदा को सीमित करने की प्रतिज्ञा की।

दूतिपलास उद्यान में महावीर स्वामी का सान्निध्य प्राप्त कर श्रेष्ठी उल्लास से अपने घर आये। उन्होंने हर्षतिरेक से अपनी पत्नी शिवानन्दा को उन बारह व्रतों के सम्बन्ध में बताया जो कि उन्होंने अंगीकार किये थे। आनन्द ने अपनी सहधर्मिणी शिवानन्दा से कहा—‘मैंने सभी प्रकार की सम्पदाओं, जिसमें धन-धान्य, चल-अचल सम्पत्ति, रजत-स्वर्ण, गोकुल (अर्थात् गायों का समूह) आदि सभी की सीमा का निर्धारण कर दिया है।’ श्रेष्ठी आनन्द ने अपनी पत्नी को बताया कि सम्यक् व्रत के अनुसार एक पत्नीव्रत का नियम उन्होंने अपने लिए अंगीकार किया है।

गुणशीला शिवानन्दा पति के संकल्प को सुनकर अत्यधिक प्रसन्न हुई। श्रेष्ठी ने अपनी पत्नी शिवानन्दा को प्रेरित किया कि वह भी भगवान् महावीर की देशना का श्रवण कर बारह व्रत को उनके समान अंगीकार कर ले। शिवानन्दा पति को इस प्रेरणा से प्रफुल्लित होकर दृढ़ संकल्पशक्ति को धारण कर समवसरण में गई।

उद्यान में विराजमान भगवान् महावीर के दर्शन वन्दन के पश्चात् शिवानन्दा ने तीर्थंकर से श्राविका के बारह व्रत अंगीकार किये। प्रभु के मुख से धर्मोपदेश सुनकर वह अति प्रसन्न हुई तथा उसे अपने पति के इस कथन का सत्य दर्शन होने लगा कि भगवान् महावीर का धर्म इष्ट है और आत्मकल्याण का यही सच्चा मार्ग है। वह गार्हस्थ्य धर्म का पालन करते हुए आत्महित में संलग्न हो गई। भौतिक सुख-सम्पदा से मुख मोड़कर आध्यात्मिक चिन्तन-मनन उनके जीवन का लक्ष्य बन गया।

भद्रा^२ :

किसी समय चम्पानगरी में समृद्ध श्रेष्ठी कामदेव रहते थे, उनके अतुल वैभव को कीर्ति चारों ओर फैली हुई थी। ये विजुल धनपति होते हुए भी धर्माचरण से जीवन व्यतीत करते थे।

१. उपासकदशांग सू० १८

२. पू० घासीलालजी—उपासकदशांगसूत्र, अध्याय १, सूत्र ५९-६२, पृ० ३३३-३३५

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : १०५

कुछ समय पश्चात् चम्पानगरी के पूर्णभद्र चैत्य में भगवान् महावीर का आगमन हुआ। आगमन का समाचार फैलते ही अपार जनसमुदाय उनके दर्शनार्थ वहाँ जमा हो गया। श्रेष्ठी कामदेव भी बड़ी आतुरता और श्रद्धा से नगर निवासियों के साथ महावीर स्वामी के दर्शनार्थ वहाँ गये। वहाँ उन्होंने अर्हन्त धर्म के सिद्धान्तों का ध्यानपूर्वक श्रवण और मनन किया। उन्होंने महावीर स्वामी से श्रावक के बारह व्रतों को जोवन के लिये अंगीकार किया। वे आनन्द-उल्लास के साथ अपने घर आये। उन्होंने अणुव्रतों को ग्रहण करने की बात अपनी सहधर्मिणी भद्रा से कही तथा उसे प्रेरित करते हुए उन्होंने कहा—‘मैंने तीर्थंकर महावीर के कल्याणप्रद उपदेशों को अपने लिये अंगीकार किया है। उनके उपदेशों से आत्मकल्याण संभव है, तुम भी ऐसा करो’।

पति से प्रेरणा पाकर भद्रा, सुन्दर वस्त्र आभूषणों से युक्त रथ में बैठकर महावीर की धर्म परिषद् में गई। महावीर स्वामी से सच्चे धर्म की व्याख्या सुनकर उन्हें आत्म सन्तुष्टि हुई। अपार वैभव के स्वामी श्रेष्ठी कामदेव की पत्नी श्रेष्ठिनी भद्रा ने भगवान् महावीर से गार्हस्थ्य धर्म के बारह व्रतों को अंगीकार किया। उपदेशों का इतना प्रभाव हुआ कि वह वैराग्य भाव से आराधना में संलग्न हो गई। बीस वर्षों तक श्राविका पर्याय का पालन कर धर्मानुकूल जोवन व्यतीत किया।^१

श्यामा^२ :

वाराणसी में श्रेष्ठी चुलनीपिता रहते थे, उनकी सहधर्मिणी श्यामा न केवल रूप व गुण में अद्वितीय थी अपितु व्यवहार कुशल भी थी।

किसी समय तीर्थंकर महावीर के आगमन का संदेश पाकर असीम उत्साह से श्रेष्ठी चुलनीपिता कोष्टक चैत्य में गये। भगवान् महावीर की धर्मदेशना का उन पर अत्यन्त प्रभाव हुआ। वे प्रफुल्ल मन से अपने घर आये और धर्मपत्नी श्यामा को विवरण बताते हुए कहा—‘मैंने वीतरागी महावीर के धर्म सिद्धान्तों को मान्य कर लिया है, वे सिद्धान्त वास्तव में जोवन को सार्थक करने वाले हैं।’ श्रेष्ठी ने अपनी पत्नी को प्रेरित किया कि वह भी जाकर भगवान् महावीर का विधिपूर्वक वन्दन कर धर्म-देशना का श्रवण करे। श्यामा से उन्होंने कहा—‘वे चैत्य में जाकर

१. पृ० घासीलालजी—उपासकदशांगसूत्र, अध्याय २, सूत्र ९१-९३, पृ० ३६१

२. उपासकदशा सू० २७

१०६ : जैनधर्म की प्रमुख साधियाँ एवं महिलाएँ

पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत इस तरह बारह व्रतों वाला गार्हस्थ्य धर्म स्वीकार करें।”

श्यामा अपने पति की प्रेरणा से अपनी सेविकाओं सहित रथ में बैठकर महावीर की परिषद् में पहुँची। श्यामा ने महावीर की श्रद्धापूर्वक तीन बार प्रदक्षिणा की। महावीर के सम्मुख विनयावनत् होकर उनसे कहा—“प्रभु ! मैं गार्हस्थ्य धर्म के बारह व्रत अंगीकार करने की इच्छुक हूँ।” महावीर ने इसे स्वीकृति प्रदान की। श्यामा ने अपने पति की भाँति बारह व्रतों को अंगीकार किया। हर्षित मन से वह अपने निवास को लौट आई।

एक बार श्रावक चुलनीपिता पोषधशाला में धर्मसाधना में मग्न थे। रात्रि को उपसर्ग (देव बाधा) का सामना करना पड़ा। देव द्वारा चेतावनी दी गई कि माता भद्रा को मारेंगे। इससे श्रेष्ठी के ध्यान में तनिक व्यवधान उपस्थित हो गया। माता भद्रा ने चुलनीपिता को आश्वस्त किया कि वे स्वस्थ हैं। उन्होंने चुलनीपिता को विश्वास दिलाया कि वे अपने ध्यान-साधना से विचलित न हों। फलतः श्रेष्ठी पुनः दृढ़ता से आराधना कार्य में मग्न हो गया।

उन्होंने अपने गृहस्थ जीवन में बारह व्रतों का पालन सुचारु रूप से चौदह-पन्द्रह वर्षों तक किया। तदनन्तर अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब के दायित्व का भार सौंपकर श्रेष्ठी चुलनीपिता पत्नी श्यामा के साथ सांसारिक भार से निवृत्त हुए।

बीस वर्षों तक धर्म का पालन करते हुए उन्होंने आत्मा को पवित्र किया।^१

धन्या^२ :

बनारस के संपत्तिशाली श्रेष्ठी सुरादेव की धर्मपरायणा पत्नी का नाम धन्या था। तीर्थंकर महावीर का कोष्ठक चैत्य में आगमन सुनकर सुरादेव भी आनंद श्रावक के समान प्रभु के वंदनार्थ गये। उन्होंने महावीर स्वामी के “बारह व्रत” अंगीकार किये। सुरादेव ने अपनी विपुल सम्पत्ति की सीमा निर्धारित की और धर्मोपदेना श्रवण कर अपने निवास को लौटे तथा अपनी सहर्षमिणी धन्या से बोले, “हे देवानुप्रिये ! मैंने श्रावक के

१. पू० घासीलालजी—उपासकदशांगसूत्र, अध्याय ३, पृ० ३९५-३९६

२. वही, सूत्र० ३०

“बारह व्रत” अंगीकार किये हैं, तुम भी शीघ्र जाओ और प्रभु से श्राविका के कल्याणकारी व्रत ग्रहण करो।” पति की आज्ञानुसार धन्या उपयुक्त वस्त्राभूषण से विभूषित होकर समवसरण में जाकर तीर्थंकर महावीर से विनयपूर्वक कही, “हे सर्वज्ञ, मैं संसार का सर्वथा त्याग तो नहीं कर सकती, किन्तु मैं गृहस्थ जीवन के साथ व्रत अंगीकार करना चाहती हूँ। तीर्थंकर महावीर ने धन्या श्राविका को गृहस्थ जीवन में पालन करने वाले कल्याणकारी व्रतों के महत्त्व को समझाया। धन्या ने व्रतों को अंगीकार किया और हर्षित होती हुई स्वगृह चली आई।

एक समय सुरादेव पौषधशाला में धर्म-ध्यान में लीन थे, उस समय देव ने कई प्रकार से विघ्न उपस्थित किये जिससे कुछ समय के लिये सुरादेव का ध्यान विचलित हुआ, पर पत्नी धन्या ने उन्हें पुनः धर्म में स्थित किया। अतः धन्या श्राविका ने पति को श्रावक के व्रत-नियमों का पालन करने में सम्पूर्ण निष्ठा से सहयोग दिया तथा स्वयं भी श्रमणोपासिका के नियमों का पालन करती हुई आत्म कल्याण में प्रवृत्त रही।^१

बहुला^२ :

चुल्लशतक आलंभिका नगर के समृद्ध और प्रतिष्ठित श्रेष्ठी थे। उनकी धर्मपत्नी बहुला धर्मपरायणा थी।

एक बार शंखवन में भगवान् महावीर का आगमन हुआ। श्रावक कामदेव की भाँति श्रेष्ठी चुल्लशतक, महावीर के दर्शन व उपदेश श्रवण के लिये उत्कंठा के साथ पहुँचे। महावीर के उपदेशों का श्रवण कर श्रेष्ठी ने श्रद्धा व विश्वास के साथ बारह व्रतों को अंगीकार कर अपनी सम्पत्ति की सीमा नियत कर दी। जब वे स्वगृह आये तो पत्नी बहुला को समवसरण में धर्म उपदेश सुनने जाने की प्रेरणा दी। वह धर्म परिषद् में पहुँची और महावीर से श्राविका के बारह व्रत अंगीकार कर अपने जीवन का आत्मकल्याण करने लगी।^३

पुष्पा^४ :

कांपिल्य नगर में श्रेष्ठी कुण्डकौलिक गाथापति की पत्नी पुष्पा थी।

१. पू० घासीलालजी, उपासकदशांग, अ० ५, सूत्र १५१, पृ० ४१५
२. उपासकदशांग, सू० ३४
३. पू० घासीलालजी, उपासकदशांग, अ० ५, सूत्र १५८, पृ० ४१९
४. उपासकदशांग, सू० ३५-३६

१०८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

पुष्पा सुख-सुविधाओं में अपना जीवन सानन्द व्यतीत करती थी ।

एक समय कांपिल्य नगर के सहस्रावन उद्यान में भगवान् महावीर का आगमन हुआ । उनके पहुँचने का समाचार नगर में फैलते ही जन-समूह दर्शनार्थ एकत्रित हो गया । कुण्डकौलिक भी महावीर की परिषद् में धर्मदेशना सुनने के लिये गया । धर्मदेशना श्रवण कर श्रेष्ठी अत्यन्त प्रभावित हुआ । अणुव्रतों के अनुसार उसने वैभव को सीमित कर अपनी सम्पदा की मर्यादा निश्चित की । पतिसे प्रेरणा पाकर पत्नी पुष्पा ने भी समवसरण में जाकर श्राविका के बारह व्रत अंगीकार किये ।

कालांतर में पुष्पा ने श्राविका धर्म का पालन करते हुए अपने धर्म-निष्ठ पति को सहयोग दिया और अपना भी कल्याण किया ।^१

अग्निमित्रा^२ :

अग्निमित्रा, पोलासपुर नगर के धनाढ्य कुंभकार सद्दालपुत्र की धर्म-पत्नी थी । अग्निमित्रा के पति की मंखलि गोशालक द्वारा प्रतिपादित धर्म सिद्धान्तों में आस्था थी । कुम्भकार दम्पती अनुल वैभव सम्पदा के मध्य जीवन व्यतीत कर रहा था ।

“हे सद्दालपुत्र ! नगर में त्रिकालदर्शी महामानव का आगमन हो रहा है, तुम उनके वन्दन के लिये जाना” । इस मंगल-संवाद से सद्दालपुत्र अपने गुरु मंखलि गोशालक का आगमन जानकर हर्षित हुआ । सद्दालपुत्र ने उद्यान में हो रही धर्मसभा में देखा कि उसके परम पावन गुरु की आसन्दी पर तीर्थंकर महावीर विराजमान हैं । उसने भगवान् का अभि-वन्दन किया ।

भगवान् महावीर ने सद्दालपुत्र को कर्मवाद का उपदेश दिया । कुम्भ-कार अत्यन्त प्रभावित हुआ और गृहस्थ धर्म के सच्चे स्वरूप को समझ कर द्वादश व्रत अंगीकार किया । भगवान् महावीर का वन्दन कर वह स्वगृह आया । उसने अपनी सहधर्मिणी अग्निमित्रा को तीर्थंकर महावीर का धर्म समझाते हुए परिषद् में जाने की प्रेरणा दी ।

पति से प्रेरणा पाकर धर्मपरायणा कुशल गृहिणी, ऐश्वर्यशालिनी अग्निमित्रा सहस्राभवन उद्यान में हो रही परिषद् में रथ में बैठकर गई । उसके साथ बड़ी संख्या में सेत्रिकाएँ थीं, उसने श्रद्धा से तीन बार महावीर

१. पु० घासीलालजी—उपासकदशांग—अ० ६, सूत्र १६९, पृ० ४०५

२. उपासकदशांग, सू० ३९

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : १०९.

की प्रदक्षिणा की, तीर्थंकर महावीर ने अग्निमित्रा को धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश श्रवण कर अग्निमित्रा परम उत्साहित हुई। उसने भगवान् से निवेदन किया, 'हे भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा रखती हूँ। अतः मैं श्राविका के बारह व्रतों को अंगीकार करना चाहती हूँ।'

सद्दालपुत्र निर्भय मनोभाव से अपने धर्म पर पूर्ण विश्वास रखता था। दैव उन्हें अपने धर्म व व्रतों से विचलित करना चाहते थे। दैव ने उसकी परीक्षा ली। देव ने पाया कि सद्दालपुत्र निर्भय धर्माचरण कर रहा है। जब दैव अपने कृत्य में सफल नहीं हो पाया तब उसने सद्दालपुत्र को यह चेतावनी देकर भयभीत किया कि वह उसकी पत्नी अग्निमित्रा को मार डालेगा। इस संवाद से सद्दालपुत्र कुछ विचलित हुआ लेकिन निर्भयता के साथ वह दैव को पकड़ने दौड़ा और उसका पीछा करने लगा। कोलाहल होने से अग्निमित्रा भी वहाँ आ गई, उसने यह सब दृश्य देखा।

अग्निमित्रा ने पति के सन्तप्त मन को शान्त करते हुए उनसे आग्रह किया कि वे भयग्रस्त न हों और न ही धर्म से विचलित हों, मैं सुरक्षित हूँ। धर्म मार्ग में अटल रहना ही उनके लिये श्रेयस्कर है। विचलित होने की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। सहर्धमिणी अग्निमित्रा की इस दृढ़ प्रेरणा और भक्ति से सद्दालपुत्र पुनः ध्यानावस्थित हुआ।'

रेवती^२ :

रेवती, देवगृही के सम्पत्तिवान् श्रेष्ठी महाशतक की पत्नी थी। समृद्धि-शाली माता-पिता की पुत्री होने के कारण रेवती को आठ करोड़ स्वर्ण मुद्रा तथा दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल दहेज में मिले थे। महाशतक की अन्य बारह पत्नियाँ अपने दहेज में केवल एक-एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा तथा दस-दस हजार गायें लाई थीं। अतः रेवती सौतिया ड़ाह से अन्य सहपत्नियों से ईर्ष्या-द्वेष रखती थी।

तीर्थंकर महावीर के आगमन पर अन्य उपासकों के समान महाशतक ने भी धर्मदेशना के पश्चात् श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये तथा अपनी विपुल सम्पत्ति की सोमा निर्धारित की। महाशतक श्रावक ने अपनी तेरह पत्नियों के अतिरिक्त अन्य किसी नारी से दैहिक सम्पर्क न रखने का प्रण लिया।

१. पृ० घासीलालजी—उपासकदशांग—अ० ७, सूत्र १८४, पृ० ४४५

२. उपासकदशांग सू० ४६-४८; स्थानांगवृत्ति (अभयदेव) पृ० ५०९

रेवती को पति के इस प्रण का पता शीघ्र ही लग गया, उसने सौतिया डाह के वशीभूत होकर मन में सोचा कि यदि मैं इन बारहों का किसी भी प्रकार अन्त कर दूँ तो सम्पूर्ण समृद्धि एवं पति के साथ सांसारिक सुखों का भोग अकेली कर सकूंगी। ऐसा सोचकर उसने अनुकूल अवसर देखकर छः को शस्त्र द्वारा तथा छः को विष देकर मरवा दिया।^१ इसके पश्चात् वह आनंदित होकर अपने पति महाशतक के साथ सांसारिक सुख भोगने लगी। रेवती मांस भक्षण को दोष न जानकर कई प्रकार के मांस से बने हुए विभिन्न व्यंजनों का भोजन करती थी तथा मदिरा पान करके उन्मत्त होकर व्यवहार करती थी।

एक समय राजगृह नगरी में अमारि (हिंसाबन्दा) का घोषणा हुई तब रेवती ने अपने पिता के यहाँ के सेवकों को बुलाकर कहा, “हे भृत्य, तुम लोग मेरे माता-पिता के यहाँ से प्रतिदिन दो बछड़े मेरे लिये मारकर लाया करो।” उन्होंने यह बात स्वीकार की, अतः वे लोग दो बछड़े नित्य मारकर रेवती के पास लाने लगे। रेवती पहले की तरह मांस-मदिरा का प्रतिदिन सेवन करती हुई समय बिताने लगा।

इधर महाशतक श्रेष्ठी को विभिन्न प्रकार के व्रत-नियमों का पालन करते हुए चौदह वर्ष व्यतीत हो गये। आनन्द श्रावक के समान अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब की जिम्मेदारी सौंपकर पौषधशाला में अधिक समय तक धर्म ध्यान में लीन रहने लगे।

एक दिन रेवती पौषधशाला में पहुँची और अपने पति से बोली, “हे श्रावक, तुम स्वर्ग तथा मोक्ष की आकांक्षा के लिये धर्म ध्यान करते हो, क्योंकि मनुष्य धर्म, पुण्य आदि सुख प्राप्ति के लिये ही करते हैं। संसार में विषय भोग से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। अतः इन सब झंझटों को छोड़कर मेरे साथ सांसारिक जीवन के सुख / आनन्द का उपभोग करो।”

महाशतक श्रावक तीर्थंकर महावीर द्वारा उपदेशित बारह व्रतों का गहन अर्थ समझ चुके थे तथा साधना को ही जीवन का ध्येय मानते थे। उन्होंने रेवती के इस प्रकार के घृणित व निरर्थक कथन पर रंचमात्र भी ध्यान नहीं दिया। रेवती के बार-बार इसी प्रकार क्रोधित होकर बोलने पर भी वे अपने धर्म ध्यान से विचलित नहीं हुए।

शनैः शनैः महाशतक श्रावक धर्म की गहराई में जाने लगे और

१. पू० घासीलालजी—उपासकदशांग—अ० ८, सूत्र २४०, पृ० ४९५

उन्होंने ग्यारह प्रतिमाओं का शास्त्रानुसार पालन किया। इस कठोर व उग्र तपस्या के कारण उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। अतः उन्होंने अन्त में सल्लेखना लेने का दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने अन्न, जल का त्याग किया और मृत्यु की कामना नहीं करते हुए धर्म ध्यान में लीन हो गये। इस शुभ अध्यवसाय (दृढ़ संकल्प) के कारण उन्हें अबोध ज्ञान प्राप्त हुआ।

एक बार रेवती पुनः उन्मादिनी होकर महाशतक के पास आई और पहले के समान महाशतक को अपने प्रण (संकल्प) से विचलित करने का प्रयत्न करने लगी। इस बार महाशतक श्रावक को क्रोध आ गया और वे बोले, “अपना अनिष्ट चाहने वाली हे रेवती, तू सब अवगुणों की साक्षात् मूर्ति है—तू सात दिन में ही अलस रोग (मंदाग्नि के रोग) से पीड़ित होकर असमाधि मृत्यु प्राप्त कर रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे लोलुपच्युत नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले नारकीय जीवों में उत्पन्न होगी”। श्राविका के बारह व्रतों का पालन नहीं करने से रेवती के जीवन का दुःखद अन्त हुआ^१।

अश्विनी^२ :

अश्विनी, श्रावस्ती के वैभवशाली श्रेष्ठी नन्दिनीपिता की धर्मपत्नी थी। वह रूपवती, गुणवती तथा विद्यावती के नाम से जानी जाती थी।

तीर्थंकर महावीर साधु साध्वियों के समुदाय सहित जब श्रावस्ती के कोष्टक चैत्य में पधारे तब नगर के नर-नारी उत्कंठा, उत्साह और श्रद्धापूर्वक चैत्य की ओर चल पड़े। नन्दिनीपिता भी समयसरण में गये और महाशतक के समान बारह व्रतों को अंगीकार किया तथा अपनी संपत्ति की सीमा निर्धारित की।

स्वगृह आकर उन्होंने अपनी सहधर्मिणी अश्विनी को प्रेरक शब्दों में बताया—“हे देवानुप्रिये! महावीर का सान्निध्य प्राप्त कर मैं अपने को उनसे अत्यन्त प्रभावित अनुभव कर रहा हूँ। मैं जीवन के लिये कल्याणकारी, असीम शान्तिप्रदायक, श्रावक के लिये आवश्यक उपदेशित बारह व्रतों को अंगीकार कर चुका हूँ। तुम भी वहाँ शीघ्र पहुँचो, अलभ्य क्षणों की सुलभता के लिये विलम्ब मत करो। भगवान् महावीर के पावन दर्शन कर,

१. पू० घासीलालजी-उपासकदशांग-अ० ८, सूत्र २३१-२५०, पृ० ४९१-५००

२. उपासकदशांग, सू० ५५

११२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

उपदेशों का श्रद्धासहित श्रवण कर आत्मोन्नति के लिये द्वादशव्रतों को अंगीकार करो” ।

अश्विनी ने कोष्टक चैत्य में भगवान् महावीर के सान्निध्य में पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों को समझकर गृहस्थ धर्म के बारह व्रतों को अंगीकार किया तथा अपने घर आकर उसका दृढ़तापूर्वक पालन करने लगी^१ ।

फाल्गुनी^२ :

फाल्गुनी, श्रावस्ती के श्रेष्ठी शालिनीपिता की पतिपरायणा सह-धर्मिणी थी। एक समय तीर्थंकर महावीर विभिन्न प्रान्तों का भ्रमण करते हुए श्रावस्ती नगर के कोष्टक चैत्य में पधारे तब शालिनीपिता ने भी अन्य श्रेष्ठियों के समान तीर्थंकर महावीर के समवसरण में जाकर श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण किया तथा अपनी पत्नी को भी प्रेरित किया। श्रेष्ठी नन्दिनीपिता के समान शालिनीपिता श्रेष्ठी, भगवान् महावीर के समवसरण में आ गये ।

फाल्गुनी समवसरण में उपदेश श्रवण की पिपासा से कोष्टक चैत्य में गई। वहाँ महावीर की तीन बार श्रद्धापूर्वक प्रदक्षिणा करके वह सबके साथ परिषद् में बैठी और धर्मदेशना श्रवण किया। फाल्गुनी ने जब बारह व्रतों को सुना तो उनके मन में यह विश्वास हो गया कि गृहस्थी में प्रवृत्त रहते हुए इन सबका सहज रूप से पालन किया जा सकता है। उसने उन व्रतों को अंगीकार किया और प्रसन्न मन से उसने अपने जीवन में बारह व्रतों का पालन करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया^३ ।

श्रीमती :

वसंतपुर के देवदत्त श्रेष्ठी की पुत्री श्रीमती की माता का नाम धनवती था। माता धनवती अपनी कन्या का लालन-पालन पुत्र की भाँति करती हुई उसे अनेक जीवनोपयोगी कलाओं में पारंगत किया ।

१. पू० घासीलालजी—उपासकदशांग—अ० ९१०, सूत्र २७३-२७६, पृ० ५१८-५२१

२. उपासकदशांग, सू० ५६

३. पू० घासीलालजी—उपासकदशांग—अ० १०, सूत्र २७३-२७६, पृ० ५१८-५२१.

एक समय वह अपनी सहेलियों के साथ नगर के बाहर स्थित जिनालय में गई। वहाँ सब बालिकाएँ पतिवरण का खेल खेलने लगीं। अन्य कन्याओं ने जिनालय के खम्भों को अपना पति मान लिया लेकिन श्रीमती ने भ्रमवश कोने में ध्यानावस्थित खड़े एक मुनि को खम्भा समझकर पति चुन लिया। वास्तव में ये मुनि आर्द्रकुमार थे, जो अनार्य देश के राजकुमार थे, और राजगृह के महामंत्री अभयकुमार से भेंट करने आये थे। आर्द्रकुमार ने साधुत्व अंगीकार कर लिया था।

कन्या श्रीमती के साथ विवाह करने हेतु अति आग्रह किये जाने पर भी आर्द्रकुमार ने अपनी साधुवृत्ति नहीं त्यागी और वहाँ से अन्यत्र चले गये। श्रीमती उन्हीं (मुनिवर) को अपना पति मान चुकी थी इसलिये अन्य पुरुष से विवाह करने में अपनी असहमति व्यक्त की।

पिता देवदत्त ने पुत्री के इस प्रण की पूर्ति के लिये घर पर ही सदा-व्रत खुलवा दिया। जो भी त्यागी महात्मा नगर में आते वह उन्हें योग्य सामग्री प्रदान करती। एक दिन मुनि आर्द्रकुमार वहाँ आये, श्रीमती ने उन्हें पहिचान लिया। श्रीमती ने बारह वर्ष पूर्व की घटना का स्मरण कराया तथा अपने विवाह के संकल्प को दुहराया। श्रीमती का अटल प्रण तथा स्वयं के कर्मों का भोग जानकर आर्द्रकुमार मुनि ने गृहस्थ धर्म स्वीकार किया।

कालान्तर में उन्हें एक पुत्र प्राप्त हुआ। आर्द्रकुमार ने अपनी सह-धर्मिणी श्रीमती से कहा, “अब यह पुत्र तुम्हारी देख-भाल करेगा और मैं पुनः दीक्षित होना चाहता हूँ”। श्रीमती पति का यह निश्चय जानकर चिन्तित हुई।

जीवन निर्वाह का साधन न होने तथा पुत्र के अल्पवयस्क होने से श्रीमती को पति के इस संकल्प से चिन्ता होना स्वाभाविक था। अतः जीवनयापन हेतु उसने चरखे पर सूत कातना प्रारम्भ किया। निर्बोध और निर्दोष पुत्र को यह सब परिवर्तन समझ में नहीं आया। एक दिन माँ से चरखा कातने का कारण पूछने पर माँ ने कहा—“हे लाड़ले, तेरे पिता हम सब को छोड़कर जा रहे हैं, अतः मैं इसी चरखे के सूत से अर्थोपार्जन कर तुम्हारा पालन करूँगी”। इस पर पुत्र ने उस कच्चे सूत को पिता के पैरों में लपेट दिया। पुत्र के सूत रूपी बन्धन ने पिता आर्द्रकुमार को पुनः बारह वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहने को बाध्य कर

११४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

दिया। पुत्र के वयस्क होने पर अपनी पत्नी से अनुमति लेकर आर्द्रकुमार पुनः प्रव्रजित हुए^१।

उपर्युक्त कथानक से श्रीमती की दृढ़ संकल्पशक्ति तथा स्वावलम्बी प्रवृत्ति का उदाहरण प्रस्तुत होता है। श्रीमती अपने पुत्र का लालन-पालन करते हुए धर्म ध्यान में अपना समय व्यतीत करने लगी।

उत्पला^२ :

उत्पला श्रावस्ती नगर के श्रेष्ठी शंख की विदुषी भार्या थी। वह पति की भाँति ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र्य का पालन करती थी। उसे जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा-बंध एवं मोक्ष इन नौ तत्त्वों का गहरा ज्ञान था। पति शंख एवं उनके मित्रों के साथ होने वाली धर्म-चर्चा को उत्पला बहुत ध्यान से सुना करती थी।

एक बार शंख श्रावक ने पुष्कली श्रावक के साथ पौषध करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से पुष्कली श्रावक शंख श्रावक को बुलाने उनके घर गये। पति के मित्र को आता हुआ देखकर उत्पला हर्षित हुई और अपने आसन से उठकर नमस्कार कर आवभगत की एवं बैठने के लिये आसन दिया। विनीत भाव से उसने पुष्कली श्रावक से आगमन का प्रयोजन जानना चाहा। इस पर वे बोले—“हे देवानुप्रिये ! हम शंख श्रावक के साथ पौषध करने के इच्छुक हैं, वे कहाँ गये हुए हैं”। मित्र-पत्नी के विनय युक्त व्यवहार से सन्तुष्ट होकर पुष्कल श्रावक पौषधशाला की ओर चल दिया^३।

पति की अनुपस्थिति में अतिथि को सत्कार देकर उचित निर्देशन देना भी महिलाएँ करती थीं। इस दृष्टान्त से नारी स्वतंत्रता की झलक प्राप्त होती है।

सुलसा^४ :

राजा श्रेणिक के नगर राजगृह (भद्रिलपुर) में नाग नामक रथिक

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, पृ० १३९
२. भगवतीसूत्र ४३७, स्थानांग वृत्ति (अभयदेव), पृ० ४५६
३. भगवतीसूत्र—११-२२-३-१
४. आवश्यकचूर्णि प्र०, पृ० १५९, आचारांगचूर्णि पृ० ३३, कल्पसूत्र, सूत्र १३७, दशाश्रुतस्कंधचूर्णि पृ० ९६, १०२, निशोधभाष्य ३२, आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २०९, व्यवहारसूत्र प्र० पृ० २७, प्रज्ञापनावृत्ति (मलय) पृ० ६१, स्थानांगवृत्ति (अभयदेव) पृ० ४५८, समवायांग, सूत्र १५९ इत्यादि।

रहते थे। वे महाराजा श्रेणिक के विश्वासपात्र थे। उनकी पत्नी सुलसा श्रेष्ठ गुणों से युक्त, सुशील एवं शान्तचित्त थीं। उन्हें कभी क्रोध नहीं आता था, अन्यान्य सुख होने पर भी उन्हें सन्तान का अभाव सदा खटकता रहता था। नाग रथिक इसे अपने अशुभ कर्मों का उदय मानकर, दान, त्याग और तपस्या आदि धार्मिक कार्यों में विशेष अनुराग रखने लगे। एक बार नाग रथिक पुत्र नहीं होने से उदास होकर कर्मों को दोष दे रहे थे। उनकी इस उद्विग्नता का अनुभव कर सुलसा ने नम्रता से कहा—“आर्यपुत्र, आप किसी अन्य कन्या से पाणिग्रहण करके पुत्र प्राप्त करें”। नाग ने उत्तर दिया, “प्रिये, यदि मुझे पुत्र प्राप्त होगा तो तुम्हीं से होगा”। प्रत्युत्तर सुनकर धार्मिक भावना एवं संस्कारों में सर्वथा प्रवृत्त सुलसा ने धर्म ध्यान में अपना मन लगाया तथा आर्यबिल का तप करने लगी अर्थात् ऐसा भोजन ग्रहण करने लगी, जिसमें घी, दूध, दही, तेल, मीठा इत्यादि न हो।

सहनशीलता की परीक्षा एवं वरदान : सुलसा श्राविका के तप व धर्म में दृढ़ आस्था की चर्चा चारों ओर फैलने लगी। ईर्ष्या व जिज्ञासावश दो साधुओं ने सुलसा की धर्म में दृढ़ता की परीक्षा लेने का विचार किया। इस प्रसंग में आवश्यक चूर्णों में लिखा है, “इन्द्र द्वारा प्रशंसा करने पर दो देवता ब्राह्मण का रूप धारण कर सुलसा की परीक्षा लिए”।

मुनियों को अपने घर पर आया देख सुलसा अत्यधिक प्रसन्न हुई। अभ्यर्थना कर उनके आगमन का कारण पूछा। साधुओं ने कहा, “हमारे साथ एक रोगी साधु है, उसके उपचार के लिये ‘लक्षपाक तेल’ की आवश्यकता है”। सुलसा हर्षित हो तेल का कुम्भ (घड़ा) लेने अन्दर के कक्ष में गई। घड़ा उठाते ही वह अकस्मात् छूटकर नीचे गिर पड़ा। इस प्रकार बहुमूल्य तेल के तीन घड़े गिर पड़े। इस पर भी उसे तनिक भी क्रोध उत्पन्न नहीं हुआ। परन्तु उसे मुनि के पात्र में तेल न पहुँचने का अत्यन्त क्षोभ हो रहा था। सुलसा की इस अपूर्व क्षमाशीलता को देखकर मुनि बहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिये तथा पुत्र प्राप्ति के लिये ३२ विशिष्ट गोलियाँ देकर कहा कि तुम्हें ३२ लक्षणों वाले ३२ पुत्र प्राप्त होंगे। पुत्र वरदान प्राप्त होने पर सुलसा हर्षित हुई।

सुलसा ने पूर्ण श्रद्धा, विश्वास, भक्तिभाव से उन गोलियों का सेवन किया पर उसे एक-एक न खाते हुए ३२ गोलियाँ एक साथ ले लीं। परिणामस्वरूप उन्होंने ३२ लक्षणों वाले ३२ पुत्रों को जन्म दिया^१।

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित पर्व १०, सर्ग ६, पृ० १०६

कालान्तर में सब विद्याओं में पारंगत हुए ३२ पुत्रों को राजा श्रेणिक ने अपने अंगरक्षक के स्थान पर नियुक्त किया ।

एक समय अपने अंगरक्षकों के साथ राजा श्रेणिक वैशाली में सुज्येष्ठा का अपहरण करने गये । वहाँ सुरंग के गहन अंधकार में स्वामि-भक्त अंगरक्षकों की मृत्यु हो गई^१ । बत्तीस वीर पुत्रों की जननी सुलसा इस समाचार से मृतप्राय हो गई । वर्षों बाद धर्मनिष्ठा तथा तपस्या के फलस्वरूप पुत्र रत्नों की प्राप्ति और उसके पश्चात् पूर्ण युवावस्था में उनकी आकस्मिक मृत्यु, एक माता कैसे सहन कर सकती थी ? सुलसा के धैर्य को धन्य है कि धर्म में अटूट श्रद्धा होने से उसने इस वज्रपात को भी सहन किया तथा धर्म में और दृढ़ हो गई । कर्मों की लीला विचित्र है ? राजा श्रेणिक के महामंत्री अभयकुमार स्वयं सुलसा श्राविका को सान्त्वना देने गये और उसके पुत्रों के शौर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की ।

समकित्त की परीक्षा : कुछ समय पश्चात् तीर्थंकर भगवान् महावीर का आगमन चम्पा नगरी में हुआ । वहाँ उन्होंने देशना दी । देशना के पूर्ण होने पर राजगृही के अम्बड़ परिव्राजक ने खड़े होकर वन्दन किया व कहा—‘भगवन्, आपकी धर्मदेशना सुन मेरा जन्म सफल हो गया, मैं राजगृही जा रहा हूँ ।’ महावीर ने कहा—‘राजगृही में सुलसा नाम की श्राविका को ‘धर्मलाभ’ कहना ।

सुलसा के इस अहोभाग्य पर अम्बड़ परिव्राजक आश्चर्यचकित हो गया तथा सुलसा के सम्यक्त्व की परीक्षा लेने का निश्चय किया । यह निश्चय कर अम्बड़ ने संन्यासी का रूप धारण किया व सुलसा के घर जाकर भोजन मांगा । सुलसा ने सम्यक् साधुओं को ही भोजन देने का प्रण किया था अतः उसने भोजन नहीं दिया । उसने अपने ज्ञान द्वारा कई प्रकार के विचित्र वेश धारण कर सुलसा को भुलावा देने की कोशिश की पर उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ । वह अपने विश्वास पर दृढ़ रही । अन्त में उसने जैन मुनि का रूप धारण कर नमोक्कार मन्त्र का उच्चारण करते हुए सुलसा के गृह में प्रवेश किया । सुलसा ने मुनि जानकर उचित सम्मान किया । तदुपरान्त अम्बड़ ने अपना परिचय देते हुए सुलसा के दृढ़ समकित्त व भगवान् महावीर पर दृढ़ विश्वास की बहुत प्रशंसा की । उसे महावीर द्वारा कहे गये धर्मलाभ का सन्देश दिया । अपने आपको

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिराएँ : ११७

पुण्यशाली समझकर भगवान् महावीर जिस दिशा में थे उस दिशा में उनको तीन बार नमस्कार किया है ।^१

सुलसा का चरित्र हमारे लिए आदर्श का प्रतीक है उसने जैन धर्म का दृढ़ता के साथ पालन किया । आर्यंबिल जैसे कठोर व्रत के उपरान्त, पुत्रों की प्राप्ति हुई किन्तु उनकी असामयिक मृत्यु से विचलित होकर भी सुलसा ने धर्म मार्ग नहीं छोड़ा । वह लक्षपाक जैसे बहुमूल्य तेल के जमीन पर गिर जाने पर भी विचलित नहीं हुई । इसके अलावा अम्बड़ श्रावक की परीक्षा में सफल होकर उसने महान त्याग का परिचय दिया है । इन्हीं शुभ कर्मों के कारण सुलसा ने तीर्थंकर गोत्र का बंध किया^२ ।

सुलसा मृत्यांकन : महावीर की गृहस्थ श्राविकाओं में सुलसा का नाम विशेष श्रद्धा से लिया जाता है । दानशीला सुलसा श्रावक के बारह व्रतों का सजगता से पालन करती थी । उत्कृष्ट तप-साधना आदि से उसे पुत्र प्राप्ति हुई किन्तु उनकी मृत्यु असमय में ही हो गई । इस असह्य आघात के लगने पर भी वह विचलित हुए बिना धर्म में अडिग रही और भगवान् महावीर के सिद्धान्तों पर अटूट श्रद्धा के साथ संयमबद्ध रही । इन्हीं सब गुणों से आगामी भव चक्र में वह सोलहवें तीर्थंकर पद को प्राप्त करेगी^३ ।

रेवती^४ :

श्रावस्ती नगर के मेढिया ग्राम में रेवती नाम की गाथापत्नी रहती थी । वह महावीर के उपदेश व सिद्धान्तों पर विश्वास रखती थी । रेवती औषधि बनाने की विशेष कला में निपुण थी । वह कई प्रकार की औषधि व पाक बनाकर तैयार रखती थी । आसपास के ग्राम व नगर के कई व्याधिग्रस्त पुरुष, स्त्री व बच्चे उसकी औषधियों का सेवन कर स्वास्थ्य-लाभ करते थे । कई साधु व परिव्राजक भी इसके द्वारा बनाई गई औषधि के सेवन से अपने शारीरिक कष्ट दूर करते थे ।

एक समय रेवती ने कूमांडफल (कुम्हड़ा) को संस्कृत करके पाक

१. आवश्यकचूर्णी—भाग २, पृ० १६४

२. स्थानांग, सूत्र ६९१

३. समवायांगसूत्र, १५९, स्थानांगसूत्र ६९१, स्थानांगवृत्ति (अभयदेव) पृ० ४५६

४. कल्पसूत्र १३७, स्थानांगसूत्र, ६९१, आवश्यकसूत्र पृ० २८, आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २०९

तैयार किया, तथा दूसरा बिजोरा पाक भी तैयार किया। उसने मन में यह सोचा कि तीर्थंकर महावीर अपने शिष्य समुदाय के साथ कभी इस ओर विहार करेंगे तब यह विशेष प्रकार से तैयार किया हुआ कूष्मांडफल का पाक उनके पात्र में अर्पित करने का सुअवसर प्राप्त कहेगी। इस प्रकार दान की उत्तम भावनाओं के साथ वह धर्म ध्यान में संलग्न रही।

एक बार तीर्थंकर महावीर अपने शिष्य समुदाय के साथ श्रावस्ती नगरी के मेढिया गाँव के बाहर सालकोष्टक उद्यान में पधारे। महावीर के शिष्य गोशालक ने क्रोध में आकर त्यागी महापुरुष पर तेजोलेश्या: विद्या का प्रयोग किया। जिससे महावीर को दाह-ज्वर उत्पन्न हुआ तथा अतिसार से पीड़ित हो गये। इस व्याधि से महावीर का शरीर अत्यन्त कृश होने लगा। अपने आचार्य की यह व्याधि देखकर शिष्यगण चिन्तित होकर सन्ताप करने लगे। इस शारीरिक व्याधि की बात सर्वत्र फैल गई और मालुकाकच्छ में कठिन तपस्या करते हुए भगवान् के शिष्य 'सिंह' अनगार ने भी इस दुःसंवाद को सुना। वे छठ (दो दिन के उपवास) के साथ कड़ी धूप में आतापना करते थे। वे धर्माचार्य का अनिष्ट होने की कल्पना से रूदन करने लगे। सर्वज्ञ अन्तर्यामी महावीर को जब इसका पता चला तो उन्होंने 'सिंह' अनगार को अपने पास बुलाकर कहा कि, यदि तुम मेरे स्वास्थ्य के बारे में अत्यन्त चिन्तित व दुःखी हो तो तुम मेढिया ग्राम में गाथापत्नी रेवती के घर जाओ और उसने जो वायु को उपशान्त करनेवाला बिजौर-पाक बनाया है उसे ले आओ। वह इस रोग निवृत्ति के लिये उपयुक्त है। इस पर अनगार 'सिंह' रेवती के घर पाक लेने गये। श्रमणमुनि को अपने द्वार पर आया देख रेवती ने श्रद्धा से बन्दन किया और प्रभु महावीर का कुशलक्षेम पूछा। तब सिंह श्रमण ने अश्रुपूरित नेत्रों से कहा, हे श्राविका ! अर्हत् प्रभु दाहज्वर से पीड़ित हैं और तुमने जो कूष्मांडफल का पाक उनके लिए विशेष रूप से बनाया है, उसकी आवश्यकता नहीं है, पर जो बिजोरापाक अन्य प्रयोजन के लिए बनाया है, उसकी आवश्यकता है।' आश्चर्यचकित होकर रेवती बोली, 'हे मुनि, किस ज्ञानी व तपस्वी ने मेरे इस गुप्त कार्य व मनोभावों का भेद आपसे कहा है ?' सिंह अनगार ने अपने गुरु के ज्ञान की महिमा बताई। श्राविका रेवती बहुत ही श्रद्धा भाव से वह औषधि 'सिंह अनगार'

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : ११९

को अर्पित की' । महावीर ने अनासक्त भाव से औषधि का सेवन किया, जिससे शीघ्र स्वस्थ हो गये ।

इस शुभ भावना से दिये हुए दान के कारण रेवती श्राविका ने भावो सत्रहवें तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का बन्ध किया^२ । रेवती ने अपनी सेवा भावना से विशिष्ट स्थान प्राप्त कर अपना जीवन सार्थक किया । उसके द्वारा निर्मित औषधि से महावीर की व्याधि दूर हो गई । रेवती का जीवन धन्य है, सेवा-भावना तथा औषधि विशेषज्ञों में उसका स्थान आदरणीय रहेगा ।

रेवती—मूल्यांकन : रेवती श्राविका के उदाहरण से यह प्रमाणित होता है कि, उस काल की महिलाएँ औषधि निर्माण में अति निपुण थीं । उस समय के श्रावक-श्राविकाएँ साधु जीवन की कठोर दिनचर्या से परिचित थे । रेवती इसी को ध्यान में रखकर विभिन्न तरह की औषधियाँ बनाकर रखती थी ताकि कभी भी श्रमण, मुनि, परिव्राजक आदि के काम आ सके और वे व्याधि से विमुक्त हो सकें । रेवती की उक्त कथा से उसकी त्यागवृत्ति का दर्शन होता है ।

सुभद्रा^३ :

वसन्तपुर के राजा जितशत्रु के अमात्य जिनदास की पुत्री सुभद्रा थी । जिनदास जैन धर्म के अनुयायी थे, इसलिये उन्होंने पुत्री को भी जैन धर्म की छत्र-छाया में पाला-पोसा व शिक्षा देकर बड़ा किया । वह बहुत विनयशील व धर्मानुरागिनी थी । माता-पिता ने किसी सुपात्र जैन धर्मावलम्बी युवक से पुत्री का विवाह करने का विचार किया ।

उस समय चम्पा नगर में बुद्धदास नामक एक वणिक रहते थे । उनका सम्पूर्ण परिवार बौद्ध धर्म का अनुयायी था । बुद्धदास सुभद्रा के गुण और सौन्दर्य पर मुग्ध थे और उससे विवाह करना चाहते थे । चूँकि

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—पर्व १०, सर्ग ८, पृ० १६९
२. भगवतीसूत्र, श. १५, सूत्र ५५७, कल्पसूत्रवृत्ति (धर्मसागर) पृ० १२७; स्थानांगसूत्र ६९१, स्थानांगवृत्ति (अभयदेव) पृ० ४५६, समवायांगसूत्र १५९ ।
३. आवश्यकचूर्णि द्वि० पृ० २६९-७०, आवश्यकनियुक्ति १५-४५, दशाश्रुत-स्कंधचूर्णि पृ० ४८, व्यवहारसूत्रभाष्य तृ० ३७४, स्थानांगवृत्ति (अभयदेव), पृ० २५७

१२० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

सुभद्रा के माता-पिता अन्य धर्मावलम्बी से अपनी पुत्री का विवाह करने को इच्छुक नहीं थे अतः बुद्धदास ने जैन धर्म अंगीकार कर लिया तथा सुभद्रा से विवाह किया ।

सुभद्रा की ससुराल के सभी सदस्य बौद्ध धर्म के अनुयायी थे । सुभद्रा की जैन धर्म में आस्था रखना तथा पूजा-अर्चना करना उसकी सास को रास नहीं आया, फलतः वह अप्रसन्न होकर बहू के विरुद्ध बुद्धदास को भड़काने लगी परन्तु बुद्धदास को भार्या पर पूर्ण विश्वास था । सुभद्रा जैन धर्म के अनुसार सदाचरण सहित आदर्श गृहिणी के अनुकूल जीवन बिताने लगी ।

एक दिन एक श्रमण साधु सुभद्रा के यहाँ भिक्षा हेतु आये । साधु की आँख तिनका पड़ने से लाल हो गई थी, जिससे उन्हें अधिक कष्ट हो रहा था । करुणार्द्र सुभद्रा से यह नहीं देखा गया और साधु के पास बैठकर तिनका निकालने लगी । उसकी सास ऐसे अवसर की खोज में थी ही, उसने पुत्र बुद्धदास को भी यह दृश्य दिखलाया । इससे पति के मन में भी पत्नी के सतीत्व के बारे में शंका उत्पन्न हो गई और वह पत्नी सुभद्रा से अप्रसन्न रहने लगा । पति-प्रेम से वंचित रहने पर सुभद्रा को असह्य व्यथा हुई । उसने भगवान् का ध्यान और व्रत उपवास का अनुष्ठान प्रारम्भ किया । वह अपने ऊपर मढ़े गये इस निरर्थक मिथ्या कलंक को मिटाना चाहती थी ।

इसी बीच एक अद्भुत घटना घटो । चम्पा नगरी के राजा के महल के दरवाजे बन्द हो गये वे किसी भी उपाय से नहीं खुल रहे थे । ज्योतिषियों ने बताया कि यह कोई दैवी प्रकोप है । यदि कोई पूर्ण पतिव्रता स्त्री कच्चे सूत में चलनी बाँधकर कुएँ से पानी निकालकर द्वार पर छिड़के और फिर द्वार खोले तो सम्भव है कि वे खुल जायें ।

इस पर राजा ने घोषणा करवाई कि राज्य की सब स्त्रियाँ कच्चे सूत में चलनी बाँधकर कुएँ से पानी निकालने की कोशिश करें । अन्त में राजाज्ञा के अनुसार सुभद्रा भी पानी निकालने गई । एकत्रित सभी महिलाओं ने बड़े आश्चर्य से देखा कि कच्चा सूत टूटे बिना चलनी में पानी आ गया और यह पानी महल के दरवाजे पर छिड़कने से दरवाजे खुल गये । पतिव्रता सुभद्रा धार्मिक आस्था में रहकर अपने धर्म में दृढ़

रही, जिससे सभी कुटुम्बीजन इस नारी का गुणगान करने लगे^१।

सुभद्रा^२ :

सुभद्रा राजगृह नगर के श्रेष्ठी धन्या की पत्नी थी, उसकी माता का नाम भद्रा तथा भाई का नाम शालिभद्र था। सुभद्रा को अपने भाई शालीभद्र के त्याग और एकाएक वैराग्य भावना की ओर झुकाव की घटना विदित हुई कि वे प्रतिदिन एक-एक पत्नी तथा एक-एक शय्या का परित्याग कर रहे हैं। इस संवाद से सुभद्रा बहुत ही उदास व चिन्तित रहने लगी। इसी मानसिक तनाव में एक दिन जब वह अपने पति धन्ना श्रेष्ठी को स्नान करवा रही थी उसी समय उसके नेत्र से गरम आंसू की बूँदें पति की पीठ पर गिर पड़ीं। सुकोमल अंगों वाले श्रेष्ठी अश्रु बूँद की उष्णता से विचलित हो उठे। उन्होंने इसका कारण जानना चाहा। पति के आग्रह पर सुभद्रा ने बताया कि मेरा भाई शालिभद्र प्रतिदिन वैराग्य की ओर अग्रसर होता जा रहा है। साथ ही प्रतिदिन एक-एक शय्या तथा एक-एक पत्नी का त्याग कर रहा है। इस पर धन्ना श्रेष्ठी ने शालिभद्र के क्रमशः त्याग को उसकी निर्बलता तथा कायरता बताया। उन्होंने कहा कि यदि त्याग करना ही है तो उसे एक साथ ही क्यों न कर दिया जाय। भाई के त्याग के प्रति पति के इस कथन ने सुभद्रा के मन को चंचल बना दिया अतः वह बोल पड़ी—“कहना तो सरल है किन्तु करना कठिन होता है। यदि त्याग इतना ही सहज है तो आपको ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिये”।

धन्ना ने प्रत्युत्तर में मात्र इतना कहा कि, “मेरे व्रत में एक मात्र तुम्हीं बाधक रही लेकिन अब मुझे इसका बोध हो गया है कि स्त्री, धन आदि सांसारिक आकर्षण नश्वर है। अतएव मैं भी अवश्य दीक्षा लूँगा”। पति के गृहत्याग के दृढ़ संकल्प ने सुभद्रा के नारी हृदय को उद्वेलित किया, किन्तु जब सुभद्रा को यह आभास हो गया कि उसके पति अपने

१. (क) आवश्यकचूर्णि भाग २ पृष्ठ २६९-२७० आवश्यकनिर्युक्ति, पृ० ४८

(ख) प्राकृत प्राँपरनेम्स पृ० ८२७

(ग) 'कल्याण' का नारी अंक पृ० ७१२

दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्य में नोलीबाई का वर्णन सती सुभद्रा के समान ही है।

२. श्रेष्ठी धन्या की पत्नी सुभद्रा का उल्लेख स्थानांगवृत्ति (अभयदेव) पृ० ५१०

१२२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

प्रण पर दृढ़ हैं तो वह उन्हें रोक न सकी। अंततोगत्वा श्रेष्ठी धन्ना ने शालिभद्र को साथ लेकर तीर्थंकर महावीर से दीक्षा ग्रहण की।

अपने त्याग तथा भ्रातृ प्रेम के कारण सुभद्रा का सन्नारियों में गौरवपूर्ण स्थान है। अपनी माता भद्रा तथा ३२ भाभियों के साथ उसने श्राविका के बारह व्रतों को अंगीकार किया और आत्म कल्याण करने लगी^१।

यहाँ हमें सुभद्रा के भ्रातृप्रेम का उदाहरण प्राप्त होता है। इकलौते भाई की त्याग-वैराग्य भावना से दुःखित होकर वह अपने आँसू भी नहीं रोक सकी। जबकि अपने पति को वैराग्य की प्रेरणा इसी महिला ने दी।

भद्रा^२ :

राजगृह में धनाढ्य गृहपति गोभद्र की पत्नी का नाम भद्रा था। उनके पुत्र का नाम शालिभद्र तथा पुत्री का नाम सुभद्रा था।

जैन साहित्य में वर्णित इस महान् महिला की यशोगाथा का वास्तविक आरम्भ उस समय से होता है, जब पति के असामयिक निधन के कारण भद्रा को न केवल अपने पुत्र, पुत्री के लालन-पालन की जिम्मेदारी निभानी पड़ी, वरन् पति के विस्तीर्ण विकसित वाणिज्य व्यवसाय की देखरेख का भार भी उठाना पड़ा। वात्सल्य प्रेम के कारण भद्रा ने शालिभद्र को व्यापार संचालनादि के दायित्व का भार नहीं सौंपा था। माता ने रूप, गुण तथा शीलयुक्त बत्तीस श्रेष्ठी कन्याओं के साथ अपने इकलौते पुत्र शालिभद्र का विवाह किया और शालिभद्र अपने सप्त खंडी प्रासाद पर अहर्निश सांसारिक सुख भोगने में सतत लीन रहने लगा।

भद्रा की असाधारण सूक्ष्मबुद्धि तथा व्यावसायिक कुशलता के कारण व्यापार में निरन्तर वृद्धि होती रही। भद्रा की व्यावसायिक संचालन क्षमता व सफलता ने देवी-चमत्कार की संभावना उत्पन्न कर दी। किंवदन्ती तो यह है कि पति गोभद्र मृत्योपरान्त देव-योनि में उत्पन्न हुआ था। वह अपने पुत्र स्नेह के कारण अपने पुत्र एवं पुत्र-वधुओं की सुख-सुविधा के लिये वस्त्र और आभूषणों से पूरित तैंतीस पिटारे प्रतिदिन

१. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित पर्व १०, सर्ग १०, पृ० १९३

(ख) श्रीधन्यचरित्र,

२. स्थानांगवृत्ति (अभयदेव) पृ० ५१०, बृहत्कल्पभाष्य ४२१९, ४२२३, आवश्यकसूत्र पृ० २७, आवश्यकचूर्णि प्र० पृ० ३७२, राजप्रश्नीयवृत्ति (मलयगिरि) पृ० ११८ आदि।

प्रदान करता रहता था। पिता की दानशीलता एवं माता की कार्य कुशलता ने शालिभद्र को निश्चिन्त कर दिया और वह अपने राग-रंग में रत, भौतिक सुखों में जीवन व्यतीत करता था।

एक दिन राजगृह में नेपाल के व्यापारी सोलह रत्न जटित कम्बल लेकर आये, इनमें प्रत्येक की कीमत सवा लाख स्वर्ण मुद्रा थी जिसे राजगृही में कोई क्रय नहीं कर सका। श्रेष्ठी भद्रा ने नगर का गौरव रखने के लिये उन सभी कम्बलों को खरीद लिया और एक-एक के दो-दो टुकड़े बनाकर बत्तीस पुत्र वधुओं को दे दिया। इन कम्बलों की यह विशेषता थी कि ये शीत ऋतु में गर्मी और गर्मी में शीतलता प्रदान करते थे। इन अद्भुत कम्बलों को प्राप्त करने का रानी चेलना का अति आग्रह देखकर राजा श्रेणिक ने व्यापारियों को बुलाया पर उन्होंने विवशता प्रकट करते हुए कहा, “आपके नगर की भद्रा श्रेष्ठिनी ने सब कम्बल क्रय कर लिये हैं।

राजा श्रेणिक का संदेश पाकर भद्रा राजा के योग्य बहुमूल्य उपहार लेकर राजदरबार में गई और नम्रता से बोली—“राजन्, मेरे दिवंगत पति देवगति में हैं और वे पुत्र स्नेह के वशीभूत होकर शालिभद्र तथा पुत्रवधुओं को वस्त्राभूषण तथा अंग-राग आदि की तैसीस पिटारे प्रतिदिन भेजते हैं। रत्न कम्बल का स्पर्श पुत्रवधुओं को कठोर अनुभव हुआ और इसलिये उन्होंने उनका उपयोग पैर पोंछने के वस्त्र के रूप में किया”। इस निवेदन के बाद भद्रा ने अति आग्रहपूर्वक राजा श्रेणिक को अपने यहाँ पधारने का निमंत्रण दिया। राजा ने सहर्ष निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

भद्रा अपने रथ में बैठकर आवास पर आई, राजा के स्वागत की तैयारी में व्यस्त हो गई और राजा भी राजकीय समारोहपूर्वक भद्रा के निवास पर आये। भद्रा ने श्रेणिक का अपने गृह पर उचित स्वागत किया तथा पुत्र शालिभद्र को भी राजा से भेंट करने को बुलाया। माता का सम्बोधन कि “राजा श्रेणिक अपने नाथ हैं”, शालिभद्र को उचित नहीं लगा। वह तो स्वयं स्वामी बनना चाहता था। अतः दासता की इस तीव्र भावना से उसका मन सांसारिक भोगों से विरक्त होकर वैराग्य की ओर प्रवृत्त हुआ, किन्तु माता के अति आग्रह से प्रतिदिन एक

१. (क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष-पर्व १०, सर्ग १०, पृ० १९१-१९२
- (ख) आगम और त्रिपिटक (मुनि श्री नगमलजी)

पत्नी और एक शय्या का त्याग करते हुए क्रमशः वैराग्य की ओर अग्रसर हुआ।

तीर्थंकर महावीर के राजगृह आगमन पर शालिभद्र तथा धन्य दोनों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। माता भद्रा भी पुत्रवधुओं के साथ श्रावक-धर्म स्वीकार कर साधनामय जीवन व्यतीत करने लगी।

एक बार तीर्थंकर महावीर अपने धर्म समुदाय के साथ राजगृही पधारे। शालिभद्र मुनि ने कठोर साधना से अपनी काया को कृश कर लिया था। वे महावीर स्वामी की आज्ञा लेकर भद्रा माता के यहाँ आहार के लिये गये। पर महावीर के दर्शनार्थ जाने की आकुलता में माता भद्रा अपने पुत्र (मुनि) को नहीं पहचान सकी और शालिभद्र बिना आहार प्राप्त किये ही लौट गये। मार्ग में एक ग्वालिनू ने वात्सल्य के वशीभूत होकर उन्हें दही से पारणा करवाया। मुनि शालिभद्र महावीर की आज्ञा प्राप्त कर सल्लेखना लेकर पर्वत पर चले गये।

माता भद्रा अपने परिवार सहित समवसरण में आई भगवान् महावीर ने इस अवसर पर शालिभद्र की भिक्षाचारी से लेकर अनशन तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया। यह ज्ञात होने पर कि द्वार पर आये उपेक्षित मुनि कोई और नहीं बल्कि पुत्र शालिभद्र तथा जामाता धन्य ही थे, माता भद्रा को वज्राघात-सा लगा। वह शीघ्रता से पर्वत पर पुत्र को देखने गई। पुत्र की कृशकाया तथा साधनामय जीवन को देखकर माता का हृदय विकल हो उठा। वह मूर्च्छित हो गई। इस समय वहाँ सम्राट श्रेणिक भी थे, उन्होंने माता भद्रा को आश्वस्त किया तथा धर्म में दृढ़ रहने के लिए साग्रह प्रेरित किया।

माता भद्रा के पुत्र शालिभद्र का वैभव विलासमय सांसारिक जीवन तथा कठोर साधना युक्त साधु जीवन दोनों ही असाधारण तथा अद्वितीय था।

भद्रा-मूल्यांकन—भद्रा की कार्यकुशलता, सक्षमता, व्यवहार दक्षता व बुद्धि चातुर्य से स्पष्ट होता है कि वे एक विलक्षण प्रतिभाशाली गृहणी थीं, जिन्होंने स्वयं अपने पति के व्यवसाय वाणिज्य का चतुर्दिक् विकास और विस्तार किया। उनका चरित्र इस बात का द्योतक है कि तत्कालीन समाज में श्रेष्ठी की पत्नी सर्वगुणसम्पन्न एवं निपुण होती थीं। वाणिज्य-व्यवसाय के कार्य संचालन की उनमें अद्भुत क्षमता थी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी दक्षता का प्रमाण स्वतः सिद्ध है, तत्कालीन समाज में इन्हीं गुणों के कारण उन्हें गौरव और आदर प्राप्त था।

भद्रा^१ :

राजगृही नगर के राजा श्रेणिक के राज्य में धन्य सार्थवाह अपनी पतिव्रता सहधर्मिणी भद्रा के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें सब तरह का सुख था पर पत्नी भद्रा के कोई संतान नहीं थी। संतान न होने से वह खिन्न व निराश रहती थी। निःसंतान भद्रा अपने इस दुःख को दूर करने के लिये श्रद्धा से नाग देवता की आराधना करने लगी और इस श्रद्धा के फलस्वरूप उसे पुत्र की प्राप्ति हुई। इसका नाम देवदत्त रखा तथा चेटक नाम के सेवक को उसकी परिचर्या हेतु नियुक्त किया।

एक बार भद्रा ने अपने पुत्र देवदत्त को नहलाकर सुन्दर वस्त्राभूषणों से विभूषित कर चेटक की देखरेख में खेलने के लिये भेजा। वह चेटक बालक देवदत्त को एक जगह बैठाकर अन्य बालकों के साथ असावधान होकर खेलने लगा। इसी समय विजय चोर ने बालक देवदत्त के आभूषणों को देखकर लोभवश चुपके से उसका अपहरण कर लिया और निर्जन स्थान में ले जाकर उसकी हत्या कर शव निर्जन अंधेरे कुएँ में डाल दिया तथा आभूषण लेकर भाग गया। राज्य कर्मचारियों द्वारा पकड़े जाने पर विजय चोर को कड़ी सजा हुई तथा कारावास में डाल दिया गया।

तत्पश्चात् किसी राजकीय अपराध में धन्य सार्थवाह को कुछ समय के लिये कारावास में जाना पड़ा। विजय चोर भी वहाँ सेठ से मिला। श्रेष्ठी का भोजन घर से आता था। विजय चोर ने श्रेष्ठी से कहा कि इसमें से कुछ भाग मुझे भी दो तब उन्होंने उत्तर में कहा कि—“मेरे पुत्र के हत्यारे, तुम्हें यह भोजन नहीं दूँगा।” कारागार में अन्य साथी न होने से कभी-कभी न चाहते हुए भी किसी काम के लिये विजय चोर की सहायता लेनी पड़ती थी। धीरे-धीरे निकटता बढ़ी और श्रेष्ठी अपने भोजन में से कुछ हिस्सा विजय को प्रतिदिन देने लगा। नौकर द्वारा अपने पति और विजय चोर की निकटता को जानकर भद्रा को असौम्य वेदना हुई।

जब धन्य सार्थवाह कारावास से मुक्त होकर घर आये तो कुटुम्ब के अन्य लोगों ने सम्मानपूर्वक उनका कुशल क्षेम पूछा लेकिन भद्रा ने उनसे अच्छी तरह बात भी नहीं की। श्रेष्ठी द्वारा इसका कारण पूछने पर उसने बताया कि—“आप मेरी सन्तान के हत्यारे को अपना भोजन देते

थे तथा उससे सहायता लेते थे” । श्रेष्ठी ने भद्रा को अच्छी तरह समझाया कि मैंने बाह्य शारीरिक प्रयोजन से ही उसका सहयोग लिया था । इस पर भद्रा संतुष्ट हुई तथा पूर्ववत् पति की सेवा करने लगी । एक बार आचार्य धर्मघोष राजगृह आये उनके प्रवचन से प्रभावित होकर धन्य सार्थवाह ने दीक्षा ग्रहण की तथा उग्र तपस्या करके कालान्तर में सौधर्म देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुए^१ ।

भद्रा-मूल्यांकन—इस रूपक कथा के माध्यम से त्यागी वर्ग को सचेत किया गया है कि भोजन केवल शरीर रक्षण के लिये किया जाना चाहिये ताकि शरीर से साधु-जीवन और नियमों का पालन हो सके ।

रोहिणी :

रोहिणी श्रेणिक राजा की राजधानी राजगृह के सार्थवाह धन्या की सबसे छोटी पुत्रवधु थी । एक समय सार्थवाह ने अपनी चारों पुत्रवधुओं की योग्यता को परीक्षा लेने का विचार किया । उसने कुटुम्बियों तथा ज्ञातिजनों के समक्ष अपनी चारों पुत्रवधुओं को बुलाकर पाँच-पाँच चावल के दाने देते हुए कहा, ‘हे पुत्रियों, तुम ये पाँच-पाँच चावल के दाने लो, इन्हें लेकर अनुक्रम से इनका संरक्षण और संवर्द्धन करती रहो तथा जब मैं पुनः मांगूँ तब मुझे लौटा देना ।’ इस प्रकार उज्जिका, भोगवती, रक्षिका एवं रोहिणी—उन चारों पुत्रवधुओं को यह आदेश देकर सार्थवाह उचित समय की प्रतीक्षा करने लगा^२ ।

पाँच वर्ष बाद चारों पुत्रवधुओं को बुलाकर सार्थवाह ने चावल के दाने पुनः लौटाने को कहा । प्रथम ने दाने नष्ट कर दिये थे । द्वितीय ने उन दानों को स्वयं खा लिया था, तृतीय ने एक मंजूषा (पेटी) में चावल के दाने संभालकर रखे थे वह लाकर वापस किए । जब चौथी पुत्रवधु रोहिणी को चावल के दाने लौटाने को कहा तो उसने कहा—‘तात ! आप मुझे बहुत-सी गाड़ियाँ दीजिए जिससे मैं आपको वह पाँच चावल के दाने लौटा सकूँ । क्योंकि रोहिणी ने उन पाँच दानों को सेवकों के माध्यम से प्रथम वर्ष में एक छोटी क्यारी में, दूसरे वर्ष खेत में तथा इसी अनुक्रम से बोते हुए पाँच वर्ष में पर्याप्त धन एकत्रित कर लिया था ।

१. (क) आनंदऋषिजी—ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र—अ २, पृ० १४२-१५४

(ख) हस्तीमलजी मेवाड़ी—आगम के अनमोल रत्न—पृ० ५९२

२. आ० आनन्दऋषिजी—ज्ञाताधर्मकथासूत्र—अ० ७, पृ० २२५

तीर्थंकर महावीर के युग की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : १२७

सार्थवाह ने रोहिणी की चतुराई से प्रसन्न होकर उसे गृहस्थी के अनेक रहस्यपूर्ण कार्यों में परामर्शदात्री नियुक्त किया तथा अन्य पुत्रवधुओं को उनकी योग्यता के अनुसार गृहस्थी के अन्य कार्यों का दायित्व सौंपा। यहाँ पर रोहिणी की विलक्षण कार्यक्षमता एवं विचारशक्ति का परिचय प्राप्त होता है^१।

रोहिणी-मूल्यांकन—इस दृष्टान्त से प्रतीत होता है कि उस समय की महिलाओं की बुद्धिमत्ता तथा कार्य निपुणता की परीक्षा ली जाती थी। यह रूपक साधु-साध्वी के आचार के लिये भी उपयुक्त है। जो साधु-साध्वी अनगार धर्म के पाँच महाव्रतों की रक्षा करते हैं, वे इसी जन्म में दूसरे साधु, साध्वी तथा श्रावक श्राविकाओं में पूजनीय होते हैं।

नन्दा^२ :

कौशाम्बी राज्य के मंत्री सुगुप्त की पत्नी नन्दा दया तथा करुणा की मूर्ति थी। तीर्थंकर महावीर के प्रति उसमें अपार श्रद्धा एवं दृढ़ निष्ठा थी। राजरानी मृगावती से उसे अप्रतीम स्नेह था और इसीलिए उन दोनों के मध्य सखी भाव था।

एक बार तीर्थंकर महावीर कौशाम्बी एवं उसके चतुर्दिक् विस्तीर्ण भागों में भ्रमण कर रहे थे। एक दिन महावीर भिक्षा प्राप्त करने के लिए नन्दा के निवास की ओर चले उन्हें अपने निवास की ओर आता देखकर नन्दा को अपार हर्ष हुआ। वह उत्साहित होकर उठी और अर्पित करने योग्य भिक्षा लेकर मुनि के समक्ष उपस्थित हुई। नन्दा द्वारा दिये गये भोज्य सामग्रो से अभिग्रह पूरा न होने का अनुभव कर तपस्वी तत्क्षण आगे बढ़ गये। नन्दा कुछ ही क्षणों में हर्ष और विषाद की इस घटना से अत्यन्त व्यथित हुई। उसने इस सम्पूर्ण घटना की जानकारी रानी मृगावती तक पहुँचाई। श्रद्धावान् नारी द्वय ने अपने-अपने पति से इस बारे में अपनी चिन्ता व्यक्त की, लेकिन वे भी यह नहीं बतला पाये कि तपस्वी मुनि का अभिग्रह क्या था^३।

१. वही, अ. ७, पृ० २३५

२. आवश्यकचूर्ण प्र० पृ० ३१६-१७, आवश्यकनियुक्ति ५२०-२२, विशेषा-वश्यकभाष्य १९७६, कल्पसूत्रवृत्ति (विनयविजय) पृ० १७०, कल्पसूत्रवृत्ति (धर्मसागर) पृ० १०९

३. कल्पसूत्र, ८२

दृढ़ निष्ठा, धर्मानुकूल सदाचार, शुभ विचारों एवं महावीर के अभिग्रह को जान पाने की मनोभिलाषा ने समाज में उन्हें प्रसिद्ध कर दिया। यद्यपि भगवान् महावीर को साक्षात् प्राप्त करके भी उनके अभिग्रह को नहीं जान पाई। लेकिन जीवन में उपस्थित हुए इन अनमोल क्षणों ने उसके मन को एकाग्रता और दृढ़ता प्रदान की, जिससे वह संयम, नियम तथा आत्महित साधना में और दृढ़ हुई।

नन्दा-मूल्यांकन—नन्दा की मनोदशा से यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में साधु, मुनि व त्यागी वर्ग के लिये जनमानस में बहुत आदर था। विशेषतया महिलाएँ उनके कष्ट पीड़ा को दूर करना अपना परम कर्तव्य व धर्म समझती थीं।

बहुलिकार :

सानुयष्टिक गाँव के आनन्द नामक गृहस्थ के यहाँ कई दासियाँ थीं। उनमें एक बहुला नामक दासी भी थी। बहुला अपने कार्य, निष्ठा और परिश्रम से अपने स्वामी को सदा प्रसन्न रखती थी।

एक समय कई प्रकार की कठोर तपस्या पूर्ण करने के पश्चात् महावीर आहार के लिये निकले। आनन्द श्रेष्ठी के यहाँ गये। बहुला दासी अवशिष्ट भोजन को एक ओर रखकर रसोई के बर्तन साफ कर रही थी। उस समय तप से कृशकाय हुए मुनि को देखकर दासी ने पूछा, 'हे मुनिराज ! यह अन्न आपके योग्य है क्या ?' दासी ने बहुत ही भक्ति-भाव से भोजन के पश्चात् बचे हुए अवशिष्ट भोज्य पदार्थ महावीर को दिए। महावीर ने इस निर्दोष अन्न तथा बासी भोजन से सहज भाव से पारणा किया। इस आहार दान की महिमा से श्रेष्ठी के यहाँ पाँच दिव्य प्रगट हुए। जन मानस में आनन्द की लहर दौड़ गई। इस दान की महिमा से बहुला को दासत्व से मुक्ति मिली और उसने महावीर के सिद्धान्तों का पालन करते हुए धर्म ध्यान में अपना शेष जीवन व्यतीत किया।^३

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित-पर्व १०, सर्ग २, पृ० ८२-११०

२. आवश्यकवृत्ति, प्र० पृ० ३००

आवश्यकवृत्ति, (मलयगिरि) पृ० २२८

३. आचार्य हस्तीमल जी 'जैनधर्म का मौलिक इतिहास' पृ० ३८७

(क) पं० कल्याण विजयजी गणी, श्रमण भगवान् महावीर पृ० ३८

वत्सपालिका^१ :

साधना के ग्यारहवें वर्ष में छः मास की तपस्या पूर्ण कर महावीर वज्रगाम में गोचरी लेने गये। वत्सपालिका नाम की वृद्धा ग्वालिन ने कृशकाय तपस्वी को देखकर श्रद्धापूर्वक वन्दन किया और भक्तिभाव से अपने यहाँ पारणा करने को निमंत्रित किया। ग्वालिन ने प्रभु को परम अन्न (दूध की खोर) से पारणा करवाया। इस दान की महिमा से वहाँ पंच दिव्य प्रगट हुए। वह महावीर की संयम देव के उपसर्ग के समय की दीर्घकालिक तपस्या का पारणा था। ग्वालिन वत्सपालिका का दारिद्र्य सदा के लिये मिट गया। वह महावीर को भक्त बन गई।^२

वत्सपालिका-मूल्यांकन—तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में निम्न श्रेणी के लोगों से आहार ग्रहण कर महावीर ने जाति-पाँति के भेद को सर्वथा मिटा दिया था।

विजया^३ और प्रगल्भा^४ :

जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के धार्मिक सिद्धान्तों पर विश्वास करने वाली ये दोनों परिव्राजिकाएँ भद्रिदया नगरी के पास कूपिय सन्निवेश (ग्राम) में रहती थीं। इन्होंने पूर्व में श्रमण धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी, परन्तु साध्वी संघ के कठोर नियम पालन में स्वयं को असमर्थ पाकर उस संयम व्रत को त्याग दिया और परिव्राजिका बनकर अपना समय धर्म-ध्यान में व्यतीत करने लगीं।

एक समय वर्धमान महावीर विचरण करते हुए पाँचवें चातुर्मास में कूपिय गाँव में आये। वहाँ के आरक्षकों ने उन्हें गुप्तचर समझ कर बन्दी बना लिया। श्रमण मुनि को बन्दी बनाने की चर्चा दोनों परिव्राजिकाओं ने भी सुनी। इस समाचार को सुनकर करुणा से दोनों विगलित हो गईं और शीघ्र ही उस स्थान पर पहुँचीं जहाँ कि नगर-रक्षक महावीर को

१. आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २९३

२. आचार्य विनयविजयसूरि—'कल्पसूत्र' सुबोधिका टोका, पृ० ८०

३. आचार्य हस्तीमल जी जैन-धर्म का मौलिक इतिहास पृ० ३९१

४. आवश्यकचूर्णि, पृ० २९१, आवश्यकनियुक्ति ४८५,

विशेषावश्यक १९३९, आवश्यकवृत्ति (मलय०) पृ० २८२, कल्पसूत्रवृत्ति पृ० १६६।

१३० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

पकड़कर कष्ट दे रहे थे। दोनों परिव्राजिकाओं ने उन ग्राम-रक्षकों को महावीर का परिचय देते हुए उन्हें बताया कि 'क्षत्रियकुण्ड के तत्कालीन राजा नन्दिवर्धन के भाई उच्चकोटि के परम साधक हैं तथा साधना काल में मौनव्रत लिये हुए हैं। अतः इन्हें शीघ्र बन्धन-मुक्त कर दो।' इस पर रक्षकों ने शीघ्र ही महावीर को बन्धन-मुक्त कर दिया और उनसे क्षमा याचना की।^१

श्रमण धर्म के कठोर नियमों से परिचित होने के कारण साधनारत-मुनि के कष्ट का निवारण कर उन दोनों ने कर्त्तव्य पालन किया। विजया और प्रगल्भा ने विनयावन्त होकर वर्धमान महावीर का वन्दन किया और उनकी कठोर साधना तथा सहनशीलता की सराहना करती हुई अपने स्थान को वापिस गईं।^२

सोमा^३ और जयन्ती^४ :

विजया और प्रगल्भा के अनुरूप ही सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओं ने भी गाँव के आरक्षकों को महावीर से दुर्ग्व्यवहार करने पर रोका और कष्ट के लिये उनसे क्षमा माँगी।^५

महावीरकालीन नारियों में चन्दनबाला का चरित्र ऐसा जाज्वल्यमान नक्षत्र है, जो त्याग, तपस्या और सहिष्णुता के साथ अपने लक्ष्य पर दृढ़ रहकर चलने वाले पथिकों का मार्ग सदैव प्रशस्त करता रहेगा। उस युग की नारियाँ न केवल विदुषी और विचारक थीं, बल्कि हर

१. आवश्यकनिर्युक्ति ४८५, विशेषावश्यक १९३९, कल्पसूत्रवृत्ति, पृ० १६६, आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि), पृ० २८२।
२. पं० कल्याण विजयजी गणी 'श्रमण भगवान महावीर, पृ० ३२ (क) आचार्य हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक ई०, पृ३२३
३. आवश्यकचूर्णि प्र० पृ० २८६, आवश्यकनिर्युक्ति ४७८, विशेषावश्यक १९३१, आवश्यकवृत्ति (हरिभद्रीय) पृ० २०४, कल्पसूत्रवृत्ति, पृ० १०६ आदि।
४. आवश्यकनिर्युक्ति ४७८, आवश्यकचूर्णि प्र० पृ० १८६, कल्पसूत्रवृत्ति, पृ० १०६, विशेषावश्यक, १९३२
५. (क) वही पृ० २९
(ख) वही पृ० ३७९

कठिन परिस्थिति में वे संयम और विवेक से अपने कर्त्तव्यों का पालन करती थीं। सेवा और विनयशीलता उनके स्वाभाविक गुण थे।

तत्कालीन समाज में नारी को अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता था और इसी हेय दृष्टि की शिकार चन्दनबाला आदि नारियाँ हुई थीं, फिर भी उनके मन में समाज के प्रति किसी प्रकार की कड़वाहट पैदा नहीं हुई। वे अपने समक्ष उपस्थित कठिन परिस्थितियों को अपने कर्मों का प्रतिफल मानते हुए उनका साहस के साथ सामना करती थीं। उदाहरणार्थ चन्दनबाला ने अपने राजकुमारी होने का आभास नहीं होने दिया, यह उसकी महानता का परिचायक है। तीन दिन तक भूखी-प्यासी रहने पर भी अतिथि को पहले भोजन देने की भावना उस युग की नारियों की दान की उच्चतम भावना की प्रतीक है।

तीर्थंकर महावीर के साथ चन्दनबाला का नाम उसी प्रकार जुड़ा हुआ है, जिस प्रकार भगवान् राम के साथ शबरी का। जिस प्रकार भगवान् राम ने समाज द्वारा तिरस्कृत व उपेक्षित भील स्त्री शबरी के जूठे बेर भाई लक्ष्मण के मना करने पर भी खा लिये और ऊँच-नीच के भेदभाव को खाई को मिटाया, ठीक उसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी विविध प्रकार की धीर यातनाओं, संघर्षों और सांसारिक थपेड़ों से त्रस्त बन्दिनी चन्दनबाला का उद्धार कर तथा उसे तत्कालीन श्रमण संघ की छत्तीस हजार साध्वियों का नेतृत्व प्रदान कर महिला वर्ग को महनीयता प्रदान की।



तृतीय अध्याय

महावीरोत्तर जैन साध्वियाँ एवं महिलाएँ

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण (ई० पू० ५२७) के पश्चात् पाँचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी संघ के प्रथम आचार्य बने ।^१ इनके नेतृत्व में तीर्थंकर महावीर द्वारा स्थापित संघ के चारों वर्गों ने (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकाएँ) जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार बड़ी निष्ठा तथा उत्साह के साथ किया ।^२

तीर्थंकर महावीर के समय साध्वी चन्दनबाला के नेतृत्व में ३६ हजार साध्वियों के दीक्षित होने का उल्लेख प्राप्त होता है ।^३ इतनी बड़ी संख्या में महिलाओं ने संसार त्याग कर दीक्षा अंगीकार की, यह जैनधर्म के विशिष्ट गुणों का प्रभाव ही था । महावीर द्वारा दीक्षित इन साध्वियों की शृंखला उनके निर्वाण के पश्चात् भी चलती रही और कई राज महिषियों, राज पुत्रियों तथा श्रेष्ठ महिलाओं ने संसार त्याग कर प्रव्रज्या ली । इस प्रकार साध्वी परम्परा की नींव जो पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के समय से चली आ रही थी, उसे महावीर ने इतना सुदृढ़ एवं व्यावहारिक रूप प्रदान किया कि वह काल चक्र के थपड़े खाकर भी अक्षुण्ण बनी रही । इस निवृत्तिमार्गी पुरातन परम्परा ने वर्तमान में भी महिला जगत् में अपना वर्चस्व बनाये रखा । प्रमाण रूप में आज भी हम देखते हैं कि जैन धार्मिक परम्परा में साधुओं की (मुनियों की) अपेक्षा साध्वियों की संख्या अधिक है ।^४ आज भी विविध जैन संघों में साध्वियों की संख्या साधुओं की संख्या के अनुपात में तिगुनी है ।

१. उपा० विनयविजयजी—कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका-पृ० ९७

२. वही-पृ० ९८

३. (क) कवि पुष्पदन्त—वीर जिणिद चरित-पृ० ३५

(ख) नन्दी सूत्र-पृ० ७९

४. जैनधर्म का मौलिक इतिहास-पृ० २०२

धारिणी :

धारिणी राजगृह के धन कुबेर श्रेष्ठ ऋषभदत्त की भार्या थी। पति-पत्नी दोनों धार्मिक, दयालु, दृढ़प्रतिज्ञ एवं दानशील थे। धारिणी शीलवती, निष्कलंक एवं स्वच्छ स्फटिक मणि के समान निर्मल स्वभाव वाली तथा जैन धर्म के प्रति अटूट आस्थावान् थी। लेकिन निःसंतान होने से धारिणी चिन्तित एवं दुःखी रहती थी। कालांतर में निष्कपट भाव से निरंतर धर्म आराधना करने से धारिणी ने गर्भ धारण किया और सुधर्मा स्वामी द्वारा विघ्न बतलाने पर एक सौ आठ आयबिल (आचाम्ल) व्रत किया।^१

गर्भ के प्रवेश पर धारिणी ने जम्बू फल का स्वप्न देखा और उसके बाद गर्भ का यथोचित पालन किया। गर्भकाल पूर्ण होने पर धारिणी ने एक महतेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। बाल्यकाल पूर्ण होने पर उसने अपने पुत्र का आठ श्रेष्ठिकन्याओं से वाग्दान किया। बाद में पुत्र के दीक्षित होने पर माता ने भी दीक्षा ग्रहण की।^२

एक समय आचार्य सुधर्मास्वामी अपने धार्मिक परिवार (साधु, साध्वी) के साथ राजगृह आये। यहाँ श्रेष्ठ पुत्र जंबूकुमार ने इनके प्रवचन तथा धार्मिक सिद्धान्तों से प्रभावित होकर नवविवाहित आठ पत्नियों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की^३। इस प्रसंग में वर्णित कथानक निम्नवत् है—

राजगृह के संपन्न एवं समृद्ध श्रेष्ठ ऋषभदत्त अपनी पत्नि धारिणी के साथ आचार्य के दर्शन एवं उनके धार्मिक प्रवचन सुनने गये। उनके इकलौते पुत्र जंबूकुमार भी अपनी मित्र मण्डली के साथ आचार्य के पास गये। वैराग्यमय धार्मिक उपदेश से जंबूकुमार इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने प्रवचन के पश्चात् आचार्य से श्रावक व्रत ग्रहण किये तथा आजीवन ब्रह्मचर्य रहने की प्रतिज्ञा की।^४

तत्कालीन सामाजिक प्रथा के अनुसार रूप, गुण तथा अनेक कलाओं

१. वही पृ० २०४

२. (क) मुनि रत्नप्रभ सूरि—जम्बू चरित्र

(ख) विजयविजयजी—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका।

३. उपा० विजयविजयजी—कल्पसूत्र—सुबोधिका टीका—पृ० १२०

४. (क) वही, पृ० १३०

(ख) जिनविजयजी—जंबू स्वामी।

में पारंगत जंबूकुमार का वाग्दान प्रतिष्ठित एवं समृद्ध श्रेष्ठियों की आठ गुणवान् कन्याओं के साथ हुआ था,^१ जिनके नाम समुद्रश्री, पद्मश्री, पद्मसेना, कनकसेना, नभसेना, कनकश्री, कनकवती एवं जयश्री थे। कई कलाओं में निपुण ये श्रेष्ठिकन्याएँ एक दूसरे की सहेलियाँ थीं। नगर के श्रेष्ठ पराक्रमी तथा रूपवान् श्रेष्ठ पुत्र से सगाई होने पर ये सभी अपने को भाग्यवान् समझती थीं।

जंबूकुमार के आजीवन ब्रह्मचर्य के प्रण की चर्चा शीघ्र ही नगर में फैल गई। आठों श्रेष्ठपुत्रियों के माता-पिता इस समाचार से स्तब्ध रह गये। कन्याओं की मधुर आकांक्षाओं तथा भावी जीवन के रंगीन स्वप्न धूल-धूसरित हो गये। उन्हें चिंतित देख कर उनकी माताओं ने उन्हें अन्य योग्य वर से वाग्दान करवाने का आश्वासन दिया। परन्तु भारतीय संस्कृति व सदाचार की प्रतिमूर्ति इन श्रेष्ठ पुत्रियों ने अपने माता-पिता से स्पष्ट शब्दों में कह दिया—“आपने हमें उन्हें वाग्दान में दे दिया है अतः वे ही हमारे स्वामी हैं। वे जिस पथ का अवलम्बन करेंगे, चाहे वह कितना ही दुर्गम क्यों न हो, हमारे लिये वही अनुकरणीय होगा। आप अन्य किसी विकल्प का विचार न करें।”^२

कन्याओं के दृढ़ निश्चय को सुन कर उनके पितृजनों ने ऋषभदत्त (वर के पिता) को विवाह की स्वीकृति का संदेश प्रेषित कर दिया। दोनों ओर विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। माता-पिता ने विधि-विधान के साथ जंबूकुमार का आठों कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करवाया।

विवाह की प्रथम रात्रि को जंबूकुमार नवविवाहिता पत्नियों को संसार की क्षणभंगुरता के बारे में समझाने लगे। विद्वान् श्रेष्ठ कन्याओं ने भी पति जंबूकुमार को समझाने की कोशिश की। उसकी पत्नी पद्मश्री ने जंबूकुमार को सांसारिक सुख न भोगने पर एक दृष्टान्त दिया—“एक समय एक वानर अपनी पत्नी के साथ एक वृक्ष पर रह रहा था। एक दिन वह वृक्ष के नीचे किसी द्रव्य कूप में कूद पड़ा और अति सुन्दर राजकुमार बन गया। यह देख वानरी भी कूदी और वह भी एक सुन्दर राजकुमारी बन गई। परन्तु राजकुमार देव बनने के लोभ से पुनः वृक्ष के नीचे द्रव्य

१. डा० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—पृ० १४९

२. आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—द्वितीय खण्ड, पृ० २१३

कूप में कूदा पर वह पुनः वानर बन गया। अतः आप भी संसार-सुख भोग से विरक्त होकर इस दशा को प्राप्त न होइए।”

इसके प्रत्युत्तर में जम्बूकुमार ने संसार की अतृप्त भावना का उदाहरण दिया—“सांसारिक भोग उस तृष्णा के समान है, जिसमें अंगारकारक (कोयले बनाने वाले को) की अति तीव्र प्यास किसी भी प्रकार के जल से नहीं बुझी। अतः संसार सुख के भोग-विलास की कामनाएँ कभी भी तृप्त नहीं होतीं।” इस प्रकार आठों कन्याओं ने आठ दृष्टान्त दिये जिसके उत्तर में जम्बूकुमार ने त्याग की महत्ता पर प्रकाश डाला। अतः त्याग वैराग्य में लीन जम्बूकुमार ने अपनी नवविवाहित पत्नियों को अपने मार्ग की अनुगामिनी बना लिया और इस प्रकार सम्पूर्ण रात्रि आत्मोत्थान के गंभीर वार्तालाप में समाप्त हो गई।

उसी रात्रि कुख्यात डाकू प्रभव ने अपने ४९२ साथियों के साथ जंबूकुमार के घर में चोरी के लिए प्रवेश किया। संयोग से प्रभव ने दरवाजे की ओट से जम्बूकुमार और उसकी आठ नवविवाहिता पत्नियों के साथ हो रही त्याग तथा वैराग्य सम्बन्धी चर्चा को सुना, परिणामस्वरूप उसके मन में भी आत्मकल्याण की भावना का सूत्रपात हुआ^१। प्रातःकाल जम्बूकुमार, उसकी आठों रानियाँ, उसके माता-पिता तथा प्रभव सहित पाँच सौ चोरों, कुल मिलाकर पाँच सौ सत्ताईस लोगों ने संसार त्याग कर, प्रव्रज्या ग्रहण की।

महावीर निर्वाण के पश्चात् आचार्या चन्दनबाला के साध्वी संघ में एक साथ सत्रह सुशिक्षित श्रेष्ठ कन्याओं तथा महिलाओं ने दीक्षा लेकर संघ में प्रवेश किया। उस समय संघ का नेतृत्व आर्या सुव्रता नाम की साध्वी के हाथ में होने का उल्लेख मिलता है^२। वीरजिणिदचरिउ (दिगम्बर) ग्रन्थ में जम्बूकुमार की चार पत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है।

मूल्यांकन : कर्म सिद्धान्त के अनुसार इन महिलाओं के भी कर्म क्षय हो चुके थे इसलिए वे वैराग्य वृत्ति में आकर साधना रत हुईं। सामा-

१. (क) उपा० विनयविजयजी—कल्पसूत्र सुबोधिका—पृ० १३०
- (ख) वीर जिणिद चरिउ—पृ० ४९ (४-६-२६)
- (ग) नदीसूत्र चूर्णि—पृ० २६
२. राजमलजी—जंबूस्वामी चरित्र—पृ० ४१-४३

१३६ । जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

जिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से पति की अनुगामिनी बनकर उसी मार्ग का अनुसरण किया तथा देह-सुख के स्थान पर आत्म-सुख को महत्त्व दिया । अतः पूर्ण यौवन में इन्द्रियसुखों को त्यागकर उन नारियों ने एक अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत किया ।

साध्वी विगतभया^१ :

राजा अवन्तिसेन के राज्य में उज्जयिनी जैन धर्म की प्रमुख नगरी थी । यहाँ साधु-साध्वियों के ठहरने के लिए उपाश्रय तथा अन्य सुविधाएँ उपलब्ध थीं । यहीं पर महतरा विजयवती के संरक्षण में कई साध्वियाँ तप, जप आदि साधनों से आत्मोन्नति में लीन थीं ।

इस साध्वी संघ में विगतभया नाम की साध्वी तप, ध्यान आदि में अग्रणी थी । उसने धार्मिक विधि से अनशन कर सल्लेखनापूर्वक मृत्यु को वरण किया । इस साध्वी के अपूर्व देहत्याग के समय कौशाम्बी के चतुर्विध संघ ने महोत्सव का आयोजन किया था । इस घटना से विश्वसनीय तौर पर हम कह सकते हैं कि साध्वी संघ आस-पास के नगरों व ग्रामों में पैदल विहार करके जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार करता था + साध्वी धारिणी के वर्णन से भी यह पुष्टि होती है कि उन्होंने कौशाम्बी जाकर इसी साध्वी संघ में दीक्षा ग्रहण की थी^२ ।

धारिणी^३ :

तीर्थंकर महावीर के अनन्य उपासक उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत की मृत्यु के पश्चात् राजा पालक शासक बना । श्रमणोपासक राजा पालक के दो पुत्र थे—अवन्तिवर्धन तथा राज्यवर्धन (राष्ट्रवर्धन) । एक समय लघुभ्राता राज्यवर्धन की पत्नी पर मोहित होकर, अवन्तिवर्धन ने अपने छोटे भाई की हत्या कर दी । बाद में उसने रानी धारिणी को अपनी रानी बनाने का सन्देश प्रेषित किया । अपने सतीत्व की रक्षा हेतु धारिणी

१. आवश्यकनियुक्ति १२८१, आवश्यकवृत्ति (हरिभद्र) पृ० ६९९

२. (क) आवश्यक चूर्णि—भाग, २, पृ० १९१

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २, पृ० ७६०

३. आवश्यकनियुक्ति १२८२, आवश्यकचूर्णि, द्वि० पृ० १८९, उत्तराध्ययनवृत्ति (कमलसंघम) पृ० ७३

चुपके से राज्य त्याग कर कौशाम्बी राज्य में चली गई और वहाँ साध्वी समुदाय में दीक्षित होकर उनके साथ रहने लगी^१ ।

धारिणी अपने एक पुत्र को उज्जयिनी छोड़ आई थी तथा वह दीक्षित हुई तब गर्भवती थी। यद्यपि गर्भावस्था में दीक्षित होना दोषपूर्ण था किन्तु उसने शील रक्षा को सर्वोपरि मानते हुए इसे रहस्य ही रहने दिया। गर्भाधि पूर्ण होने पर धारिणी ने एक पुत्र को जन्म दिया, इस अवसर पर नगर के श्राविका संघ ने पर्याप्त सहयोग किया। साध्वी संघ के नियमों के अनुसार शिशु को अपने पास में रखना सम्भव नहीं था। अतः उसने कठोर हृदय करके पुत्र को जंगल में छोड़ दिया। कुछ समय पश्चात् उसी रास्ते से कौशाम्बी के राजा अजयसेन लौट रहे थे, उन्होंने इस नवजात शिशु को देखकर उठा लिया और ले जाकर रानी को दिया। निःसंतान रानी शिशु को पाकर अत्यन्त हर्षित हुई और शिशु का पुत्रवत् पालन करने लगीं। कालांतर में उसका नाम मणिप्रभ रखा गया।

समयावधि के साथ दोनों पुत्र वयस्क हुए और अलग-अलग राज्य के अधिकारी बन गये। एक समय साध्वी धारिणी ने सुना कि कौशाम्बी के राजा मणिप्रभ तथा अवन्ति के राजा अवन्तिसेन की सेनाएँ युद्ध स्थल पर तैयार खड़ी हैं। युद्ध में रक्तपात रोकने के लिए साध्वी धारिणी युद्धस्थल पर गईं^२। वहाँ दोनों राजाओं को समझाते हुए कहा—“तुम दोनों मेरे पुत्र तथा सहोदर हो, यह हिंसात्मक युद्ध तुम्हारे मध्य उचित नहीं है। साध्वीजी ने अपने भूतकाल की घटना दोनों पुत्रों को सुनायी। दोनों राजकुमार अपनी माता के जीवन की हृदयविदारक घटना सुनकर, उनके त्यागमय जीवन से प्रभावित हुए। उन्होंने माता को प्रणाम किया और भ्रातृभाव से रहने लगे^३।

धारिणी—मूल्यांकन : धारिणी अपने सतीत्व की रक्षा हेतु जैन साध्वी संघ में सम्मिलित हुईं। प्रमुख साध्वी ने भी एक विवश नारी को आश्रय देकर दया-करुणा का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया। श्राविका संघ ने भी

१. (क) आवश्यकचूर्णि—भाग २, पृ० १८९-१९०

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २, पृ० ७८७

२. उपा० विनयविजयजी—कल्पसूत्र सुबोधिनी

३. (क) प्राकृत प्रापर नेम्स—पृ० २७

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २, पृ० ७९०

कठिन समय में पूर्ण सहयोग दिया तथा साध्वी संघ ने धारिणी को पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया। यह उदाहरण साध्वी समुदाय के उदार मनोभावों का प्रकटन है। साध्वी धारिणी ने युद्ध की भयावह हिंसा को रोककर अहिंसा के महत्त्व को स्थापित किया।

श्रावक मनक की माता (श्राविका)^१

तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् भी आर्या चन्दनबाला की साध्वी परम्परा में वृद्धि होती रही। गुरु प्रभव स्वामी के द्रव्य यज्ञ और भाव यज्ञ की तात्त्विक विवेचना सुनकर शय्यंभव बहुत प्रभावित हुए तथा उनमें वैराग्य भाव जागृत हुआ^२। शुभ कार्य में शिथिलता उचित नहीं, ऐसा सोचकर उन्होंने अपनी गर्भवती पत्नी को त्याग कर दीक्षा ग्रहण की। कालांतर में इन्होंने आचार्य पद ग्रहण किया।

कुछ समय पश्चात् उनकी पत्नी (श्राविका) ने पुत्र को जन्म दिया। पुत्र मनक को भी कम उम्र में दीक्षित होने की भावना जागृत हुई। पुत्र के मनोभावों को ध्यान में रखते हुए माता ने अपनी भावनाओं को रोककर उसे दीक्षा की स्वीकृति दे दी। ज्योतिषशास्त्र के माध्यम से पुत्र मनक की अल्प आयु को जानकर शय्यंभव ने उसके आत्मोत्थान के लिये 'दशवैकालिक सूत्र' की रचना की।^३ आचार्य ने पुत्र की आत्मोन्नति हेतु धर्म सिद्धान्तों का संक्षिप्तीकरण कर उसके वास्तविक मर्म से अवगत कराया। अल्प आयु में ही पुत्र-वियोग के आघात को धैर्यपूर्वक सहन करते हुए मनक की माता ने भी अपने जीवन को धर्म-ध्यान की ओर मोड़ दिया।

मनक की माता का मूल्यांकन—सगर्भा होते हुए भी पति को संसार-त्याग की आज्ञा प्रदान कर स्वयं जीवन की कठिनाइयों का सामना किया तथा हृदय की पीड़ा को दबाकर अपने पुत्र के दीक्षा समारोह पर प्रसन्नता भी व्यक्त की। इस प्रकार अपने कृत्य से धार्मिक जीवन को प्रशस्त करने वाली इस महिला ने एक आदर्श उपस्थित किया।

१. दशवैकालिकचूर्णि, पृ० ६-७, दशवैकालिकनिर्युक्ति पृ० १०, महानिशीथ पृ० ११६, दशवैकालिकवृत्ति (हरिभद्र) पृ० २४८, आवश्यक पृ० २७
२. प्रभव स्वामी ने द्रव्य यज्ञ (वस्तुओं को अग्नि में समर्पण करना) तथा भाव यज्ञ का बहुत मार्मिक विवेचन किया, जिसकी सच्चाई से प्रभावित होकर वैदिक धर्म त्याग कर जैन धर्म अपनाया।
३. (क) सुशीलमुनि—जैनधर्म का इतिहास—पृ० १२९
(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० ८१, ३१६.

यक्षा :

जैन परम्परा में महासती चन्दनबाला के पश्चात् यक्षा, यक्षदत्ता आदि सात परम प्रभावक साध्वियों का वर्णन उपलब्ध होता है। भारतीय ऐतिहासिक सर्वेक्षण से इतना स्पष्ट है कि नन्द वंश के राजाओं ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। पाटलिपुत्र के नन्दराजा महापद्म के महामंत्री शकडाल श्रमणोपासक थे। उनके दो पुत्र—स्थूलभद्र व श्रेयांक तथा अद्भुत स्मरणशक्ति वाली यक्षा, यक्षदत्ता, भूता, भूतदत्ता, सेना, वेना और रेणा नाम की सात पुत्रियाँ थीं^२। मंत्री शकडाल तथा उनकी पत्नी लांछन देवी जैन धर्मानुयायी थे, अतः बाल्यकाल से ही अपने पुत्र-पुत्रियों को धार्मिक संस्कारों की उचित शिक्षा प्रदान किए। प्रथम पुत्री यक्षा कठिन से कठिन गद्य अथवा पद्य को केवल एक बार सुन कर उसे अपने स्मृतिपटल पर अंकित कर तत्क्षण यथावत् सुना देती थी। इसी प्रकार क्रमानुसार अन्य बहनें भी दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात बार किसी भी गद्य अथवा पद्य को सुनकर यथावत् सुना देती थीं^३।

राजा नन्द के दरबार में वररुचि नामक कवि को प्रतिदिन एक श्लोक सुनाने के बदले में एक सौ स्वर्ण मुहरें प्राप्त होती थीं। स्वामिभक्त मंत्री शकडाल को राज्य के धन का इस प्रकार अपव्यय उचित नहीं लगा। एक समय राजदरबार में मंत्रिपुत्रियों ने वररुचि के बनाये हुए श्लोकों को सुना और तत्क्षण दोहरा दिया। सातों विदुषी कन्याओं द्वारा श्लोकों की पुनरावृत्ति सुनकर राजा नन्द उनकी स्मरण शक्ति तथा विद्वत्ता से प्रभावित हुआ। इस घटना से वररुचि अपमानित होकर मंत्री शकडाल

१. आवश्यकचूर्णि द्वि० पृ० १८३, आवश्यकनियुक्ति १२७९, आवश्यकवृत्ति (हरिभद्रीय) पृ० ६९३-९४, उत्तराध्ययननियुक्ति और उत्त० सूत्र पृ० १०५, कल्पसूत्रवृत्ति पृ० २५२ आदि।
२. (क) आवश्यक चूर्णि-भाग २, पृ० १८३
(ख) प्राकृत प्रापर नेम्स, पृ० ७४७
(ग) एणक आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३४-३५
(घ) आ० विनयविजयसूरि-कल्पसूत्र, पृ० १३२
३. आ० हस्तीमलजी-जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ७७८

से बदला लेने का षड्यंत्र रचने लगा। मंत्री शकडाल को जब इस घृणित षड्यंत्र का पता चला तो राज्य तथा कुटुम्ब को बचाने का निर्णय किया। इस हेतु उसने अपने छोटे पुत्र को राज्य दरबार में स्वयं का वध करने का आदेश दिया। श्रेयांक ने पिता की आज्ञानुसार राजदरबार में ही पिता का वध कर दिया। पिता के त्याग और बलिदान से पुत्रियों को गहरा आघात लगा और जीवन की क्षणभंगुरता को देखते हुए उन्होंने संसार त्यागने का दृढ़ संकल्प किया^१।

मंत्री शकडाल की मृत्यु के पश्चात् नंद शासन की परम्परानुसार राजा ने ज्येष्ठ पुत्र स्थूलभद्र को इस उत्तरदायित्वपूर्ण पद को ग्रहण करने का आग्रह किया^२। राजभक्त पिता के बलिदान तथा स्वयं के विलासपूर्ण जीवन की तुलना करते हुए प्रतिभा-सम्पन्न स्थूलभद्र ने जीवन के उच्च धरातल अर्थात् निवृत्तिमार्ग का अनुसरण किया और बाद में आचार्य संभूतिविजय के पास प्रव्रज्या ग्रहण की^३।

यक्षा, यक्षदत्ता आदि स्थूलभद्र की सातों बहनों ने भी आचार्य संभूतिविजय के पास दीक्षा ग्रहण की तथा महावीर द्वारा स्थापित साध्वी संघ में सम्मिलित होकर निवृत्तिमार्ग में प्रवृत्त हुईं। एक बार साध्वी यक्षा ने अपने भाई श्रेयांक को पर्युषण पर्व में शारीरिक तप का महत्त्व समझाते हुए तपस्या करने को कहा।^४ श्रेयांक क्षुधा-पीड़ा को सहन नहीं कर सके और भूख की व्याकुलता से उसका देहान्त हो गया^५।

साध्वी यक्षा को इस अप्रत्याशित घटना से बहुत दुःख हुआ और ऋषिघातक अपराध का प्रायश्चित्त लेने हेतु संघ के पास गईं। यद्यपि संघ के चारों वर्गों ने (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) शुद्ध भाव से प्रेरणा देने के कारण प्रायश्चित्त लेने की आवश्यकता को मान्य नहीं किया, फिर भी

१. आ० विनयविजयसूरि—कल्पसूत्र, पृ० १३२
२. रतिभानुसिंह नाहर—प्राचीन भारत का राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २२३
३. आवश्यकचूर्णि—भाग २, पृ० १८३
आ० विनयविजयसूरि—कल्पसूत्र, पृ० १३२
४. प्रश्नोत्तर रत्न चिन्तामणि तथा अठारह दूषण निवारण, पृ० २
५. वही।

यक्षा साध्वी ने श्री सीमंधर स्वामी से इसके (प्रायश्चित्त) स्पष्टीकरण का आग्रह किया^१।

यक्षा साध्वी ने तीन दिन तक अन्न-जल का त्याग कर शासनदेवी की आराधना की तथा उनकी सहायता से सीमंधर स्वामी के पास गई। उन्होंने प्रायश्चित्त स्वरूप चार चूलिकाएँ सुनाईं जिसे यक्षा ने कंठस्थ कर लिया^२। स्वामीजी की उन पंक्तियों को उसने अपने समक्ष यथावत् दोहरा दिया। संघ ने आचारंग सूत्र तथा दशवैकालिक सूत्र में इन्हें संकलित किया। आज भी 'भावना' तथा 'विमुक्ति' को आचारंग सूत्र में तथा 'रतिकल्प' व 'विचित्रचर्या' को दशवैकालिक सूत्र की चूलिकाओं के रूप में सम्मिलित किया गया है^३।

कोशा^४ :

मगध की राजधानी पाटलीपुत्र में राजगणिका कोशा रूप, लावण्य व चातुर्य में प्रसिद्ध थी। वह तत्कालीन राजपुत्रों तथा श्रेष्ठ पुत्रों के आकर्षण का केन्द्र थी। युवकगण उसका सान्निध्य प्राप्त करने के लिये सदैव लालायित रहा करते थे^५। कोशा गणिका के रूप-लावण्य से आकर्षित होकर स्थूलभद्र (मंत्री शकडाल के ज्येष्ठ पुत्र) बारह वर्ष तक उसी के आवास पर रहे^६। स्थूलभद्र रूपसी युवती कोशा के सान्निध्य में रहकर अपने कर्तव्य से विमुख हो गये थे। कोशा भी ऐसे प्रतिभाशाली मंत्री-पुत्र को पाकर धन्य हो उठी। वह उनके वियोग की कल्पना भी नहीं कर सकती थी।

१. (क) आ० हस्तीमलजी मेवाड़ी-आगम के अनमोल रत्न, पृ० ३८७
- (ख) आ० हस्तीमलजी-जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ३१६
२. जैन विश्वास के अनुसार महाविदेह क्षेत्र में केवलज्ञान प्राप्त आचार्य विचरण करते हैं।
३. मुनि सुशीलकुमार-जैन धर्म का इतिहास, पृ० १२८
४. आवश्यकचूर्णि प्र० पृ० ५५४, तीर्थोद्गालिक ७७७, कल्पसूत्रवृत्ति पृ० २५२, उत्तराध्ययनवृत्ति (शान्तिसूरि) पृ० १०६, कल्पसूत्रवृत्ति (धर्मसागर) पृ० १६३, भक्तपरिज्ञा १२८, आवश्यकचूर्णि दि०, पृ० १८५
५. आ० हस्तीमलजी मेवाड़ी-आगम के अनमोलरत्न
६. (क) नन्दीसूत्र, २४
- (ख) कल्पसूत्र-स्थविरावली, ६-जैन आत्मानंद सभा, भावनगर ।

एक समय नन्द राजा का राजप्रहरी स्थूलभद्र को मंत्री पद स्वीकार करने का निमंत्रण लेकर कोशा के द्वार पर आया। स्थूलभद्र दरबार में गये किन्तु राजमंत्री का पद अस्वीकार करते हुए दीक्षित हो गये। राजगणिका कोशा को जब यह घटना विदित हुई तो वह अत्यन्त दुःखी हो गई। उसे स्थूलभद्र के साथ जीवन के राग-रंग व आमोद-प्रमोद पूर्वक बिताये गये बारह वर्ष प्रति क्षण उद्वेलित करने लगे। वह अतीत की याद में अपना शून्य-सा जीवन व्यतीत करने लगे।

वर्षाऋतु के आगमन के पूर्व प्रकृति ने अपनी सुषमा चारों ओर बिखेर दी थी। उसी समय गणिका कोशा के प्रासाद की ओर एक मुनि आते हुए दिखाई दिये। कुछ समय बाद कोशा की दासी ने आकर उसे संदेश दिया कि एक मुनि आपके प्रासाद में चातुर्मास करने की स्वीकृति चाहते हैं। कोशा महल से नीचे आई और मुनि को देखकर स्तब्ध रह गई। उसने बारह वर्ष तक साथ रह चुके यौवन साथी स्थूलभद्र को पहचान कर हर्ष तथा ग्लानि के मिश्रित भाव से नमन करते हुए अति सुन्दर भवन (चित्रशाला) में ठहरने की अनुमति दी। काम पर पूर्ण विजय हासिल करने के उद्देश्य से स्थूलभद्र ने स्वयं ही पूर्व में रह चुकी प्रेमिका (गणिका कोशा) की चित्रशाला में षड्रस भोजन के मध्य रहकर चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा अपने गुरु से प्राप्त की थी।

कोशा ने अपने यौवन साथी को लुभाने के लिये षड्रस भोजनों का आहार तथा अपने रूप, लावण्य एवं चातुर्य का कई प्रकार से प्रयोग किया परन्तु काम विजेता स्थूलभद्र पर उसका कोई असर नहीं हुआ। जब-जब कोशा ने स्थूलभद्र को साधना-पथ से विचलित करने का प्रयास किया, तब-तब उनके ध्यान की एकाग्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। अन्ततोगत्वा चातुर्मास व्यतीत होते-होते कोशा ने अपनी हार स्वीकार कर ली तथा पश्चात्ताप भरे स्वर में कहने लगी, “क्षमासागर महामुनि ! मेरे सभी अपराध क्षमा कर दीजिये। असाध्य को साध्य करने वाले योगिराज आपको मेरा कोटिशः प्रणाम”।

मुनि स्थूलभद्र के उपदेश से कोशा ने श्राविका धर्म अंगीकार किया और वह पूर्ण विशुद्ध मनोभावों के साथ उनको जीवन में चरितार्थ करने लगी। चातुर्मास की समाप्ति पर सिंहगुफा, दुष्टिविष-विषधर-वल्मीक और कूपमाण्डक पर चातुर्मास करने वाले तीनों मुनियों के आने पर आचार्य सम्भूतिविजय ने कहा—“दुष्कर साधना करने वाले तपस्वियों ! तुम्हारा

स्वागत है ।” चौथे शिष्य स्थूलभद्र को आते हुए देख कर आचार्य ने स्वागत करते हुए कहा, “दुष्कर से भी अतिदुष्कर कार्य को करने वाले साधकशिरोमणि ! तुम्हारा स्वागत है ।”^१

तिहगुफा के द्वार पर साधना करने वाले साधु ने अगले चातुर्मास पर कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास व्यतीत करने की आज्ञा गुरु से माँगी । चित्रशाला के वातावरण तथा कोशा के रूप-रंग से आकर्षित होकर मुनि विचलित हो उठे और कोशा के संग से सांसारिक मुख भोगने का आग्रह करने लगे । इस पर श्राविका कोशा ने उन्हें चारित्र में स्थिर करने के लिये नेपाल से रत्नकंबल प्राप्त करने को कहा । विषयान्ध मुनि अपने मुनि चारित्र तथा मुनि धर्म को त्याग कर नेपाल की ओर रत्न कंबल लेने चल पड़ा । रत्नकंबल की प्राप्ति से आनंदित होकर मुनि पुनः कोशा के आवास में आया लेकिन धर्म में दृढ़ कोशा ने उस कंबल के टुकड़े कर, पैर पोंछकर नाली में फेंक दिया ।^२

अथक परिश्रम से प्राप्त रत्नकंबल की यह दुर्दशा देख कर मुनि खिन्न एवं आश्चर्यपूर्ण स्वर में बोला, “मीनाक्षी ! इतने कठिन परिश्रमों से प्राप्त इस अमूल्य रत्नकंबल को तुमने अशुचिपूर्ण कीचड़ में फेंक दिया, तुम बड़ी मूर्खा हो ।”

कोशा ने तत्क्षण उत्तर दिया—“तपस्विन्, आप अपने अमूल्य चारित्र-रत्न को अशुचिपूर्ण गहन गर्त में गिरा रहे हैं ।” इस बोध से मुनि पुनः चारित्र पर दृढ़ हुए और कोशा का उपकार मान कर गुरु के पास जाकर प्रायश्चित्त ग्रहण किये ।

यूनानी यात्रा वर्णन-श्रमणियों का उल्लेख :

भारत पर यूनानी नरेश सिकन्दर का आक्रमण ई० पू० ३२७ में हुआ था । यूनानियों के यात्रा वर्णन में श्रमण तथा श्रमणियों का उल्लेख प्राप्त होता है ।^३

“जब सिकन्दर के सेनापति पुनः लौट कर तक्षशिला के पास से जा रहे थे, तब यूनानी प्रत्यक्षदर्शियों ने पाया कि पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी

१. आ० हस्तीमलजो—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—पृ० ३९९

२. वही पृ० ४०२

३. मैक्रण्डल ई० एन० टी० श० रीड-ऐंशियेण्ट इण्डिया—पृ० ६८

दर्शन शास्त्र का अध्ययन कर रही थीं तथा अपनी परम्परानुसार अत्यन्त संयमी जीवन व्यतीत कर रही थीं। इसके अतिरिक्त दह भी उल्लेख प्राप्त होता है—

“ब्राह्मण अपनी पत्नियों को अपने दर्शन के रहस्यों से परिचित नहीं कराते थे। उन्हें भय था कि वे या तो उनके धार्मिक रहस्यों को दूसरों के समक्ष कह देंगी अथवा स्वयं ज्ञानी बन कर पति को छोड़ कर चली जायेंगी।”^१

उपर्युक्त यात्रा विवरण से विदित होता है कि उस समय भारत में कोई ऐसी परम्परा अवश्य थी जिसमें नारियों को पुरुषों के समान धर्म-दर्शन आदि का अध्ययन करने की पूरी स्वतंत्रता थी।

मौर्य वंश के पूर्व पाटलीपुत्र (मगध) में नन्द राजाओं ने जैन धर्म को राज्याश्रय दिया था। मौर्य वंश के प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त ने नन्द को पराजित कर पाटलीपुत्र पर अपना राज्य स्थापित किया। उसके राज्य में भी जैन धर्म को पूर्ण राज्याश्रय प्राप्त था।

सुप्रभा :

पराजित राजा नन्द अपनी पुत्री सुप्रभा को रथ में साथ लेकर राजधानी से दूर जा रहा था। रथ में बैठी हुई सुप्रभा की दृष्टि वीर चन्द्रगुप्त के ऊपर पड़ी। पुत्री के आकर्षण एवं विषम परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए राजा नन्द ने सुप्रभा का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया। सुप्रभा भी श्रमणोपासिका थी। पिता के समान वह भी आचार्यों तथा साधुओं को आदर की दृष्टि से देखती थी। ई० पू० ३१७ में पाटलीपुत्र में चन्द्रगुप्त के सम्राट घोषित किए जाने पर उसकी रानी सुप्रभा को अग्रमहिषी का उच्च स्थान दिया गया।^२ यह उसके विशिष्ट गुणों का ही परिणाम था कि शत्रु राजा की पुत्री होते हुए भी उसे अग्रमहिषी होने का गौरव मिला।

उस समय उत्तरी भारत में भिन्न-भिन्न संप्रदायों के संन्यासी तथा परिव्राजक आत्म साधना में लीन रहा करते थे। मौर्य वंश के राजाओं

१. डॉ० मुकर्जी—चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल—पृ० २५०

२. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० ४०

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैनधर्म का मौलिक इतिहास—भाग २, पृ० ४३३

ने तत्कालीन राजकीय परिस्थिति को देखकर राज्य की ओर से यह नियम बनाया कि कोई भी व्यक्ति संन्यास तभी ले सकता है जब कि उसे राज्य के किसी विशेष अधिकारी की अनुमति प्राप्त हो। साथ ही यह भी आवश्यक था कि गृहस्थ जीवन त्यागने से पूर्व अपने पुत्र एवं पत्नी के भरण-पोषण की उचित व्यवस्था करे। इस नियम के सख्तो से परिपालन हेतु ग्रामवासियों को आदेश दिया गया था कि अप्रमाणित संन्यासी को कोई भी अपने यहाँ शरण न दे। उन्हें भय था कि ऐसा करने से राज्य की समाजार्थिक स्थिति संकटापन्न हो सकती है।^१

कालांतर में बौद्ध धर्मानुयायी सम्राट् अशोक चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिण की ओर प्रस्थान करने पर, पाटलीपुत्र तथा उज्जयिनी का शासक बना।

असन्ध्यमित्रा^२ :

सम्राट् अशोक ने विदिशा के जैन श्रेष्ठि को रूपवती कन्या असन्ध्य-मित्रा मे विवाह किया था, जिससे कुणाल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। कुणाल का मातृ धर्म तो जैन ही था अतः वह भी उससे अप्रभावित न रह सका। जन्मान्ध कुणाल की माता एवं पत्नी दोनों ही परम जिन भक्त थीं, उनके सान्निध्य से कुणाल भी एक उत्तम जैन श्रावक बना। इसकी पुष्टि आचार्य हेमचन्द्र के कथानकों से होती है।^३

जिस प्रकार मौर्यवंशीय सम्राट् अशोक ने अपने शासनकाल (ई० पू० २७३) में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार भारत तथा अन्य सुदूर देशों में किया। उसी प्रकार राजा सम्प्रति (अशोक का पौत्र) ने अपने शासनकाल (ई० पू० २३०-१९०) में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। कथानुसार एक बार आचार्य सुहस्ति को देखकर राजा सम्प्रति को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हुआ और उससे प्रभावित होकर वह आचार्य का

१. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी-चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल-पृ० २४३ (हिन्दी मुनीश सक्सेना)
२. चन्द्रगुप्त, अशोक, कुणाल एवं सम्प्रति का आगमिक उल्लेख तो है लेकिन असन्ध्यमित्रा (अशोक की पत्नी) का उल्लेख नहीं हुआ है। सम्प्रति-प्राकृत प्रापर नेम्स पृ० ७४१ तथा कुणाल-पृ० १८८
३. डा० ज्योतिप्रसाद जैन-प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ-४८-४९।

शिष्य बना। कालान्तर में उसने जैन धर्म के प्रचार व प्रसार के लिये विविध क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। सम्प्रति बड़ा दयालु और भद्र प्रकृति का राजा था। उसने निर्धन लोगों की भलाई के लिए सात सौ दानशालाएँ खोलीं तथा दीन दुःखी निराधार लोगों के लिए राज्यकोष भी अर्पित कर दिया।^१ सम्प्रति ने जैन धर्म के स्तूप, मन्दिर तथा जिनालय आदि निर्माण कराये, लाखों जिन प्रतिमाओं के नये बिम्ब भरवाये तथा पुराने जिनालयों / मन्दिरों का जिर्णोद्धार करवाया।^२ सम्प्रति भारतवर्ष का एक प्रतापी सम्राट् था। उसने अपने सम्पूर्ण राज्य में जैनधर्म को राज्य धर्म के रूप में स्थापित किया। बृहत्कल्पसूत्र के भाष्य में लिखा है कि सम्प्रति ने अपने कर्मचारियों को साधु वेश में आन्ध्र आदि सुदूर प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचार के लिये भेजे थे, ताकि साधु-साध्वियों को भोजन तथा ठहरने की उचित व्यवस्था रहे। उसने मिस्र, अरब, ईरान, यूनान, चीन, जापान आदि देशों तक जैन धर्म का प्रचार किया था।^३

रानी उर्विला :

प्राचीन काल में मथुरा नगरी के राजा पूतिमुख की रानी उर्विला थी। किसी समय एक प्राचीन स्तूप को लेकर राजा की पत्नियों में आपसी संघर्ष होने लगा। राजा को दूसरी पत्नी बौद्धधर्मानुयायी थी, उसने स्तूप पर अपना कब्जा जमा लिया। रानी उर्विला ने दूर-दूर से जैन विद्वानों को बुलाकर शास्त्रार्थ करवाया और अथक छानबीन के बाद यह सिद्ध किया कि यह स्तूप जैनों का ही है। इस शुभ अवसर पर धार्मिक उत्सव मनाये जाने के पश्चात् रानी ने अन्न-जल ग्रहण किया।^४

१. गुप्त साम्राज्य का इतिहास—पृ० १०

२. रथयात्रा-राजा सम्प्रति के समय की रथयात्रा का वर्णन वसुदेवहिण्डी तथा आवश्यकचूर्ण में प्राप्त होता है।

३. (क) बृहत्कल्पभाष्य—१, ५०, गा० ३२७५ से ३२८९

(ख) कल्पसूत्र—पृ० १३२-१३३

(ग) जैन धर्म का इतिहास—पृ० १३६

४. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० ५९

पूर्णमित्रा :

कालिंग के राजा खारवेल की अग्रमहिषी पूर्णमित्रा राजा ललाक हत्थि-सिंह की पुत्री थीं। राजा खारवेल ने हाथी गुम्फा नाम के एक विशाल एवं प्राचीन कृत्रिम गुफा में मन्दिर के मुख एवं छत्र पर ब्राह्मी लिपि में लेख खुदवाये थे। उन्होंने उदयगिरि के कुमारी पर्वत पर भी एक गुफा का निर्माण करवाया था। रानी पूर्णमित्रा जैन धर्म एवं सिद्धान्तों पर अटूट श्रद्धा रखते हुए जैन साधु-साध्वियों का विशेष आदर करती थीं।

हिमवन्त स्थविरावली में अंग शास्त्रों के उद्धार के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख के साथ-साथ यह भी बताया गया है कि कुमारगिरि पर खारवेल द्वारा आयोजित इस चतुर्विध संघ के सम्मेलन में किन-किन श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं ने भाग लिया। आर्य बलिस्सह, आर्य सुस्थित आदि के साथ आर्या पोङ्गी आदि ३०० श्रमणियों तथा पूर्णमित्रा आदि ७०० श्राविकाओं ने इस सम्मेलन में भाग लिया^१। भिक्खुराय खारवेल की प्रार्थना पर उन स्थविर श्रमणों एवं श्रमणियों ने अवशिष्ट जिन प्रवचन को सर्वसम्मत स्वरूप में भोजपत्र, ताड़पत्र तथा बल्कल आदि पर लिखा और इस प्रकार वे सुधर्मा द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी के रक्षक बने^२। अतः जैन धर्म के इतिहास के लिए यह शिलालेख (जिसमें इस सम्मेलन का विवरण है) अत्यन्त मूल्यवान है। भद्रबाहु श्रुतकेवली के उपरान्त मौखिक द्वार से प्रवाहित चले आये आगमश्रुत को पुस्तकारूढ़ करने तथा पुस्तक साहित्य का प्रणयन करने के लिए चलाये गये सरस्वती आन्दोलन का प्रारम्भ इत्यादि तथ्यों का इस लेख से समर्थन होता है^३। इसमें अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस सम्मेलन में साध्वियाँ तथा श्राविकाएँ भी उपस्थित थीं। अंग साहित्य की सेवा करने

१. हिमवन्त स्थविरावली से उद्धृत (अप्रकाशित) आचार्य हस्तीमलजी महाराज द्वारा उद्धृत।
२. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० ४८४
(ख) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ३०७
३. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० ५६

का उन्हें भी समान अवसर प्राप्त हुआ। इससे यह प्रमाणित होता है कि उस काल की साध्वियाँ तथा श्राविकाएँ ज्ञान-गर्भित थीं एवं साहित्य सेवा में उनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान था।

रानी गुफा उदयगिरि व खेडगिरि नामक पर्वतों पर बनवाई गई थी। इस पर खुदे लेख में यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि तीर्थंकर जिनेश्वर की मूर्ति को अपने देश लौटा लाया था जिसे पहले नन्दराजा अपहरण करके पाटली-पुत्र ले गया था^१। इसका एक प्रमाण मन्छापुत्री गुफा में भी दिखाई देता है जहाँ कर्लिग राजा तथा रानी दोनों ने जिन प्रतिमा की पूजा की थी^२।

दक्षिण के तमिल प्रान्त में चोल व पांड्य नरेशों ने जैन धर्म को आश्रय दिया था। यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि खारवेल के राज्याभिषेक के अवसर पर पांड्य नरेश ने कई जहाजों में उपहार भरकर भेजे थे। क्योंकि दोनों राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। “नालिदियर” तामिल ग्रन्थ की रचना के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उत्तर भारत के आठ हजार साधु पुनः उत्तर भारत लौटना चाहते थे परन्तु पांड्य नरेश उन्हें वहीं बसाना चाहते थे। रात्रि को लौटते समय प्रत्येक साधु ने एक-एक ताड़-पत्र पर एक-एक पद लिखकर रख दिया। इन्हीं को एकत्रित कर ‘नालि-दियर’ ग्रन्थ का संकलन हुआ।

आर्या पोइणी

आर्या पोइणी का उल्लेख कर्लिग नरेश खारवेल के समय में प्राप्त होता है। भगवान् महावीर-निर्वाण की चतुर्थ शताब्दी के प्रथम चरण में राजा खारवेल ने आगम साहित्य को सुरक्षित व सुव्यवस्थित करने के लिये एक परिषद् का आयोजन किया^३ जिसमें आचार्य सुस्थित^४ की परम्परा के ५०० श्रमण सम्मिलित हुए थे। उस समय आर्या पोइणी के

१. डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ३०७

२. के० पी० पाणीग्रही—आक्योलोजिकल रोमेन्स—उद्धृत एन० के० साहु,
पृ० ३५९-३६८

३. खण्डगिरि में प्राप्त शिलालेख से उद्धृत।

आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २, पृ० ७८२

४. साधुओं के प्रमुख को आचार्य नाम से संबोधित करते हैं।

नेतृत्व में तीन सौ जैन साध्वियाँ भी इस परिषद् में सम्मिलित हुई थी^१। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक तीर्थंकर महावीर के चतुर्विध संघ का अस्तित्व था, तथा धर्म की डाँवाडोल स्थिति को पुनः स्थापित करने में सक्रिय कार्य कर रहा था। तीर्थंकर महावीर के पश्चात् भी जैन धार्मिक इतिहास में साध्वियों का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

यद्यपि आर्या पोइणी के कुल, वय, शिक्षा, दीक्षा एवं साधना संबंधी विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी उपलब्ध कथानकों के आधार पर साध्वी यक्षा के पश्चात् आर्या पोइणी का साध्वी संघ में प्रमुख स्थान था। इसे मान लेने में किसी को एतराज नहीं होना चाहिए। वे एक बहुश्रुता, संघ-संचालन में कुशल एवं आचारवान् साध्वी थीं। साध्वी संघ में आर्या पोइणी के ज्ञान गरिमा का विशेष आदर एवं महत्त्वपूर्ण स्थान था^२।

प्राकृत पोइणी शब्द का संस्कृत रूपान्तर पोतिनी जिसका हिन्दी अर्थ जहाज होता है, यह आर्या भव्य जन को भवसागर से पार लगाने वाली धर्म जहाज थी। वीर निर्वाण की चौथी शती में भारत के विभिन्न प्रान्तों में श्रमणों की तरह श्रमणियाँ भी साहस व विश्वास के साथ पैदल विहार (एक जगह से दूसरे स्थान पर जाना) करती हुई जनमानस में आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न करती थीं तथा धर्म-प्रचार के कार्यों में संघ को सहायता प्रदान करती थीं।

साध्वी सरस्वती^३ :

धारावास के राजा वज्रसिंह और उनकी रानी सुरसुन्दरी के पुत्र का नाम कालक तथा पुत्री का नाम सरस्वती था। राजकुमारी नाम के अनुरूप रूप और गुणों में भी सरस्वती के समान थी।^४ दोनों भाई-बहन परस्पर स्नेह के कारण साथ ही रहते थे।

१. हिमवन्त स्थविरावली (अप्रकाशित)

२. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २, पृ० ७८२

३. कल्पसूत्रवृत्ति पृ० १३१, निशीथचूर्णि तृ० पृ० ५९, व्यवहारसूत्रभाष्य, १२, पृ० ९४ आदि।

४. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास पृ० ५१०

१५० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिष्कार

एक समय कालककुमार अपनी बहिन सरस्वती के साथ नगर के बाहर उद्यान में गये, वहाँ एक जैन मुनि धर्मोपदेश दे रहे थे। दोनों ने श्रद्धा से आचार्य का उपदेश सुना और गहन विचार में खो गये। आत्मोन्नति हेतु दोनों ने संसार-त्याग का दृढ़ निश्चय कर माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर दीक्षा अंगीकार की^१।

एक समय द्वितीय कालकाचार्य विहार करते हुए उज्जयिनी की ओर आये। नगर के बाहर उद्यान में आचार्य कालक के दर्शनार्थ सरस्वती साध्वी अन्य साध्वियों के साथ आई। उस समय उज्जयिनी का तत्कालीन राजा गर्दभिल्ल वन विहार करके लौट रहा था।^२ उसकी दृष्टि साध्वी सरस्वती पर पड़ी तथा उनकी सुन्दरता देखकर वह मोहित हो गया। उसने अपने अनुचरों को भेजकर बलात् अपहरण करवाकर उन्हें अपने अन्तःपुर में पहुँचा दिया।^३ साध्वी सरस्वती को बन्दी बनाने के पश्चात् अनेक प्रकार की यातनाएँ, भय और प्रलोभन भी दिये गये। परन्तु साध्वी सरस्वती अपने ब्रह्मचर्य प्रण पर अटल रही।^४

तत्कालीन श्रावक संघ तथा अन्य प्रतिष्ठित नागरिकों ने राजा को बहुत समझाया परन्तु उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी। जब राजा को समझाने-बुझाने पर भी कुछ असर नहीं हुआ तो मुनि कालक (सरस्वती के भाई) साधु वेष त्यागकर युद्ध की तैयारी करने लगे।

कालकाचार्य (मुनि कालक) ने सिन्धु देश के शकशाहों (राजाओं) की मदद से उज्जयिनी पर चढ़ाई की तथा राजा गर्दभिल्ल को युद्ध में परास्त किया और अपनी बहन साध्वी सरस्वती को विमुक्त किया।

साध्वी सरस्वती ने प्रायश्चित्त करते हुए जीवन पर्यन्त कठोर तप किया तथा अन्त में समाधिपूर्वक देहत्याग किया। इस घटना से यह प्रमाणित होता है कि उत्तर भारत में मुनि तथा साध्वी संघ का अस्तित्व ई० स० पूर्व प्रथम शताब्दी में विद्यमान था। तत्कालीन सामाजिक परि-

१. (क) निशीथचूणि—भाग ३, पृ० ५९-६०

(ख) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ३४

२. डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—पृ० ३४

३. उपा० अमरमुनिजी—रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ—पृ० २०

४. वही पृ० २०

स्थितियों से आभास होता है कि प्राचीन काल में साध्वियों का जगह-जगह विहार करना तथा चारित्र्य पालन करते हुए धर्म का उपदेश देना बहुत महत्त्व रखता था। ई० स० पूर्व प्रथम शताब्दी तक जैन साध्वियाँ अविच्छिन्न रूप से महाव्रतों का पालन करती हुई आत्म कल्याण में अपना जीवन व्यतीत करती थीं।

जैन इतिहास में तीर्थंकर महावीर निर्वाण के पश्चात् यह पहला उदाहरण मिलता है जिसमें किसी राजा ने साध्वी को बलात् अपहृत कर राजमहल में बन्दी बनाया हो। इस घटना के पश्चात् भारतीय इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जिसमें किसी जैन साध्वी को राजा अथवा राज्यकर्मचारियों द्वारा अपमानित किया गया हो।

साध्वी-मुरूण्ड^१ :

कालकाचार्य ने शक राजाओं की सहायता से उज्जयिनी के गर्दभिल्ल राजा को हराया।^२ उसके पश्चात् वहाँ शक राजाओं ने कुछ वर्षों तक राज्य किया। शक राजाओं के पश्चात् उसके प्रमुख अधिकारी मुरूण्ड ने राज्य सत्ता पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया।^३

विशेषावश्यकभाष्य एवं निशीथचूर्णि के उल्लेखानुसार मुरूण्डराज (विदेशी शक शासक) के समक्ष उसकी विधवा बहन ने प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की। शक राजा की बहन श्रमण धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित थी। वह संसार त्याग कर निवृत्ति मार्ग अपनाना चाहती थी। मुरूण्डराज उस समय के प्रचलित कई धर्म सम्प्रदायों में सबसे श्रेष्ठ धार्मिक संगठन में अपनी सहोदरा को दीक्षित करना चाहता था।

एक समय मुरूण्डराज ने अपनी महल की खिड़की से देखा कि राजमार्ग पर कुछ कोलाहल हो रहा है। सेवकों से पूछने पर यह विदित हुआ कि एक कृशकाय जैन साध्वी ने अपना वस्त्र-पात्रादि पागल हाथी

१. बृहत्कल्पभाष्य ४१२३-२६, बृहत्कल्पवृत्ति (क्षेमकीर्ति) पृ० ११२३, निशीथभाष्य, ४२१५, आवश्यकचूर्णि द्वि०, पृ० २९१, आवश्यकवृत्ति (हारिभद्रीय), पृ० ४२४।

२. डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—पृ० १४६

३. (क) वाकाटक राजवंश और उसके अभिलेख—पृ० १९-२०

(ख) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २, पृ० ४५-५१

१५२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

के समक्ष डालकर अपने प्राणों की रक्षा की। साध्वी की इस निडरता से आस-पास के नागरिक बड़े प्रभावित हुए और जय-जयकार करते हुए जैन धर्म एवं सिद्धान्तों की प्रशंसा करने लगे। यह देखकर राजा अति प्रभावित हुआ और उसने अपनी बहन से कहा, 'सहोदरे, इस अगाध धैर्यशालिनी साध्वी के पास तुम प्रव्रजित हो सकती हो। क्योंकि इस साध्वी का धर्म श्रेष्ठ और सर्वज्ञ प्ररूपित है।'^१

सुनन्दा^२ :

उज्जयिनी नगरी के निकटस्थ तुम्बवन ग्राम के धनपाल श्रेष्ठ की पुत्री का नाम सुनन्दा था। उसके भाई का नाम सुमति तथा पति का नाम धेनगरि था।^३ उस समय के प्रभावशाली आचार्य सिंहगिरि के प्रभाव से भाई सुमति ने उनसे दोक्षा ग्रहण की तथा उन्हीं की आज्ञानुवर्तिनी स्थविरा साध्वी के पास सुनन्दा ने श्रमण धर्म के बारह व्रतों को ग्रहण किया था।^४ स्वयं गर्भवती होते हुए भी पति की संसार-विरक्ति को देखकर सुनन्दा ने उन्हें दीक्षित होने की सलाह दी। गर्भावधि पूर्ण होने पर सुनन्दा ने एक भाग्यशाली एवं तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। कालांतर में वह सुनन्दा-पुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शैशवावस्था में ही वज्र ने अपने कानों से पिता के दीक्षित होने की बात बार-बार सुनी थी।

विलक्षण बुद्धि तथा पूर्वभव के निवृत्तिमार्गी संस्कारों के कारण शिशु वज्र ने अत्यधिक रुदन करना शुरू कर दिया। माता सुनन्दा ने अनेक उपाय किये पर उसका रुदन कम नहीं हो सका।^५ एक बार मुनि धन-

१. आ० हस्तीमलजी-जैन धर्म का मौलिक इतिहास-भाग २, पृ० ४५०-४५१
२. आवश्यकवृत्ति प्र० पृ० ३९०, आवश्यकवृत्ति (हारिभद्रीय), पृ० २८९-९०, कल्पसूत्रवृत्ति (विनयविजय), पृ० २६२, उत्तराध्ययनवृत्ति (शान्तिसूरि) पृ० ३३३।
३. उपा० विनयविजयजी-कल्पसूत्र-पृ० १३७
४. (क) आ० हस्तीमलजी-जैन धर्म का मौलिक इतिहास-भाग २, पृ० ५६६, ५७२
(ख) आवश्यक मलयवृत्ति उपोद्घात-पृ० ३८७
(ग) उपा० अमरमुनि-पूर्व इतिवृत्त रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ-पृ० २१
५. (क) आ० हस्तीमलजी-जैन धर्म का मौलिक इतिहास-भाग २, पृ० ५६६-५७२
(ख) उपा० अमरमुनिजी-रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ-पृ० २१

गिरि (वज्र के पिता) भिक्षार्थ सुनन्दा के यहाँ पहुँचे, ज्योंही उन्होंने भिक्षा-पात्र आगे किया त्योंही सुनन्दा ने आवेश में आकर बालक को ही पात्र में डाल दिया और कहा, 'आप तो चले गये फिर इसे यहाँ क्यों छोड़ दिये। इसको भी साथ ले जाइए।' उपाश्रय में गुरु की आज्ञा से शय्यातरी श्राविकाओं ने बालक (वज्र) का पालन-पोषण किया। कुछ वयस्क होने पर वज्र भी श्राविकाओं के साथ साधु-साध्वियों के पास जाते रहते थे। श्रमणों के त्यागमय उपदेशों को सुनकर उनमें वैराग्य की भावना जागृत हुई और जाति-स्मरण ज्ञान भी उत्पन्न हुआ। बाद में आचार्य सिंहगिरि ने उन्हें मुनि दीक्षा प्रदान की।^१

कथानुसार जब बालक वज्र तीन साल का हुआ तब सुनन्दा श्राविका ने राजसभा के समक्ष पुत्र को अपने पास रखने की कोशिश की। इस हेतु पुत्र को कई प्रकार के भौतिक प्रलोभन भी दिए, किन्तु वज्र ने साधु धनगिरि का दिया हुआ रजोहरण ही लिया।

इस घटना से सुनन्दा को जीवन की यथार्थता का बोध हुआ तथा वह भी सांसारिक मोह-जाल को तोड़कर साध्वी संघ में दीक्षित हो गई। कालांतर में पति व पुत्र का अनुसरण करते हुए निवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त हुई।

रूक्मिणी^२ :

साध्वी परम्परा की शृंखला में इस महिमाययी महिला रूक्मिणी का त्याग अपने आप में सबसे निराला तथा अनूठा रहा है।

पाटलिपुत्र के धनकुबेर धनदेव की पुत्री अपने अद्भुत रूप, सौन्दर्य के लिये श्रेष्ठि वर्ग में चर्चा का विषय बनी हुई थी। किसी समय आर्य वज्र विहार करते हुए पाटलिपुत्र पधारे। दर्शनों के लिये जन समूह उमड़ पड़ा। धनदेव की इकलौती पुत्री रूक्मिणी भी अपनी सहेलियों के साथ उपवन में पहुँची। प्रवचन सुनते हुए आर्य वज्र के रूपादि गुणों पर मोहित होकर रूक्मिणी ने मन ही मन उन्हें अपने पति के रूप में वरण कर लिया। इस संकल्प को अपने माता-पिता को बताया।^३ और यह भी

१. उपा० विनयविजयजी-कल्पसूत्र-हिन्दी अनुवाद, पृ० १३७

२. वज्रसेन (वज्र) का वर्णन प्रा० प्रा० नेम्स, पृ० ६६२, यहाँ रूक्मिणी का वर्णन प्राप्त नहीं होता।

३. उपा० अमरमुनि-इतिवृत्त-रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ-पृ० २२

कहा कि यदि यह विवाह सम्पन्न नहीं हो सका तो मैं अग्नि में प्रवेश कर आत्मदाह कर लूँगी^१। पुत्री की इस प्रतिज्ञा से चिन्तित होकर उसके पिता ने आर्य वज्र को सम्पत्ति आदि से प्रभावित कर सांसारिक जीवन में लौट आने का सुझाव दिया, किन्तु निवृत्ति मार्ग में दृढ़-प्रतिज्ञ आर्य वज्र पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कुछ समय पश्चात् आर्य वज्र के उपदेश से रुक्मिणी का सांसारिक नशा शीघ्र उतर गया। मोह रूपी मादक नशे के वशीभूत होकर रुक्मिणी ने जिसे अपने पति रूप में स्वीकारा था, कुछ ही समय पश्चात् उसी के उपदेशों से प्रभावित होकर स्वयं सांसारिक भोगोपभोगों से विरक्त होकर उन्हें अपने साधना मार्ग का आराध्यदेव स्वीकार किया। बाद में उन्हीं से दीक्षा लेकर निवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त हुई।^२

मूल्यांकन—रुक्मिणी भौतिक सांसारिक सुखों के लिये जिसे वरण करना चाहती थी, उसी मुनि (वज्र स्वामी) ने अमरत्व की राह बताई। रुक्मिणी सौन्दर्य तथा समृद्धि को तृणवत् त्याग कर अपने प्रियतम के पीछे आत्म तत्त्व की खोज में निकल पड़ी। नारी के इस अपूर्व त्याग की महिमा व गहराई को शब्दों तथा भावों में कौन बाँध सका है? रुक्मिणी अपने कर्मबन्धों का क्षय करने के लिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य की आराधना करती हुई मोक्ष मार्ग पर अग्रसर हुई।

उपर्युक्त चर्चा में साधवियों के उपाश्रय का उल्लेख हुआ है—जहाँ श्राविकाएँ बालक वज्र को लेकर आती थीं। साध्वी तथा श्राविका संघ अपने-अपने कर्तव्यों का यथावत् पालन कर रहा था। यह भी सत्य प्रकट होता है कि आज से दो हजार तीन सौ वर्ष पूर्व भी गृहस्थ महिलाएँ उपाश्रय में जाकर साधु एवं साधवियों से धर्म-चर्चा सुनती थीं तथा व्रत, तप इत्यादि में तत्पर रहती थीं।

अतः इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि साध्वी तथा श्राविका संघ एक दूसरे पर निर्भर होते थे, साथ ही जीवन में विभिन्नता (त्यागी,

१. बभाषे जनकं स्वयं, सत्यं मद्भाषितं शृणु।

श्रीमद्वज्राय मां यच्छ, शरणं मेऽन्यथानलः ॥१३८॥

—प्रभावक चरित्र, पृ० ६

२. उपाध्याय विनयविजयजी—कल्पसूत्र—१३७

संन्यासी) होते हुए भी आत्मोन्नति के लिये एक दूसरे को प्रेरणा देते रहते थे। आज भी यह प्राचीन परम्परा कायम है।

साध्वी ईश्वरी :

सोपारक नगर में जिनदत्त श्रावक तथा श्राविका ईश्वरी जैन धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखते थे। उस समय बारह वर्ष का दुष्काल चल रहा था। भोजन बहुत मुश्किल से जुटा पाते थे। एक दिन इस दुःख से छुटकारा पाने के लिये ईश्वरी ने कई प्रकार के व्यंजन बनाये और मन में सोचा कि इसमें विष मिला दूँ ताकि प्रतिदिन का दारुण दृश्य देखना न पड़े।^१

इतने में आचार्य वज्रस्वामी के शिष्य वज्रसेन आहार के लिये आये और अति उत्तम भोजन देखकर उन्हें गुरु की बात याद आ गई। उन्होंने श्राविका से कहा, 'अब दुर्भिक्ष दूर हो जायेगा' और ईश्वरी ने गुरु के वचनों पर विश्वास किया। दूसरे दिन जहाज द्वारा धान्य आ जाने से सुकाल हो गया।

इस घटना से प्रभावित होकर ईश्वरी ने संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण की और आत्मोन्नति करने में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। पति जिनदत्त ने भी नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर नामक चार पुत्रों सहित दीक्षा ग्रहण की। आर्य वज्रसेन के इन चार पुत्रों से जैन श्रमणसंघ में नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर नामक कुल उत्पन्न हुए।

साध्वी रुद्रसोमा^२ :

रुद्रसोमा दशपुर के महाराज के राजपुरोहित सोमदेव की पत्नी थी। रुद्रसोमा ने बी. नि. सं. ५२२ में एक महान् भाग्यशाली पुत्र रक्षित को जन्म दिया। रक्षित को उच्च शिक्षा के लिये पाटलिपुत्र भेजा गया। बी. नि. सं. ५४४ में जब वह सभी विद्याओं में पारंगत होने के पश्चात् दशपुर लौटा तो उसका बड़े ठाट-बाट से स्वागत समारोह किया गया।^३

१. (क) उपा० विनयविजयजी-कल्पसूत्र-पृ० १३८

(ख) आ० हस्तीमलजी-जैन धर्म का मौलिक इतिहास-भाग २, पृ० ७९७

२. आवश्यकचूर्णि प्र० पृ० ३९७, ४०१, आवश्यकनियुक्ति ७७६, विशेष-
वावश्यक २७८७, उत्तराध्ययननियुक्ति और उत्तराध्ययनवृत्ति (शान्तिसूरी)
पृ० ९६-९७

३. उपा० अमरमुनिजी-पूर्व इतिवृत्त-रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ-पृ० २२

रक्षित की माता रुद्रसोमा धर्मपरायण श्राविका थीं। जब वह घर लौटा उस समय रुद्रसोमा सामायिक कर रही थी, उसने रक्षित के साथ समभावयुक्त व्यवहार किया। उसे न तो अति हर्ष हुआ और न ही उसने आशाजनक स्नेह का प्रदर्शन किया। सामायिक पूर्ण करने पर जब युवक रक्षित ने माता से पूछा कि माँ तू प्रेम विभोर होकर मुझसे क्यों नहीं मिली तो उसने कहा, 'पुत्र तुम इतने वर्ष बाद आये हो तो ऐसी कौन सी अभागिन माँ होगी जो अपने पुत्र के सफलतापूर्वक विद्याध्ययन करने के पश्चात् लौटने पर प्रसन्न नहीं होगी किन्तु इस विद्या का फल सांसारिक सुखोपभोग प्रदान करने तथा अपने और अपने परिजनों का भरण-पोषण करने तक ही सीमित है। स्व-पर-कल्याण अथवा आध्यात्मिक अभ्युत्थान में वह विद्या किंचित् मात्र भी सहायक नहीं है। मुझे सच्ची खुशी तभी होती जब तुम आत्म-विद्या से ओतप्रोत (दृष्टिवाद) विषयों का अध्ययन करके आते और अध्यात्म-मार्ग के सफल पथिक बनकर कुशल पथ प्रदर्शक बनते।' आर्य रक्षित ने माता रुद्रसोमा के मार्ग दर्शन से नगर के बाहर इक्षु वाटिका में आचार्य तोषलिपुत्र के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण की और एकादशांगी का गहन अध्ययन करने के पश्चात् आर्य वज्र की सेवा में पहुँचकर सार्द्धनवपूर्ण का ज्ञान प्राप्त किया। जब आर्य रक्षित को उसका भाई फलगुरक्षित घर लिवा जाने के लिए आया तो वह स्वयं भी दीक्षित हो गया। उनके दशपुर पहुँचने पर माता-पिता ने भी अनगार धर्म ग्रहण कर दीक्षा ले ली। आर्या रुद्रसोमा ने कठोर तपश्चर्या करके दीर्घकालीन संयम की साधना की। उनके वंश का नाम आगे चलेगा या नहीं इस बात की किंचित् मात्र भी चिन्ता न करके माता-पिता ने दोनों पुत्रों को उच्च संस्कारों से अभिप्रेत कर आध्यात्मिक साधना पथ का पथिक और पथ प्रदर्शक बनने तथा औरों का भी कल्याण करने की प्रेरणा दी। रुद्रसोमा की प्रेरणा का ही प्रतिफल है कि बालक रक्षित आगे चलकर युगप्रधान आचार्य बने। रुद्रसोमा से लेकर आज तक असंख्य महिलाएँ हुईं जिनकी संतति वंश परम्परा चली परन्तु उन्हें कोई नहीं जानता।^१ लगभग २००० वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद भी रुद्रसोमा का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा रहा है।

१. (क) आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास, दूसरा भाग—
पृ० ७९३

(ख) उपा० अमरमुनिजी—पूर्व इतिवृत्त-रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ—पृ० २४

तरंगवती^१ :

आचार्य पादलिप्त सूत्रि द्वारा लिखित तरंगवती सम्बद्ध कथा निम्न लिखित है :—

‘एक समय राजा कूणिक के राज्य में तरंगवती नाम की एक साध्वी नगर में भिक्षा लेने गई। धनाढ्य सेठ की पत्नी ने साध्वी के रूप से आकृष्ट होकर उनसे दीक्षा लेने का कारण पूछा। बार-बार आग्रह करने पर साध्वी तरंगवती ने अपने भूतकाल के जीवन-वृत्तान्त को निम्न प्रकार सुनाया—

मैं यौवनावस्था में सखियों के साथ वन-विहार कर रही थी तभी एक चकवा पक्षी को देखकर मुझे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया कि मैं भी चकवी के रूप में गंगा के किनारे अपने प्रिय चकवे के साथ क्रीड़ा किया करती थी। चकवा (पक्षी) एक व्याध के बाण से विद्ध होकर मर गया, तब मैंने भी प्राण परित्याग कर यह जन्म धारण किया। इस प्रकार से जाति-स्मरण होने पर मैंने अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त का चित्रपट लिखकर कौमुदी महोत्सव के समय कौशाम्बी नगर के चौसठे पर रखवा दिया। चित्रपट देखकर श्रेष्ठिपुत्र पद्मदेव को भी अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो गया। बाद में हम दोनों का प्रेम बढ़ा, किन्तु पिता ने उस युवक से मेरा विवाह नहीं किया, क्योंकि वह पर्याप्त धनी नहीं था। तब हम दोनों एक रात्रि नाव में बैठकर वहाँ से निकल भागे। घूमते-भटकते हम एक चोरों के दल द्वारा पकड़े गये। चोरों ने कात्यायनी के सम्मुख हमारा बलिदान करना चाहा। किन्तु मेरे विलाप से द्रवित होकर चोरों के प्रधान ने हमें छोड़वा दिया। हम कौशाम्बी वापस आये और धूमधाम से हमारा विवाह हो गया। कुछ समय पश्चात् मैं चन्दनबाला की शिष्या बन गई और उन्हीं के साथ विहार करती हुई यहाँ आ पहुँची।’^२

आगम परिषद् :

पाटलिपुत्र परिषद् : (प्रथम वाचना)

जैन आगमों का समय-समय पर पुनर्गठन होता रहा, जिसे जैन साहित्य में आगम परिषद् के नाम से संबोधित किया गया है।

१. दशाधुतस्कन्धचूर्णि, पृ० १०६, १०९; विशेषावश्यक, १५१६; निशीथचूर्णि द्वि० पृ० ४१६; बृहत्कल्पभाष्य ५६४-६५ आदि।
२. डॉ० हीरालाल जैन-भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १३७

२५८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

ई० स० पूर्व ३६७ (वीर सं० १६०) में नन्दराजा के समय पाटलिपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। दुर्भिक्ष के कारण श्रमण-श्रमणी का निर्वाह होना कठिन हो गया। कुछ त्यागीवर्ग अन्यत्र विहार कर गये और कुछ ने समाधि-मरण को प्राप्त किया। दुष्काल के समाप्त होने पर श्रमण संघ पाटलिपुत्र में एकत्रित हुआ और अपनी-अपनी स्मृति के अनुसार एकादश अंगों को व्यवस्थित किया। आचार्य स्थूलभद्र ने इस परिषद् का नेतृत्व किया। उस समय साध्वी संघ का क्या अस्तित्व था, इसका वर्णन प्राप्त नहीं होता है^१।

दूसरी परिषद् :

राजा खारवेल के समय में आचार्य महागिरि एवं आर्य सुस्थित के नेतृत्व में आगम साहित्य को पुनः गठित करने के लिये एक परिषद् का आयोजन किया गया^२ जिसमें आर्या पोइणी के नेतृत्व में तीन सौ साध्वियाँ भी सम्मिलित हुई थीं^३।

तीसरी परिषद् :

पुनः श्रुत परम्परा के प्रवाह को प्रवाहमान रखने के लिये वीर सं० ८२५ तथा ई० सन् २९८ (वीर निर्वाण की नवीं शताब्दी) में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में श्रमण संघ का सम्मेलन हुआ। इसी समय नागार्जुन के नेतृत्व में वल्लभी में भी कुछ श्रमणों का सम्मेलन हुआ। उस समय की साध्वियों एवं श्राविकाओं का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि साध्वियों से आगम (श्रुत) साहित्य पुनर्गठन में सहयोग नहीं लिया गया।

चौथी परिषद् :

आगम संकलन की चौथी परिषद् आचार्य देवद्विगणि क्षमाश्रमण के

१. मुनि समदर्शी प्रभाकर—आगम साहित्य : एक अनुचिन्तन—उद० गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० १३
२. खण्डगिरि से प्राप्त ईसा की दूसरी शताब्दी के शिलालेख—उद० मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० १३८
३. हिमवन्त स्थविरावली (अप्रकाशित), उद० जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० ५, भाग २,

नेतृत्व में वी० सं० १८० में वल्लभी नगर में बुलाई गई। इस समय आगमों को लिपिबद्ध किया गया। इस समय आचार्य देवद्विर्गण ने नन्दी सूत्र की रचना की^१। इन आगम परिषदों में साध्वियों एवं श्राविकाओं के सम्मिलित होने के उल्लेख नहीं मिलते।



१. मुनि समदर्शी प्रभाकर—आगम साहित्य : एक अनुचिन्तन, पृ० १५

चतुर्थ अध्याय

प्रथम शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक की जैन साधवियाँ व विदुषी महिलाएँ

उत्तर भारत में नन्द राजाओं के पश्चात् गुप्त वंश के राजाओं ने भी जैन धर्म को मान्यता प्रदान की थी। चीनी यात्री फाह्यान के यात्रा विवरण से प्रकट है कि साम्राज्य में जन सामान्य पर खान-पान सम्बन्धी जैनी अहिंसा का पूरा प्रभाव था।

गुप्त वंश का प्रथम शासक श्री गुप्त 'चन्द्रप्रभु' का परम भक्त था। उसने चन्द्रप्रभु का मन्दिर बनवाया था। विदिशा की खुदाई में चन्द्रप्रभु की ऐसी कलापूर्ण मूर्ति प्राप्त हुई है जिस पर गुप्त वंशी ब्राह्मी भाषा में चन्द्रप्रभु नाम खुदा है^१। इसी प्रकार तृतीय नरेश रामगुप्त के समय की जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ विदिशा में प्राप्त हुई हैं^२, जिस पर गुप्त संवत् लिखा हुआ मालूम होता है। प्राचीन समय में मालवा जैन धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। समाज में जैन धर्म पर श्रद्धा रखने वाले बहुसंख्यक श्रावक-श्राविका के कारण ही उक्त राजाओं ने मूर्ति बनवाकर प्रतिष्ठा करवाई। इस श्रेष्ठ धार्मिक कार्य के निमित्त प्रोत्साहन तथा प्रेरणा देने का कार्य निश्चय ही साधवियों ने किया होगा।^३

कुमारदेवी :

गुप्त वंश के महाप्रतापी राजा चन्द्रगुप्त प्रथम (ई० स० ३१९-३३५) का विवाह भगवान् महावीर के लिच्छवी वंश की जैन राजकुमारी कुमार

१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—पृ० १४०
(ख) बुन्देलखण्ड का इतिहास एवं जैन पुरातत्त्व, उद० महावीर स्मारिका, अंग ७१, पृ० ११७
२. (क) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
(ख) प्रो० कृष्णचन्द्र वाजपेई—प्राचीन भारतीय संस्कृति—पृ० ४८३
(ग) प्रो० कृष्णचन्द्र वाजपेई—भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योगदान
३. डॉ० ज्योतिप्रसाद—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० १४०

देवी के साथ हुआ था^१। रानी का राजा पर इतना प्रभाव था कि राज-मुद्राओं पर भी उनकी मूर्ति अंकित करवाई गई^२। राजमहिषी की जैन धर्म में श्रद्धा होने से अन्य महिलाओं ने भी इसे अपनाया। रानी की प्रेरणा से ही मन्दिरों में तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापित की गईं। राजा समुद्रगुप्त ने मन्दिरों में पूजार्थ ढेर सा द्रव्य दिया^३। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (शासन काल ई० सन् ३७५ से ४१४ तक) की राजसभा में जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का बहुत प्रभाव था। इनका सेनापति अमरकर देव जैन था जिसने ई० सन् ४११ में जैन मन्दिर को तीर्थंकरों की पूजा हेतु एक ग्राम और २५ स्वर्ण मुद्राएँ भेंट की थी। जैन धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर को राज्याश्रय प्राप्त था^४। उस समय गुप्त राजाओं की राजधानी उज्जयिनी सब धर्मों की केन्द्र थी^५।

श्राविका श्यामाह्वय :

कुमारगुप्त के राज्य में जैन धर्मावलम्बियों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। उस समय के जैन आचार्य दंतिलाचार्य की शिष्या श्राविका श्यामाह्वय ने एक जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा करवाई। यह गृहस्थ महिला श्रमणोपासिका थी और धर्म में दृढ़ आस्था रखती थी। कर्मों की निर्जरा करने के लिये देवाधिदेव की प्रतिमा का निर्माण अपने खर्च से करवाया तथा प्रतिष्ठा का उत्सव बहुत धूमधाम से किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय की गृहस्थ महिलाएँ स्थापत्य कला तथा धार्मिक प्रतिष्ठानों में रुचि रखती थीं। साथ ही विभिन्न धार्मिक उत्सवों में उत्साह से सम्मिलित होती थीं। कुमारगुप्त के काल (ई० सन् ४२५) में उदयगिरि में एक और लेख मिला है, जिसमें पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है, जो वर्तमान में भी

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—पृ० ११८
२. डॉ० कामटे—रिलिजन ऑफ तीर्थंकरराज—जैनज्म इन नार्थ इण्डिया भाग २, पृ० २५८
३. वही ।
४. श्रीमती स्टीवेन्सन—हार्ट ऑफ जैनज्म
५. (क) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में - जैन धर्म का योगदान—पृ० ३५
(ख) प्रो० कृष्णचन्द्र वाजपेयी—प्राचीन भारतीय संस्कृति—पृ० ५१८
(ग) डॉ० ज्योतिप्रसाद—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—पृ० १९८

१६२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

प्रतिष्ठित है^१। मूर्ति-प्रतिष्ठा का कार्य गृहस्थ अपने कर्मों की निर्जरा करने के लिये करते थे। आचार्यगण श्रावक-श्राविकाओं को इस प्रकार के धार्मिक कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करते थे।

स्कंदगुप्त के काल (ई० सन् ४६०) में राजा के उल्लेख सहित जो शिलालेख प्राप्त हुआ है, उसमें उल्लेख है कि पाँच अरहंतों की स्थापना देवरिया जनपद के धनाढ्य श्रावक ने मन्द्र नाम के धर्म-पुरुष से कराई थी और शैल-स्तम्भ खड़ा किया था^२।

अन्तिम गुप्त राजाओं में देवगुप्त और हरिगुप्त ने संसार त्याग कर दिगम्बर मुनि की दीक्षा ग्रहण की थी^३।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि गुप्तकाल में ३०० वर्ष तक जैन धर्म का प्रभाव रहा^४।

हर्षवर्धन के राज्यकाल में उत्तर भारत में साध्वियों का संघ अपने नियमों का पालन करते हुए विचरता था। उत्तर भारत पर कई शताब्दियों तक विदेशी राजाओं के हमले होते रहे। उत्तरभारतीयों को तीन बार भीषण अकाल तथा अन्य राजनैतिक, सामाजिक आदि कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इन सब विषम परिस्थितियों के बावजूद भी चन्दनबाला द्वारा चलाये गये साध्वी संघ का अस्तित्व अक्षुण्ण रहा।

शनेः शनेः राजनैतिक तथा सामाजिक कारणों से जैन धर्म बिहार तथा उड़ीसा आदि प्रान्तों से निकल कर राजस्थान व गुजरात में फैलने लगा।

१. प्रो० कृष्णचन्द्र वाजपेयी—प्राचीन भारतीय संस्कृति-पृ० ५१८

ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४९८

डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान-पृ० ३५
ज्ञाताधर्मकथा में तीर्थंकर गोत्र के उपाजर्जन के लिये बीस स्थानों की आराधना को माना है। दिगम्बर परम्परा में षोडश भावनाएँ हैं। भाव समान है।

२. आ० हस्तीमलजी—जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृ० ६९७

३. वही।

४. डॉ० कामटे, रिलिजन आफ तीर्थंकराज—जैनिज्म इन नार्थ इण्डिया, पृ० २१०-२१६

हर्षवर्धन (ई० सन् ६४०) के राज्य काल में भी जैन धर्म को राज्याश्रय प्राप्त था। इसी समय युग प्रधान आचार्य महाकवि मानतुंग हुए थे—जिन्होंने संघ की सुरक्षा तथा ऋषभदेव की स्तुति के लिये 'भक्तामर स्तोत्र' की रचना की। यह स्तोत्र भाव प्रधान प्रवाहमय शैली में रचा गया है। भक्तामर की रचना भाषा-भाव, कला और कल्पना के अनूठे सामञ्जस्य से अनोखी प्रतीत होती है।^१

चीनी यात्री ह्वेनसांग (ई० सन् ६२६ से ६४३) ने भारत की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि—'हर्षवर्धन के राज्य में जैन साधु बहुतायत से भ्रमण करते हुए दिखाई देते थे। हर्षवर्धन प्रयाग में हर पाँचवें वर्ष एक महान धार्मिक अनुष्ठान करता था जिसमें बौद्ध, जैन (निर्ग्रन्थ), शैव और वैष्णव साधुओं को निमन्त्रित करता था और भरपूर दान देकर सब को संतुष्ट करता था। वह गुणियों और विद्वानों का आदर करता था^२। उसका राजकवि बाण था जो हर्षचरित, कादम्बरी आदि रचनाओं के लिए सुप्रसिद्ध है'।

हर्षवर्धन के समय में जैन धर्म को मान्यता थी लेकिन धार्मिक प्रचार-प्रसार बौद्ध धर्म का अधिक हुआ। इसका मुख्य कारण बौद्ध धर्म के प्रति हर्ष का विशेष अनुराग था। राज्य में चूँकि महाकवि मानतुंग जैसे विद्वान् आचार्य थे अतः साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका संघ का भी अस्तित्व रहा होगा। हालाँकि साहित्यिक प्रमाणों से हर्षकालीन किसी विशिष्ट-श्रमणी अथवा श्राविका का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

इस काल में उद्योतन सूरि ने लगभग ई० सन् ७७८ में कुवलयमाला ग्रन्थ की रचना की जिसका जैन धर्म में बहुत प्रचार हुआ। इन्हीं उद्योतन सूरि ने हूण नरेश तोरमाण को अपने तेज से परास्त करके उसे जैन धर्म का भक्त बनाया था। चीनी यात्री फाह्यान ने उत्तरी भारत के विविध स्थानों में जिन सम्प्रदायों और धार्मिक संस्थानों को देखा था, उनमें से अनेक जैन थे। अतः यह विश्वास किया जाता है कि उस समय उत्तरी भारत में जैन धर्म का पर्याप्त प्रचार था।



१. मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० १९०

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० १५५

दक्षिण भारत की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ

दक्षिण भारत की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ

महावीर-निर्वाण के पश्चात् (ई० स० पूर्व ४६७) की आचार्य-परम्परा में संभूतिविजय सातवें आचार्य हुए। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके गुरु-भाई भद्रबाहु एक महान् धर्म प्रवर्तक आचार्य हुए। उस समय सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य मगध राज्य पर शासन कर रहे थे। उनके शासन-काल में मगध में बारह वर्ष का भयानक अकाल पड़ा। ऐसे कठिन समय में मगध के आसपास विशाल साधु संघ का भरण-पोषण होना कठिन समझकर आचार्य भद्रबाहु अपने अनुयायी साधुओं को साथ लेकर दक्षिण के कर्नाटक राज्य में चले गये। इस प्रकार मौर्य-काल में जैन धर्म का दक्षिण भारत में प्रवेश माना जाता है। बौद्धों के पालि साहित्यान्तर्गत महावंश के लंका-विवरण में ऐसा उल्लेख मिलता है कि बुद्ध-निर्वाण के १०६ वर्ष पश्चात् पाण्डुकाभय राजा का अभिषेक हुआ, उस समय उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए अनेक निवास स्थान बनवाए। संभवतः सिंहल द्वीप में जैन धर्म दक्षिण भारत से ही होता हुआ पहुँचा होगा^१। अतः ऐसी मान्यता है कि जब आचार्य भद्रबाहु ने विशाल मुनि संघ लेकर दक्षिण की ओर विहार किया, उसके पहले वहाँ की जनता में जैन धर्म का प्रचार रहा होगा^२। रामानन्द और टिन्नावली की गुफाओं में ब्राह्मी लिपि के शिलालेखों तथा प्राचीनतम तमिल ग्रन्थों के आधार पर उस उपदेश में अति प्राचीन काल से जैन धर्म का प्रचार सिद्ध होता है।

उत्तर भारत से आचार्य भद्रबाहु ने जब दक्षिण की ओर प्रस्थान

१. (क) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—

पृ० ३६

(ख) बी० एन० लूनिया—प्राचीन भारतीय संस्कृति—पृ० ३६७

(ग) मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० ११२

२. डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—पृ० ३६

किया, उस समय बिहार में साध्वियों की क्या स्थिति थी, इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। यह तो निश्चित है कि उस कठिन परिस्थिति में साधु वर्ग के साथ अधिक संख्या में साध्वियाँ दक्षिण की ओर नहीं गई होंगी। किसी पट्टावली में भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे साध्वियों के दक्षिण भारत में जाने की पुष्टि होती हो। श्रुतकेवली भद्रबाहु एवं विशाखाचार्य आदि शिष्यों ने कर्नाटक एवं तमिल प्रदेशों में जैन धर्म में नवीन प्राण-संचार किया। ई० सन् के प्रारम्भ में कुन्दकुन्दाचार्य की, जो उसी प्रदेश के निवासी थे, प्रेरणा से तमिल भाषा के विश्वविख्यात नीति-ग्रन्थ 'कुरुल काव्य' की रचना उनके गृहस्थ शिष्य तिरुवल्लुवर ने की^१। इस लेखक की शान्त स्वभाव वाली पत्नी के गृहस्थ जीवन की एक घटना यहाँ उद्धृत है। लेखक की पत्नी वासुकी की पति-भक्ति का विवरण निम्न प्रकार है :—

वासुकी :

वासुकी तमिल भाषा के विश्वविख्यात ग्रन्थकार तिरुवल्लुवर की पत्नी थी। उसका वैवाहिक जीवन अत्यन्त सुखमय था। पति का प्रत्येक शब्द उसके लिये ईश्वर की आज्ञा के समान था। एक बार एक मुनि (साधु) ने इनके दाम्पत्य जीवन की सफलता का रहस्य पूछा तो उन्होंने कुछ दिन साधु को अपने यहाँ रहने के लिये कहा। उनकी राय मान कर साधु वहीं रहने लगे।

एक दिन तिरुवल्लुवर ने अपनी पत्नी को मूट्टीभर नाखून तथा लोहे के टुकड़ों का भात पकाने को कहा। वासुकी ने लेशमात्र भी सन्देह न करते हुए वैसा ही किया। उसी प्रकार एक बार ठण्डे भात को 'बहुत गर्म है, मेरा तो छूते ही हाथ जल गया', पति के ऐसा कहने पर वह शीघ्र भाई और पंखा झलने लगी। एक बार गर्मी से तपती हुई दोपहर को घना अन्धकार बताकर पति ने दीपक जलवाया। वासुकी ने बिना हिचकिचाहट के शीघ्र दीपक जला दिया।

१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० ६९

(ख) डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ३६

२. आचार्य विजयवल्लभसूरि स्मारक ग्रन्थ, पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायशास्त्री,
कुरुल—पृ० ८३

इन सभी बातों को देखकर साधु समझ गया कि जब पति-पत्नी में पूर्ण एकता हो और लेश मात्र भी सन्देह न हो, तभी वैवाहिक जीवन सुख का सागर बन सकता है। यह सब देख साधु बोले, 'मैं आपके सुखी जीवन का मर्म समझ गया हूँ।' इतना कहकर मुनि अपने स्थान पर चले गये। पति के प्रति पत्नी की श्रद्धा का यह अपूर्व उदाहरण है। इसी प्रकार धर्म के सिद्धान्तों पर जब तक पूर्ण विश्वास न हो, तब तक धर्म-आराधना कठिन है।

ई० सन् की दूसरी सदी में चोल तथा चेदि राज्य में जैन धर्म का प्रभाव था। त्रिचुरापल्ली के राजा किल्लिकवर्मन के कनिष्ठ पुत्र शान्तिवर्मन ने जैन धर्म के सिद्धान्तों को जीवन में अपनाया तथा मुनि दीक्षा ग्रहण की। यही मुनि दक्षिण भारत में आचार्य समन्तभद्रस्वामी के नाम से विख्यात हुए।

पामव्वे पेदियर दोरपथ्य की ज्येष्ठ रानी तथा बुतुंग की बड़ी बहन थी। नाणव्वे कन्ति नाम की तत्कालीन एक विद्वान् आर्यिका की प्रेरणा से प्रेरित होकर पामव्वे ने भी संसार त्याग प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इस राजमहिषी ने दीक्षित होकर ३० वर्षों तक पाँच महाव्रतों का पालन किया तथा कर्मों का क्षय कर साध्वी जीवन को उज्ज्वल बनाया और अन्त समय में समाधिपूर्वक देह-त्याग किया।^१

औवे :

यह महिला चेर राज्य की एक जैन राजकुमारी थी, जो आज सुप्रसिद्ध प्राचीन तमिल कवयित्री के रूप में विख्यात हैं। ये जीवन पर्यन्त बाल ब्रह्मचारिणी रहीं और अपनी निःस्वार्थ समाज सेवा, सुमधुर वाणी और नीतिपूर्ण उपदेशों के लिए आज भी तमिल भाषा-भाषियों के लिये 'माता औवे' (आर्यिका माँ) के रूप में स्मरणीय एवं पूजनीय बनी हुई हैं^२।

१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—

पृ० ८०

(ख) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ६९

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—

पृ० ७०

गंगवंश

गंगमहादेवी :

गंगवंश राज्य की नींव डालने में जैनाचार्य सिंहनन्दि ने बड़ी सहायता की थी। ई० सन् ४३० में गंगराजा अविनीत ने गुरु विजयकीर्ति की प्रेरणा से मन्दिर तथा विहार के लिये प्रचुर दान दिया^१।

इस वंश की गंगमहादेवी जैन धर्म की अनन्य भक्त थीं। एक प्रशस्ति में गंगमहादेवी को जिनेन्द्र के चरण कमलों में 'लुब्ध भ्रमरी' के नाम से सम्बोधित किया गया है। जैन धर्म के प्रचार के लिये इन्होंने कई निर्माण-कार्य करवाये। महादेवी गंग हेम्मादि मान्धाताभूप की पत्नी थीं।

काललदेवी :

गंगनरेश राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ के मन्त्री चामुण्डराय की माता का नाम काललदेवी था। धर्मपरायण तथा मातृभक्त पुत्र चामुण्डराय ने अपनी स्नेहमयी जननी की भावना को मान देते हुए ई० स० ९७८ में गोमटेश्वर (बाहुबलि) की विश्व-विश्रुत विशाल (५७ फीट उत्तुंग खड्गासन) प्रतिमा का निर्माण कराकर प्रतिष्ठा करायी थी जो शिल्प-कला तथा मूर्तिविज्ञान की अद्वितीय कलाकृति है^२।

अजितादेवी :

आप परमवैज्ञानिक तथा जिनेन्द्र भक्त चामुण्डराय की पत्नी थीं। पतिपरायण तथा धर्मपरायण यह महिला अपने पति के धर्म कार्यों में सत्साह सहयोग देती थी। अर्द्धांगिनी का सक्रिय सहयोग चामुण्डराय के धार्मिक कार्यों में उत्साह बढ़ाता था। माता-पिता के समान पुत्र जिनदेव ने भी अजितसेन भट्टारक की प्रेरणा से श्रवणबेलगोल में एक भव्य पाश्र्व-जिनालय बनवाया था^३।

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ पृ० ७४

२. (क) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ३८

(ख) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० ७८

३. वही, पृ० ८४

१६८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

पल्लविया :

गंगराज्य के महामंत्री चामुण्डराय की लघु भगिनी पल्लविया भी जैन धर्म में दृढ़ आस्था रखती थी। इस धर्मप्राण महिला ने लघु वय में ही सांसारिक सुख-समृद्धि को त्यागकर आर्यिका व्रत ग्रहण किया था। कठिन नियमों का पालन करती हुई, तप, संयम तथा स्वाध्याय से आत्म-कल्याण करती हुई, अन्त में सल्लेखना व्रत ग्रहण कर इन्होंने चन्द्रनाथ वसति में अपने प्राण त्यागे।

कुन्दाच्चि (कदाच्छिका) :

गंग नरेश श्रीपुरुष (ई० सन् ७२६ से ७७६) के राज्यकाल में श्रीपुर की उत्तर दिशा में 'लोकतिलक' नामक जिनालय का निर्माण कुन्दाच्चि नामक राजमहिला ने कराया था। इनकी माता पल्लवराज की प्रिय पुत्री तथा पिता सगरकुल-तिलक मरुवर्मा थे। आपका विवाह परमगुल के साथ हुआ था। इस जिनालय को रानी की प्रेरणा से समस्त करों से मुक्त करके पोन्नलि नामक संपूर्ण ग्राम तथा और बहुत सी भूमि प्रदान की गई थी।^२

सावियब्बे :

यह वीर महिला-रत्न पराक्रमी वीर बायिक तथा उसकी धर्मपत्नी जाबय्ये की पुत्री थी और उदय विद्याधर की (अपरनाम वद्देग) की भार्या थी। एक समय राजा रक्कसगंग के राज्यकाल में यह वीरांगना अपने पति के साथ 'बगेपुर' के युद्ध में गई थी, वहाँ रणभूमि में युद्ध करते हुए ही उसने वीरगति पायी थी। श्रवणबेलगोल के एक पाषाण पर इस युद्ध-प्रिय महिला की वीरगति लेखांकित है। लेख के ऊपर एक दृश्य है जिसमें यह वीर नारी घोड़े पर सवार है और हाथ में तलवार उठाये हुए अपने सम्मुख एक गजारूढ़ योद्धा पर प्रहार कर रही है। लेख में इस महिला रत्न को रेवती-रानी जैसी पक्की श्राविका, सीता जैसी पतिव्रता, देवकी

१. डॉ० सोलेतर—विजयनगर का इतिहास—पृ० १६८

२. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० ७५

(ख) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४७७

जैसी रूपवती, अरून्धती जैसी धर्मप्रिया और शासन देवी जैसी जिनेन्द्र भक्त बताया है।^१

राष्ट्रकूट

चन्द्रवल्लभा :

चन्द्रवल्लभा राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष रासकृता की पुत्री तथा राजा राजमल द्वितीय की पत्नी थी। अपने पिता के पदचिह्नों पर चलनेवाली इस राजकुमारी ने अपनी दृढ़ आस्था के कारण जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में विशेष सफलता प्राप्त की। अपने गुरु शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव की प्रेरणा से एक विशाल जैन प्रतिमा की स्थापना करवाई, जिसका उल्लेख श्रवण-बेलगोल के शिलालेख नं० ४८९ में मिलता है। पति के समान चन्द्रवल्लभा भी बारह सौ (१२००) ब्राजिल के उच्च पदाधिकारी के पद पर कार्य करती थी, जो उस समय के इतिहास में गौरवशाली पद माना जाता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में व्रतों का पालन करते हुए अन्त समय से विधि-पूर्वक व्रत धारण कर शरीर का त्याग किया। वीरता तथा पराक्रम से युक्त यह महिला जिनेन्द्र शासन की भक्त तथा अपनी योग्यता एवं सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थी। इसने सात-आठ वर्ष तक अपने प्रदेश का सुशासन किया। अन्त में ई० सन् ९१८ में वह रुग्ण हो गई तो शरीर और संसार को क्षण भंगुर जानकर, अपनी पुत्री को सम्पत्ति एवं पदभार सौंप दिया। स्वयं बन्दिनी तीर्थ की वसति में जाकर श्रद्धा के साथ सल्लेखना व्रत पूर्वक देह का त्याग किया।^२

जक्किमुन्दरी :

कृष्णराज तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उनका लघुभ्राता (खोट्टिंग

१. (क) परमानन्द शास्त्री—श्रमण संस्कृति में नारी—ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ४७७
- (ख) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० ८४-८५
- (ग) चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेख नं० ६१, (१३९)
२. (क) साउथ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर—पृ० १११
- (ख) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५५१
- (ग) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० १०८

१७० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

नित्यवर्ष ई० सन् ९६७-९७२) राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। इस नरेश के सामन्त पड्डिङ्ग ने अपनी धार्मिक भार्या जक्किसुन्दरी द्वारा काकम्बल में निर्मित भव्य जिनालय के लिये दो ग्राम प्रदान किये थे (ई० सन् ९६८)। इनके गुरु कवल्लिगुणाचार्य की प्रेरणा से साधु-साध्वियों के ठहरने के लिए एक वसति बनवाई गई थी।^१ यह महिला राजवैभव तथा विलासिता से दूर रहकर धर्म ध्यान पर श्रद्धा रखती थी।

माललदेवी :

यह कदम्ब कुल के महाराजा कीर्तिदेव की परम जिन भक्त और धर्मपरायण अग्रमहिषी थी। कुप्पडूर नाम के नगर में इन्होंने अतिभव्य पार्श्वदेव चैत्यालय का निर्माण कराकर आचार्य पद्मनन्दि के सिद्धान्त से उसकी प्रतिष्ठा करवाई। जिनेन्द्रदेव की नित्य पूजा एवं साधुओं के आहार आदि की व्यवस्था के लिये स्वयं महाराज कीर्तिदेव से एक गाँव प्राप्त कर गुरु को (समर्पित) दान दिया था।^२

चालुक्य वंश

अतिमम्बे :

दसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में दक्षिण भारत में दानवीरा अतिमम्बे का नाम जैन धर्म में चमक उठता है। विशिष्ट गुण तथा उत्कृष्ट दान के कारण जैन नारियों के इतिहास में इन्होंने उच्च स्थान प्राप्त किया है।

आपके पति नागदेव चालुक्य राजा आह्वमल्लदेव के सेनापति थे। आपका गृहस्थाश्रम आनन्दमय था। परन्तु निर्दयी विधि को सहन नहीं हुआ व अनायास ही पति की मृत्यु से अतिमम्बे का जीवन अन्धकारमय हो गया। उस समय की प्रथा के अनुसार नागदेव की दूसरी पत्नी 'गुंडमम्बे' पति के साथ सती हो गई। पर सती प्रथा को जैन धर्म के सिद्धान्तों के विरुद्ध समझ कर अतिमम्बे ने ऐसा करना उचित नहीं समझा। वह अपने एकमात्र पुत्र अण्णिगदेव की रक्षा करती हुई श्राविका व्रतों का पालन

१. (क) साउथ इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर—पृ० १११

(ख) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ५५३

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० १२५

करते हुए गृहस्थाश्रम में रही। यद्यपि अतिमव्वे आमरण जैन श्राविका रही, फिर भी कठिन से कठिन व्रतों के द्वारा इसने अपने शरीर को इतना कृश कर लिया था कि तत्कालीन महाकवि रत्न ने उनको कामपराङ्मुखता तथा देहदंडन नाम के दोनों गुणों की साक्षात् मूर्ति बताकर बड़ी प्रशंसा की है।^१

दानशिला अतिमव्वे की जिन धर्म पर इतनी गहरी श्रद्धा थी कि उन्होंने अपनी निजी धनराशि को धर्म-प्रचार के लिये व्यय किया। कहा जाता है कि इसी देवी ने अपने व्यय से कन्नड़ कवि पोन्न द्वारा सन् ९३३ में लिखे गये 'शान्तिपुराण' की एक सहस्र हस्तलिखित प्रतियाँ लिखाकर दान में बटवाईं।^२ इससे कर्नाटक में सर्वत्र जैन धर्म का बहुत प्रचार हुआ। इसी प्रकार अन्य हस्तलिखित काव्यों की भी रक्षा की। मुद्रणालयों के अभाव के कारण उस जमाने में प्रत्येक ग्रन्थ की प्रत्येक प्रति को हाथ से लिखना-लिखवाना पड़ता था। अतः जिस ग्रन्थ की प्रतियाँ अधिक तैयार होती थीं, उस ग्रन्थ का प्रचार उतना ही अधिक हुआ करता था। इसकी सुचारु व्यवस्था न होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और उसके रचयिता का नाम हमेशा के लिए लुप्त हो जाया करता था। अतिमव्वे की प्रेरणा से ऐसे कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को पुनर्जीवित किया गया।

साहित्य सेवा के साथ-साथ उन्होंने 'मणिमणिकखचित' (सोने तथा रत्नों से मढ़ी हुई) १५०० जिन-प्रतिमाएँ विधिवत बनवाकर सहस्र दान दी थी। प्रत्येक प्रतिमा के लिये एक-एक चित्ताकर्षक बहुमूल्य मणिघटा, दीपमाला, रत्न-तोरण तथा बितान (चंदरवा-मूर्ति के ऊपर बाँधने का नक्षीदार चौकोर कपड़ा) भी भेंट किया। महाकवि रत्न ने अतिमव्वे के इस धर्मानुराग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वस्तुतः दान चितामणि अतिमव्वे का यह दान सामान्य दान नहीं, किन्तु महादान था। साथ ही सर्वतोमुखी महादान से प्राप्त 'दान-चितामणि' उपाधि सर्वथा उपयुक्त है।

१. ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ५२१

२. (क) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ३८

(ख) मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित शक्तिपुराण की प्रस्तावना में उद्धृत।

(ग) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५२३

कई शिलालेखों में भी दानचिन्तामणि की महिमा विशेष रूप से अंकित है। बम्बई-कर्नाटक शासन-संग्रह द्वारा प्रकाशित ५२ तथा ५३ नम्बर वाले शिलालेख अतिमव्बे से सम्बद्ध हैं।^१ इस शिलालेख में तत्कालीन महाकवि रत्न द्वारा अजितपुराण का यह वर्णन भी है कि 'जब अतिमव्बे श्रवणबेलगोल दर्शन को गई थीं तो वहाँ उनके प्रभाव से अकाल वृष्टि हुई थी।' इसी प्रकार लेख में इनकी महिमा का उल्लेख इस प्रकार है, 'अतिमव्बे राजा के कहने पर पवित्र जिन प्रतिमा को मस्तक पर धारण करके जब निर्भय होकर गोदावरी में उतरी तो इसकी महिमा से नदी का प्रवाह एकदम रुक गया।'^२

तत्कालीन कवियों ने दानचिन्तामणि अतिमव्बे को कई उपाधियों से विभूषित किया है तथा शिलालेख में जिन प्रतिमाओं की निर्माणिका के रूप में उनका सादर स्मरण किया है।

वस्तुतः दानचिन्तामणि अतिमव्बे एक आदर्श जैन महिला थी, जिसका स्मरण कर आज भी नारी जाति का मस्तक गौरवान्वित होता है।

जाकलदेवी :

आप चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य की धर्मपत्नी थीं। जाकलदेवी का जन्म जैन कुल में हुआ था। इसका प्रमाण गुलबर्गा जिले के शिलालेख से प्राप्त होता है। इन्होंने जैन शासन की अपार सेवा की थी।

जाकल देवी के पति चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल जैन धर्म के विरोधी थे और जैन मूर्तियों तथा जैन बिम्बों से घृणा करते थे। एक समय एक शिल्प कलाकार ने एक अतिशय सुन्दर, भव्य और विशाल जिन प्रतिमा तैयार कर राजा के सम्मुख उपस्थित किया। रानी उस हृदयहारिणी प्रतिमा के दर्शन कर भगवद्भक्ति में रम गई, पर पति चालुक्य राजा की मुखाकृति से रानी उसके हृदय के भावों को ताड़ गई और विनय-पूर्वक राजा से बोली, 'हे राजन्, इस प्रकार की रमणीय, मनोहर, विशाल और शान्तमुद्रा-सम्पन्न मूर्ति अपने राजदरबार में अवश्य होनी

१. एस० आई० आई० ११-१, बम्बई-कर्नाटक इंस्क्रीप्शन्स

२. (क) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५२३

(ख) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन-प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ-

दक्षिण भारत की जैन साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : १७३

चाहिये।' राजा को अन्यमनस्क तथा उद्विग्न देख पुनः रानी बोली, 'राजन्, जरा सोचिये कि यह राजमहल की अटारी कितने दिन के लिए है, यह राग-रंग अनित्य है, किन्तु यह जिन प्रतिमा तो संसार सागर से पार लगाकर निरन्तर अभय सुख देने वाली है।' यह सुनते ही कट्टर विद्रोही राजा की मनोभावना में परिवर्तन हो गया। उसने भी पत्नी की प्रेरणा से जैन धर्म अंगीकार किया एवं राज्य में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये काफी धन खर्च करके मन्दिर, जिनालय आदि बनवाये।

कालियक्का :

चालुक्य त्रिभुवनमल्ल के दण्डनायक सूर्य की भार्या, स्वयं ज्येष्ठ दण्डनायकिति कालियक्का बड़ी धर्मात्मा महिला थी। उसने ई० सन् ११२८ में सेम्बूर में पार्श्वनाथ भगवान् का एक अति सुन्दर जिनालय बनवाकर उसके लिए स्वगुरु शान्तिशयनपण्डित को प्रभूत भूदान दिया था।^२

अक्कादेवी :

अक्कादेवी चालुक्य वंशी राजा सत्याश्रय की बहिन एवं दशवर्त्मन की पुत्री थीं।^३ राज्य कार्य में दक्ष होने के कारण वे राज्य के एक प्रान्त की गवर्नर नियुक्त की गई थीं (ई० सन् १०३७)। राज्य शासन में सहयोग देने के लिये उनके साथ सात मंत्रियों की एक कौंसिल थी, जो प्रान्त की व्यवस्था सुचारु रूप से करते थे^४ जिसमें अक्कादेवी स्वयं राजस्व मंत्री थीं।

इनके शासन-काल में राजस्व मंत्री को ही धार्मिक कार्य के लिये सरकारी जमीन बिना मूल्य देने का अधिकार था। इसी प्रकार राजस्व अधिकारी को यह भी आदेश था कि सरकारी कर वसूली में से कुछ धनराशि धार्मिक कार्यों के लिये दी जाय। कुछ उच्च अधिकारियों

१. ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५२८

२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० १२६

३. हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इंडियन पीपुल, भाग ५, पृ० २७८

४. हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, पृ० १६७, २७९

१७४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

को धार्मिक कार्यों के लिये गाँव तक दे देने के अधिकार राज्य की ओर से प्राप्त थे।^१

राज्य शासन द्वारा धार्मिक कार्य में सहूलियत प्राप्त होने से कई धनाढ्य तथा मध्यम स्थिति के नागरिक अपने धन को धार्मिक कार्यों में लगाकर उसका सदुपयोग करते थे। ऐसे ही एक दान का वर्णन एक शिलाफलक पर प्राप्त हुआ है।

चालुक्य नरेश विक्रमादित्य के समय सिगवाड़ी क्षेत्र की नालिकब्बे नाम की महिला ने अपने स्वर्गीय पति की स्मृति में एक मन्दिर का निर्माण करवाया। इस मन्दिर के खर्च के लिये राज्य द्वारा भूमि तथा अन्य वस्तुएँ दी गईं जिसका शिलालेख में उल्लेख प्राप्त होता है।^२

केतलदेवी :

होयसल राजवंश के राजा आहवमल्ल (ई० सन् १०४२-१०६८) के शासन-काल में यह महिला 'पोन्नवाड अग्रहार' की शासिका थीं। इन्हें सोमेश्वर की महारानी केतलदेवी के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इन्होंने त्रिभुवन-तिलक जिनालय में कई उप-मन्दिरों का निर्माण ई० सन् १०५४ में करवाया। उसके खर्च के लिये महासेन मुनि को दान में बहुत-सा धन दिया ताकि मन्दिर का खर्च सुविधा से चल सके।

प्रसिद्ध अहंत् शासन का स्तम्भ चाकिराज रानी का दीवान था। इसी राज्य के बेल्लारी जिले का कोंगली नामक स्थान पुरातन काल से एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहा था। यहाँ तभी से एक महत्त्वपूर्ण जैन विद्यापीठ की स्थापना हुई थी। इस महत्त्वपूर्ण जैन विद्यापीठ में कई शिलालेखों का संग्रह किया गया था।^३

शान्तलदेवी :

आप होयसल वंश के महाराजा विष्णुवर्धन की रानी एवं श्रमणोपा-

१. हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल पृ० २७९
२. महावीर जयन्ती स्मारिका-जयपुर, सन् १९७५, स० राजस्थान जैन सभा, जयपुर पृ० ३-९
३. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन-प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ-पृ० १२०, ब्र० पं० चन्दाबाई स्मृति ग्रन्थ

सिका थीं। अपनी सुन्दरता एवं संगीत, वाद्य तथा नृत्य आदि कलाओं में निपुणता के लिये वह विदुषी-रत्न सर्वत्र विख्यात थी। रानी के पितृ-कुल तथा मातृ-कुल दोनों धर्मपरायण थे। पिता मारसिगच्यपग्गेडे कट्टर शैव थे। स्वयं महाराजा विष्णुवर्धन इनका बहुत आदर करते थे तथा इन्हें 'उद्वृन-सवति-गन्धवारण' अर्थात् उच्छृङ्खल सोतों को काबू में रखने के लिए 'मतहस्ति' विरुद दिया था। आपके धार्मिक गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव थे, जिनकी यह गृहस्थ शिष्या थीं। इस धर्मात्मा महारानी ने श्रवणबेलगोल में अपने नाम पर 'सवति-गन्धवारण वसति' नाम का एक अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल जिनालय बनवाया था। उक्त जिनालय में भगवान् शान्तिनाथ की पाँच फुट ऊँची कलापूर्ण मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई थी। अपने समय में शान्तलदेवी दान के लिए प्रसिद्ध थीं। मन्दिर के लिए एक गाँव का दान तथा अन्य कई छोटे-छोटे दान दिये। महारानी ने जिनाभिषेक के लिए वहाँ गंग-समुद्र नाम के सुन्दर सरोवर का निर्माण करवाया था। महादेवी शान्तलदेवी ने शिवगंगे नामक स्थान में ई० सन् ११२१ में संल्लेखना जैन समाधि-मरण की विधि से देहत्याग किया। गन्धवारण-वसति के मण्डप के तीसरे स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में महारानी के स्वर्गगमन की घटना का वर्णन करते हुए उनके गुणों एवं धर्म कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।

माचिकव्वे :

आप महारानी शान्तलदेवी की माता और प्रतापी दण्डनायक बलदेव की पुत्री थीं। पति मारसिगच्य को छोड़कर माचिकव्वे का शेष समस्त परिवार परम जिन भक्त था। पति के अन्य धर्मविश्वासी होते हुए भी यह नारी स्वधर्म की आराधना करने में स्वतंत्र थी। धर्मानुरागी पुत्री शान्तलदेवी के निधन से माता को अत्यन्त दुःख हुआ और वह संसार से विरक्त हो गई। अतः उन्होंने श्रवण-बेलगोल में जाकर

१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन-प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ-
पृ० १४०
- (ख) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४७८
- (ग) बी० ए० सोलेतर-मिडियेवल जैनिज़्म
- (घ) डॉ० हीरालाल जैन-भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ४०

१७६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

प्रभाचन्द्र, वर्धमान और रविचन्द्र आदि गुरुओं की उपस्थिति में एक मास का अनशनपूर्वक सल्लेखना व्रत लिया और समाधिमरण किया। उक्त त्यागी मुनियों ने उस साध्वी के तप-संयम एवं निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी^१।

हरियन्बरसि :

आप होयसल वंश के विष्णुवर्धन की सुपुत्री तथा बल्लालदेव की बहन थीं। इनके धर्मगुरु सिद्धान्तदेव थे, जो अपनी विद्वत्ता के लिये तत्कालीन राजाओं में विख्यात थे। हन्तूर नामक स्थान के एक ध्वस्त जिनालय में प्राप्त ११३० ई० सन् के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उक्त प्रान्त के तत्कालीन शासक बल्लालदेव की राजकुमारी अपरनाम हरियल देवी ने अपने गुरु की प्रेरणा तथा भाई के सहयोग से स्वद्रव्य से हन्तियूर नगर में एक अत्यन्त विशाल एवं मनोरम जिनालय बनवाया, जो रत्न-खचित तथा सुन्दर मणिमय कलशों से युक्त उत्तुंग शिखरोंवाला था। उक्त जिनालय में नित्य पूजा, साधुओं के आहारदान, असहाय वृद्धा स्त्रियों की शीत आदि से रक्षा हेतु आवास एवं भोजन आदि की सुविधा देने के लिए तथा जिनालय के जीर्णोद्धार आदि के लिए बहुत-सी राज-करमुक्त भूमि गुरु सिद्धान्तदेव को समर्पित की गई थी। इस दानपत्र में राजकुमारी की तुलना सीता, सरस्वती आदि प्राचीन महिलाओं से की गई है तथा उन्हें पतिपरायण, विदुषी और सम्यक्त्व चूड़ामणि लिखा है। इस दान में पिता महाराजा विष्णुवर्धन की सहमति थी^२।

लक्ष्मीमति :

आप महाराजा विष्णुवर्धन के सेनापति गंगराज की धर्मपरायणा पत्नी थीं, जिन्हें अपने पति की “कार्यनीतिवधू” और “रणजयवधू” कहा गया है। गंगराज ने अपनी शूर-वीरता, राज्य-सेवा और धर्मोत्साह के प्रताप से होयसल राजवंश को प्रभावित किया था तथा राज्य में जैन धर्म की नींव को मजबूत करने में बहुत सहायनीय कार्य किया था। लक्ष्मी-मति ने पति की सहायता से, जैन धर्म में वर्णित चारों दानों—आहार

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० १४१

१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० १४१-१४२

दान, अभयदान, औषधिदान, ज्ञानदान एवं शास्त्रदान—को सतत देकर “सौभाग्यखानि” की उपाधि प्राप्त की थी। लक्ष्मीदेवी ने श्रवणबेलगोल में एक सुन्दर जिनालय बनवाया जो एरडुकट्टेवसति के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने अन्य कई जिनालय बनवाये तथा जीर्णोद्धार करवाया। जैन धर्म की परम उपासिका इस महिला ने अन्त में संन्यास विधिपूर्वक शरीर का त्याग किया^१।

पोचिकव्वे :

आप जैन धर्म के महान् सेवक गंगराज की माता तथा बुद्धमित्र की गुणवती एवं धर्मात्मा पत्नी थीं। आपने अनेक धर्म कार्य किये थे, यथा— दान दिये तथा बेलगोल में अनेक मंदिर बनवाये और अन्त में ई० सन् ११२१ में सल्लेखना विधिपूर्वक देह त्याग किया।

महान् सेनापति गंगराज से जब महाराजा विष्णुवर्धन ने उनके अपूर्व कार्यों के लिये इच्छित पुरस्कार माँगने के लिये कहा तो उस धर्मवीर ने ‘गंगवाडी’ नाम का प्रदेश माँगा। क्योंकि इस प्रान्त में प्राचीन जैन तीर्थों और जिन मंदिरों का बाहुल्य था। उन भग्न मन्दिरों का जीर्णोद्धार पुरस्कार में प्राप्त ‘गंगवाडी’ प्रान्त की समस्त आय से होता था। अपनी माता और पत्नी के समाधिमरण की स्मृति में उसने श्रवणबेलगोल में स्मारक भी स्थापित किये थे। पुरस्कार में प्राप्त ‘परम’ नामक ग्राम को अपनी माता तथा भार्या द्वारा निर्मित जिन मंदिरों को भेंट कर दिया।

एक शिलालेख में लिखा है कि जिस प्रकार पूर्वकाल में जिनधर्माग्रणी अतिमव्वे के प्रभाव से गोदावरी नदी का प्रवाह रुक गया था वैसे ही कावेरी नदी के पूर से घिर जाने पर भी जिनभक्ति के प्रसाद से गंगराज की लेशमात्र भी क्षति नहीं हुई। शिलालेखों में कहा गया है कि जिस प्रकार इन्द्र का वज्र, बलराम का हल, विष्णु का चक्र, शक्तिधर की शक्ति और अर्जुन का गाण्डीव था उसी प्रकार विष्णुवर्धन की वास्तविक शक्ति गंगराज थे^२।

१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ, पृ० १४२
- (ख) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—पृ० ४०
- (ग) ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४७९
२. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० १४४

१७८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

आचियक्क या आचलदेवी :

आचलदेवी होयसल नरेश बल्लाल द्वितीय के मंत्री चन्द्रमौलि की पत्नी परम जिन भक्त थी। रूप, गुण और शील-सम्पन्न यह महिलारत्न बालचन्द्र मुनि की गृहस्थ शिष्या थी। इस महिला ने १११२ ई० सन् में श्रवणबेलगोल में बड़ी भक्तिपूर्वक एक अति भव्य एवं विशाल पार्श्व-जिनालय का निर्माण कराया था। आचियक्कन का संक्षिप्त रूप 'अक्कन' होने से यह मन्दिर अक्कन वसति के नाम से भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मन्दिरों के उक्त नगर में यही एक जिनमन्दिर होयसलकला का अवशिष्ट तथा उत्कृष्ट नमूना है। सप्तफणी पार्श्वनाथ की पाँच फुट ऊँची प्रतिमा के साथ धरणेन्द्र, पद्मावती की साढ़े तीन फुट ऊँची मूर्तियाँ हैं। सुन्दर जालियाँ, चार चमकदार स्तम्भ, कलापूर्ण नवछत्र और शिखर पर सिंहललाट हैं। इस मन्दिर के निर्माण के लिये स्वयं उसके पति मन्त्री चन्द्रमौलि ने, जो वेदानुयायी ब्राह्मण थे, महाराज से प्रार्थना करके 'बम्मेयनहल्लि' ग्राम प्राप्त किया और गुरु बालचन्द्र को दान दिलाया था। गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए भी 'बेक्क' नामक ग्राम को राजा से प्राप्त करके आचलदेवी ने दान कराया था। पति के कट्टर शैवभक्त होते हुए भी इस महिला ने उनसे पूरा सहयोग प्राप्त किया और पति ने भी अपनी धर्मात्मा जैन पत्नी आचलदेवी के धार्मिक कार्यों में पूरा सहयोग दिया। यह उसकी तथा उसके राज्य एवं काल को धार्मिक उदारता का परिचायक है।

हयुर्वले :

होयसल राज्य के एक वीर सामन्त की पत्नी हयुर्वले चान्द्रायण देव की गृहस्थ शिष्या थी। अपने पुत्र को धर्म में दृढ़ देखकर वह अत्यन्त प्रभावित हुई और उसने भक्तिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक किया और उस पक्षाल (गंधोदक) को समस्त पापों को धोनेवाला समझ कर अपने पुत्र के मस्तक पर चढ़ाया तथा स्वयं ने मोह व्रन्धनों को तोड़कर

१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० १६०

(ख) परमानन्द शास्त्री—श्रमण संस्कृति में नारी—

ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ४७८

धर्माचरण करते हुए समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त किया।^१

सोबलदेवी

सोबलदेवी वीर बल्लाल के मंत्री ईचण की पत्नी थी। इस जिनभक्त दम्पति ने गोग्ग नामक स्थान में वीरभद्र नामक सुन्दर जिनालय का निर्माण कराया था। एक और वसति का निर्माण कराके उसके लिये दानादि दिया था। इस धर्मात्मा पतिपरायण महिला की उपमा सीता और पार्वती से दी गई है।^२

चागलदेवी :

त्रैलोक्यमल्ल-वीर-सान्तरदेव की रानी चागलदेवी रूप, गुण और शील-सम्पन्न महिला थी। वह सान्तर नरेश की वाक्श्री, कीर्ति-वधू और विजयश्री थी। उसने लोक्किच वसति के सन्मुख एक अति सुन्दर मकर-तोरण बनवाया था। बल्लि गाँव में चाँगेश्वर नाम का जिनालय बन-वाया था। अनेक ब्राह्मण कन्याओं का अपनी ओर से विवाह करके महा-दान किया था। गुरु माधवसेन को इस वसति के खर्च के लिये देकरस नामक श्रावक ने एक ग्राम दान में दिया था^३।

पम्पादेवी :

विक्रम द्वितीय सान्तर की बड़ी बहन राजकुमारी पम्पादेवी बड़ी धर्मात्मा थीं। हुमच्च के ११४७ ई० सन् के शिलालेख के अनुसार उनके द्वारा चित्रित चैत्यालयों के शिखरों से चारों ओर जिनालयों का भव्य दृश्य दिखाई देता था। जिनेन्द्र की पूजा हेतु फहरायी जाने वाली ध्वजाओं से आकाश भर गया था। वह अनन्य पण्डिता थीं। उन्होंने 'अष्ट-विद्यार्चन-महाभिषेक' और 'चतुर्भक्ति' नामक ग्रन्थों की रचना की थी^४।

-
१. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० १६०
 २. वही, पृ० १६१
 ३. वही, पृ० १७२
 ४. वही, पृ० १७६

कंतीदेवी :

साहित्य के क्षेत्र में अपना अद्वितीय स्थान रखनेवाली यह महिला विष्णुवर्धन के राज्यकाल में हुई थी। प्रसिद्ध कवयित्री होने के कारण द्वारसमुद्र गाँव के राज दरबार में कंतीदेवी को सम्माननीय और उच्च पद प्राप्त था। राज दरबार के सुविख्यात कवि पंप के साथ लोहा लेने में आपको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई थी। राजकवि पंप ने कंती को परास्त करने की बहुत कोशिश की पर उसमें सफलता नहीं मिली। आपने अपने काव्य साहित्य से भारतीय नारी के गौरव और धर्म की रक्षा को तथा आश्चर्यजनक काव्य-शक्ति द्वारा जैन नारियों को नई दिशा प्रदान की।

भीमादेवी :

भीमादेवी विजयनगर के राजा देवराय की धर्मपरायणा पत्नी थीं। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख से प्रकट होता है कि वे जैन धर्म को बहुत मानती थीं। भीमादेवी ने स्वयं का बहुत-सा द्रव्य देकर मंदिर बनवाया तथा शान्तिनाथ की मूर्ति को श्रवणबेलगोल में स्थापित करवाया। विजयनगर के राजा कांगु ने राज्य को अपने नियंत्रण में लिया और जैन धर्म का प्रचार किया। विजयनगर के राजा बुक्का ने निम्न प्रकार की घोषणा अपने राज्य में करवाई थी :—

‘जब तक चाँद व सूर्य रहेगा। तब तक जैन तथा वैष्णव दोनों संप्रदाय का समान आदर राज्य में रहेगा। वैष्णव तथा जैन एक ही धर्म है, इन्हें समान मान्यता देना चाहिये’^२।

दक्षिण भारत में धर्म के प्रचार-प्रसार में राजा तथा उनके मंत्रीगणों ने तो सर्व प्रकार की सहायता दी परन्तु मुनि तथा आचार्यों की प्रेरणा से महिलाओं ने अद्भुत कारीगरीवाले एवं सुन्दर मन्दिर बनवाकर जो स्थापत्य कला में योगदान दिया है उसकी दूसरी मिसाल भारतीय इतिहास तथा अन्य देशों के इतिहास में मिलना असंभव है। ऐशो आराम तथा भोग के सम्पूर्ण साधनों को त्याग कर धर्म तथा तपनिष्ठ होकर जैन धर्म के सिद्धान्तों को अपनाकर जीवन में चरितार्थ करने का जो कार्य दक्षिण भारत की महिलाओं ने किया उससे जैन धर्म ही नहीं, भारत के सर्व धर्म-सम्प्रदाय गौरवान्वित हुए हैं।

१. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ५५०-५१

२. बी० एल० सोलेतर-विजयनगर का इतिहास-पृ० १७०

श्रीमती :

दक्षिण भारत के कुरूमई नामक ग्राम के करमण्डु नाम के एक धनिक वैश्य की पत्नी का नाम श्रीमती था। उसके यहाँ एक ग्वाला रहता था। एक दिन जब वह जंगल में गायें चरा रहा था, उसी समय उसने सारा जंगल दावाग्नि से जल कर भस्म होता देखा किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे थे। उसे उसका कारण जानने की उत्सुकता हुई। वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास-स्थान है और वहाँ एक पेट्टी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। उन्हें बड़े आदर से घर ले गया और कुछ दिन पश्चात् मुनि को वे सभी आगम दे दिये। उसी बालक ने मुनि के आशीर्वाद से कुन्दकुन्दाचार्य के रूप में सेठ के यहाँ जन्म लिया।^१ पालने में झुलाते समय माता श्रीमती इस प्रकार कहती थी—

“सुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि संसार माया परिवर्जितोऽसि”।

माता के इस उद्गार के कारण यह बालक जैन धर्म का प्रकाण्ड पंडित एवं दिगम्बर सम्प्रदाय का महान् आचार्य हुआ।

दक्षिण भारत में जैन धर्म की नींव को सुदृढ़ करने का श्रेय इसी आचार्य को है जिन्होंने तत्कालीन राजाओं को जैन धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित कर उन्हें धर्मानुरागी बनाया तथा उनकी राजमहिषियों ने भी जैन धर्म अपनाकर आत्मोन्नति की।



आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक की जैन साधवियाँ एवं विदुषी महिलाएँ

याकिनी-महत्तरा :

राजस्थान के मेवाड़ प्रदेश की राजधानी चित्तौड़, प्राचीन काल में एक प्रसिद्ध नगरी थी। यहाँ के सिसोदिया राणा बप्पा रावल (ई० सन् ७५०) सर्व धर्मों को समान सन्मान देते थे।^१ उनके समय में चित्तौड़ के एक राजमान्य ब्राह्मण राजपुरोहित थे। वे अपने ज्ञान गर्व के कारण पृथ्वी, जल और आकाश के समस्त विद्वानों से शास्त्रार्थ करने को प्रतिपल तत्पर रहते थे। उस समय गुरु प्रवाह (विद्वान् व्यक्ति को गुरु बनाना) भी बहुत प्रबल था, तथा प्रत्येक ज्ञानी व्यक्ति किसी महान् विद्वान् को अपना गुरु बनाने में गौरव अनुभव करता था। हरिभद्रजी के सामने भी यह समस्या थी कि किसे गुरु बनाया जाय, जो उनसे अधिक विद्वान् हो। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि “जिस व्यक्ति के बोले हुए श्लोक या गाथा का मैं अर्थ नहीं समझ सकूँगा, उसे अपना गुरु मान्य करूँगा।” उनके इस बौद्धिक अभिमान का खंडन जैन धर्म की साध्वी याकिनी महत्तरा ने किया था।^२

एक दिन वे जैन साधवियों के उपाश्रय के पास से होकर जा रहे थे। उस समय उनके कानों में एक मधुर स्वर सुनाई दिया—एक साध्वीजी प्राकृत में एक श्लोक रट रही थीं—

‘चक्किदुगं, हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्को^३’

-
१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० २१६
 - (ख) मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० १९३
 - (ग) डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—
पृ० ७३
 २. अगरचन्दजी नाहटा—अ० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ५७४-५७५.
 ३. मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास,—पृ० १९४

अर्थात्—अनुक्रम से दो चक्रवर्ती, पाँच वासुदेव, पाँच चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, दो चक्रवर्ती, एक वासुदेव और एक चक्रवर्ती होते हैं—यह गाथा एक साध्वीजी मधुर कंठ से दोहरा रही थी^१। हरिभद्र उस मंजुल एवं विलक्षणा वाणी पर ठहर गये। इस मधुर गाथा को सुनते हुए तथा उसका अर्थ समझने की कोशिश करते हुए वे बहुत देर तक वहाँ खड़े रहे। सुनने में आनन्द आ रहा था पर उसका अर्थ न लगा सके। उन्हें अपनी प्रतिज्ञा स्मरण हो आई तथा वे उस साध्वी के पास जाकर उन्हें अपना गुरु मान लिए। उन्होंने साध्वीजी को इस गाथा का अर्थ समझाने के लिए विनयपूर्वक निवेदन किया। महत्तरा याकिनी ने बुद्धिमतापूर्वक उसका अर्थ समझाया, जिससे विद्वान् राजपुरोहित संतुष्ट हुए और शिष्य बना लेने की विनती की। साध्वीजी ने इस पर उत्तर दिया कि यदि आप किसी को गुरु बनाना चाहते हैं तो मेरे गुरु के पास जाइये। हरिभद्रजी साध्वी की बात मानकर आचार्य जिनदत्तसूरि की सेवा में गये। जिनदत्तसूरिजी प्रतापी, तेजस्वी, शान्त एवं गम्भीर महात्मा थे। उनका तप, जप, ज्ञान और संयम देखकर हरिभद्रजी को जैन धर्म पर आस्था हो गई और सूरिजी के पास दीक्षा ग्रहण की।

याकिनी महत्तरा की विद्वत्ता तथा पाण्डित्य से वे इतने प्रभावित थे कि उन्होंने अपनी बृहत् रचनाओं के अन्त में 'याकिनी महत्तरा सुत्र'^२ अर्थात् अपने को याकिनी के पुत्रतुल्य कहा है। यह घटना जैन धर्म की साध्वियों के इतिहास में बहुत महत्त्व रखती है क्योंकि एक साध्वी इतने प्रकाण्ड विद्वान् के गुरु पद पर प्रतिष्ठित हुई।

आठवीं शताब्दी के ये आचार्य हरिभद्रसूरि जैन धर्म के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनके ज्ञान के गर्व को दूर करने वाली यह प्रतिभाशाली विदुषी साध्वी थीं। यह वास्तव में तत्कालीन तथा वर्तमान महिलाओं के लिए गौरव की बात है।

१. डॉ० हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान—पृ० १०

२. (क) आदरीश बनर्जी—जैन कॉमिओ ऐट चित्तौड़गढ़—छोटेलाल स्मृति ग्रन्थ, पृ० ७६

(ख) मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० १६५

(ग) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० २१६

इस घटना से दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि साध्वी समुदाय ज्ञानोपाार्जन के लिए नियमित अभ्यास करता था। साध्वी याकिनी अपना पाठ बार-बार दुहरा रही थीं जिससे वे उसे स्मरण रख सकें। वे संगीत तथा राग की भी ज्ञाता रही होंगी तभी सुन्दर राग में उस गाथा को याद कर रही थीं।

तीसरी बात यह है कि उस श्लोक के भावार्थ को समझने लायक धार्मिक साहित्य का उन्हें ज्ञान था। इसमें जैन धर्म की मान्यतानुसार अवर्षापिणो काल में होने वाले चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि का वर्णन किया गया है।

धनपाल की प्रतिभाशालिनी पुत्री

ई० सन् ९७० में धारा नगरी के प्रसिद्ध राजा भोज के दरबार में धनपाल को राज कवि का स्थान प्राप्त था। स्वयं राजा भोज एक महान् कवि और विद्वान् लेखक थे। अतः उनके दरबार में कई प्रसिद्ध विद्वानों, पंडितों, कवियों तथा लेखकों को सम्मान प्राप्त था^१।

धनपाल अपने पिता के साथ उज्जैन में आकर बस गये थे। उनके भाई शोभन ने जैन धर्म से प्रभावित होकर महेन्द्रसूरि से दीक्षा अंगीकार की थी। धनपाल पहले कट्टर ब्राह्मण थे, पर अनुज से प्रभावित होकर उन्होंने भी जैन धर्म स्वीकार किया। बहिन सुन्दरी भी श्रमणोपासिका थी।^२ धनपाल बचपन से ही अध्यवसायी थे। इन्होंने वेद-वेदान्त, स्मृति, पुराण आदि का प्रगाढ़ अध्ययन किया था। इनका विवाह 'धनश्री' नामक अति कुलीन कन्या से हुआ, जिससे उन्हें प्रखर बुद्धिशाली पुत्री हुई जिसको स्मरण शक्ति अद्भुत थी।^३ इनकी प्रसिद्ध रचना तिलकमंजरी संस्कृत भाषा का श्रेष्ठ गद्य काव्य है, जिसे बाण कृत कादम्बरी के समतुल्य माना जाता है।

इस 'तिलकमंजरी' रचना के साथ एक घटना का उल्लेख प्राप्त होता है। राजा भोज ने किसी कारण रूष्ट होकर इसे जला दिया।

१. डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन—महाकवि धनपाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व—
'मुनि जिनविजय अभिनन्दन ग्रन्थ', पृ० १०६

२. वही।

३. वही।

वर्षों के परिश्रम से लिखी कादम्बरी के समान सुन्दर कृति को इस प्रकार अग्नि में भस्म होते देख धनपाल अत्यन्त उद्विग्न हो गये। अपने पिता को ग्लानियुक्त तथा उदास देखकर उनको नौ वर्ष की बाल पण्डिता पुत्री ने उनके उद्वेग का कारण पूछा। धनपाल ने राजदरबार की घटना कह सुनाई। बालिका ने उन्हें सान्त्वना देते हुए धीरज बँधाया तथा तिलकर्मजरी की मूल प्रति का आधा भाग अपनी स्मरण शक्ति से बोलकर सुनाया जिसे पिता ने लिख लिया। धनपाल ने शेष आधे भाग की पुनः रचना करके तिलकर्मजरी को सम्पूर्ण किया^१। इसप्रकार इस अद्भुत प्रतिभाशालिनी बालिका ने एक बहुमूल्य ग्रंथ को लुप्त होने से बचा लिया।

सुन्दरी :

कवि धनपाल की बहिन सुन्दरी भी प्राकृत व संस्कृत भाषा की ज्ञाता एवं विद्वान् महिला थी। उस समय संस्कृत के अमरकोष जैसा प्राकृत में कोई ग्रन्थ नहीं था। धनपाल ने वि० सं० १०२९ (ई० ९७) में धारा नगरी में 'पाइयलच्छीनाममाला' नामक प्राकृतकोष की रचना की। बहिन सुन्दरी ने इसी ग्रन्थ से प्राकृत भाषा का अभ्यास किया। इसलिए प्राकृत भाषा के इस अमर ग्रन्थ की रचना को प्रेरणास्रोत सुन्दरी को माना जा सकता है।

अतः यह निर्विवाद है कि धनपाल की पुत्री व बहिन दोनों विदुषी तथा संस्कृत, प्राकृत भाषा की ज्ञाता थीं और साहित्य रचना में रुचि रखती थीं।

इस प्रकार दसवीं शताब्दी में भी साहित्य, भाषा तथा धर्म के क्षेत्र में श्राविकाओं और साध्वियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। वे जैन धर्म पर दृढ़ आस्था रखती थीं और प्राकृत भाषा का अध्ययन और उन्नयन करती थीं^२।

गुणासाध्वी :

आप एक उच्चकोटि की विदुषी साध्वी थीं। इनका जन्म गुजरात में हुआ था। आप संस्कृत भाषा की प्रकाण्ड विद्वान् थीं। आपने उससमय

१. प्रबन्धचिन्तामणि (धनपाल प्रबन्ध) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ० ५१

२. (अ) ब्र० प० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४३७

१८६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

के संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धर्षि सूरि के विशाल ग्रन्थ 'उपमति भव-प्रपंच कथा' का संस्कृत अनुवाद बहुत विद्वत्तापूर्ण व रोचक ढंग से किया था। इस मनोहारी कथा की रचना सिद्धर्षि महर्षि ने संवत् ९६२ में श्रीमाल नगर में पूर्ण की थी। यह श्रीमाल नगर गुर्जरोँ का प्रधान शहर था। सिद्धर्षि सूरि ने इस आलंकारिक रूपक कथा को इसी नगर में लिखा था, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है^१।

इस ग्रन्थ में भावात्मक संज्ञाओं को मूर्तिमान स्वरूप देकर विविध धर्मकथायें व नाना अवांतर कथाएँ कही गई हैं। उदाहरण के लिये नगर का नाम निवृत्तिपुर है। राजा कर्मपरिणाम, राना काल परिणति, साधु-सदागम व अन्य व्यक्ति संसारी, निष्पुण्यक आदि नाम भी रूपकात्मक हैं। इस कथा में ऐसे रोचक वर्णन हैं कि अंग्रेज कवि जॉन बनियन कृत 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' का अनायास स्मरण हो आता है।

इस आलंकारिक ग्रंथ को संस्कृत भाषा में लिखकर गुणासाध्वी ने जैन धर्म की साध्वियों में एक कीर्तिमान स्थापित किया है तथा अनेक साध्वियों की प्रेरणा का स्रोत बनी हैं। इतने प्रसिद्ध विद्वान् के ग्रन्थ का संस्कृत में लिखने का साहस करके साध्वीजी ने साहित्यिक क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया है^२।

नोट : दसवीं शताब्दी में साध्वी द्वारा लिखित यह संस्कृत ग्रन्थ आज भी भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च, इन्स्टीट्यूट पूना में सुरक्षित है जिसके हस्तलिखित अक्षर इतने सुन्दर हैं कि मानो टाइप किये गये हों।

सम्मेशिखर तीर्थ-दर्शन विभाग १ में साध्वीजी के बारे में निम्न श्लोक लिखा हुआ प्राप्त होता है :—

प्रथमादर्शल्लिखिता, साध्वी श्रुतदेवतानुकारिण्या
दुर्गस्वामिगुरूणां, शिष्यका गुणाभिधया।

१. (अ) मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास, पृ० २१०—२१२
- (ब) श्रीमती स्टीवेन्सन—हार्ट आफ जैनिज्म, पृ० ८१
२. (क) हीरालाल जैन—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान,
पृ० १७४
- (ख) जैन प्रकाश १५, अक्टूबर, १९६९ (बम्बई)

आचार्य सिद्धार्थ की प्रशस्ति में भी इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है ।

अतः इस प्रकार के उच्च आलंकारिक संस्कृत ग्रंथ का संस्कृत में ही अनुवाद करना साध्वीजी की विशेष ज्ञान—शक्ति का द्योतक है ।

साध्वीजी के जीवन के बारे में अधिक विस्तृत वर्णन प्राप्त नहीं होता है, परन्तु उनके द्वारा लिखित प्रति आज भी विद्यमान है ।

श्रीमती :

आप विश्वविख्यात आबू के कलात्मक मंदिर के निर्माता तथा राजा भोमदेव के (ई० सन् १०१०-१०६२) के मंत्री विमलशाह की पत्नी थीं । इस अद्भुत स्थापत्य कला के पीछे मंत्री विमलशाह की धर्मनिष्ठा तथा उनकी धर्मपरायणा पत्नी श्रीमती के अद्भुत त्याग की कहानी जुड़ी हुई है^१ ।

आचार्य विजयधर्मसूरि ने इस श्राविका की महिमा बताते हुए लिखा है जो यहाँ उद्धृत है—

“श्राविका श्रीमती तथा विमलशाह सुख-समृद्धि के सत्र साधन होते हुए भी चिन्तित रहते थे । श्रीमती को कोई संतान नहीं थी । अतः उन्हें अपना जीवन निरर्थक लगता था । पति द्वारा उदासी का कारण पूछने पर पत्नी ने अपनी मनोकामना व्यक्त की । अनुश्रुति के अनुसार विमलशाह ने अपनी इष्ट देवी अम्बिका की तीन दिन तक अन्न-जल त्यागकर आराधना की । मंत्रीश्वर को भक्ति तथा उनके पुण्य प्रभाव से तीसरे दिन अर्ध रात्रि को देवी ने दर्शन दिया तथा वरदान माँगने को कहा^२ । मंत्री ने दो वर—एक पुत्र प्राप्ति तथा दूसरा आबू पर्वत पर मन्दिर का निर्माण—माँगे । इस पर देवी ने कहा, “तुम्हारा पुण्य संचय एक वरदान जितना ही है” । मंत्रीश्वर ने यह बात अपनी अर्द्धांगिनी से जाकर कही ।

१. (क) आ० विजयधर्म सूरि—आबू—पृ० २४

(ख) अगरचन्दजी नाहटा—श्वेताम्बर जैन महिलाएँ—ब्र० प० चन्द्राबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३३४

(ग) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० २३०

२. आ० विजयधर्म सूरि—आबू—पृ० २४

इस पर श्रीमती ने पुत्र का मोह त्याग कर कहा, “प्राणेश्वर, संसार तो असार है, पुत्र से भी कोई महिला चिरकाल तक अमर नहीं रहती। संतान कुसंतान भी निकल सकती है और उसके दुष्कृत्यों से सात पीढ़ी बदनाम भी हो सकती है। माता, पुत्र, पति आदि तो सांसारिक जीवन के नाते हैं। पर यदि तीर्थोद्धार हुआ तो उसका पुण्य जन्म-जन्मान्तर तक रहेगा। अतः पुत्र प्राप्ति के स्थान पर मन्दिर के तीर्थोद्धार का वर देवी से प्राप्त करें”^१।

धर्मनिष्ठ श्राविका श्रीमती ने संतान प्राप्ति का मोह छोड़कर जिस महान् त्याग का उदाहरण दिया है, वह वास्तव में आदर्श व अनुकरणीय है। पुत्र प्राप्ति तथा मातृत्व पद प्राप्त करने के लिये स्त्रियाँ कई प्रकार के तप, जप करती हैं तथा सिद्ध पुरुषों से आशीर्वाद प्राप्त करती हैं। परन्तु आदर्श नारी श्रीमती ने अपने व्यक्तिगत क्षणिक सुख को समष्टि के सुख-आनन्द के लिये न्योछावर कर दिया और इस त्याग की नींव पर ई० सन् १०३२ में एक ऐसे जिनालय का निर्माण हुआ, जिसके समान स्थापत्य कला का दूसरा उदाहरण संसार में मिलना दुर्लभ है।

श्रीमती के इस त्याग की महिमा जैन इतिहास में सुवर्ण अक्षरों में लिखी जाने योग्य है^२।

पाहिनी :

माता पाहिनी तथा पिता चाचिग के पुत्र हेमचन्द्राचार्य जैन धर्म के सर्वतोमुखी तथा विलक्षण प्रतिभा वाले आचार्य हुए^३। ई० सन् की ग्यारहवीं शताब्दी में (सन् १०८८ में) गुजरात में जैन धर्म को राज्य धर्म के शिखर पर पहुँचाने वाले आचार्य के संबंध में जैनेतर विद्वद्दरसन पीटर्सन ने अपना अभिप्राय इन शब्दों में व्यक्त किया है—

“आचार्य हेमचन्द्र इज द ओसन आफ द नालेज”^४

१. आ० विजयवर्म सूरि—आबू—पृ० २४
२. (क) वही, पृ० २५
(ख) अगरचन्दजी नाहटा—श्वेताम्बर जैन महिलाएँ—पृ० ३३४
३. डॉ० जी० बुलर—हेमचन्द्राचार्य—जीवनचरित्र—अनु० कस्तूरमल बाठिया—पृ० १०
४. मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० २३३-२३४

हेमचन्द्र का जन्म व बाल्यकाल—गुजरात के धंधूका नामक नगरी (वर्तमानअहमदाबाद) के धार्मिक गृहस्थ चाचिग की धर्मपत्नी पाहिनी ने इस पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र-जन्म से पूर्व माता को रात्रि में एक स्वप्न आया कि उसने एक चिन्तामणि रत्न अपने गुरु देवचन्द्र मुनि को भेंट किया। इस स्वप्न का अर्थ गुरु से पूछने पर उन्होंने बताया कि तुम्हें शीघ्र ही पुत्ररत्न प्राप्त होगा^१। यथासमय पाहिनी ने एक तेजस्वी पुत्र को (वि. सं. ११४५ ई० सन् १०८८ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा) जन्म दिया जिसका नाम चांग रखा गया। बालक चांग शनैः शनैः बड़ा होने लगा। एक समय माता पाहिनी बालक चांग के साथ जिन-मंदिर में देव-पूजा करने गई। बालक चांग खेलते हुए उपाश्रय में देवचन्द्र मुनि के पीठ (प्रवचन देने का पाट) पर जा बैठा। गुरु देवचन्द्र ने विशिष्ट लक्षणों वाले बालक को देखकर उसे शिष्य रूप में प्राप्त करने की इच्छा माता पाहिनी के सामने रखी एवं पाहिनी को स्वप्न की बात का स्मरण कराया^२। (साधुओं की परम्परा में चांगदेव के दीक्षित होने की कई प्रकार की कथाएँ प्रचलित हैं)। पाहिनी इस सुझाव से अवाक् रह गई परन्तु गुरु पर श्रद्धा तथा उनके अत्यधिक आग्रह से प्रभावित होकर उसने अपनी इच्छा न होते हुए भी गुरु को अपना पुत्र भेंट कर दिया। गुरु देवचन्द्र बालक चांग को लेकर स्तम्भतीर्थ (खंभात) की ओर विहार कर गये और खंभात के पार्श्वनाथ मंदिर में बालक चांग को दीक्षित किया। उस समय तत्कालीन गुजरात के सुप्रसिद्ध मंत्री उदयन भी दीक्षा महोत्सव में सम्मिलित हुए। दीक्षा के पश्चात् चांगदेव का नाम 'सोमचन्द्र' रखा गया^३। आचार्य मेस्तुंग के वर्णन के अनुसार इस विशिष्ट बालक को देखकर उन्होंने नगर के प्रतिष्ठित श्रावकों को इकट्ठा किया और सब चाचिग श्रावक के यहाँ गये। पति की अनु-पस्थिति में श्राविका पाहिनी ने संघ के श्रावकों का आदरपूर्वक उचित स्वागत किया। आचार्य देवचन्द्र ने कहा, "संघ के श्रावक तथा ज्ञाति के लोग तुम्हारे पुत्र को संघ की सेवा के लिये माँगना चाहते हैं।" इस प्रकार की याचना से वह अपने को गौरवान्वित मानती हुई हर्षाश्रुओं से गद्गद् हो गई। पाहिनी ने पहले तो इस माँग को स्वीकार करने में

१. डॉ० जी० बुलर—हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र—पृ० १०

२. वही।

३. वही, पृ० ११

अपनी असमर्थता प्रकट की तथा संघ के श्रावकों को विनयपूर्वक कहा कि “मेरे पति उपस्थित नहीं हैं और वे अन्य मत वाले हैं”^१ पर कौटुम्बिक श्रावकों का आग्रह वह टाल न सकी, क्योंकि वे सब तो होनहार बालक को संघ की तथा जैन शासन की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये माँग रहे थे। कुछ समय के लिये माता के हृदय में वात्सल्य और श्रद्धा का संग्राम चल पड़ा, पर अन्त में धार्मिक श्रद्धा की ही विजय हुई। माता पाहिनी ने आचार्यश्री के चरणों में अपने प्रिय पुत्र को समर्पित कर अपने जीवन को धन्य बनाया। जब पिता चाचिग को इस घटना का पता चला तो वे क्रोधित हो खंभात आचार्यश्री के पास गये, पर राज्यमंत्री उदयन के वात्सल्यपूर्ण व्यवहार तथा पुत्र के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना ने उन्हें शान्त किया और वे दीक्षा महोत्सव में भी सम्मिलित हुए^२।

अतः हेमचन्द्राचार्य के बाल्यकाल के रोचक तथा परस्पर विरोधी कथानक प्राप्त होते हैं। पर इस बात का समर्थन सभी कथानक करते हैं कि देवचन्द्र मुनि ने चांगदेव को उसकी माँ से भिक्षा में माँगकर प्राप्त किया था। गुरु ने माता की वात्सल्य भावना तथा धर्मश्रद्धा का बुद्धि-कौशल्य से लाभ उठाकर अपना ध्येय पूर्ण किया^३।

प्रभावक चरित्र में स्वप्न की बात जो कही गई है, वह जैनधर्म में स्वप्नों पर प्रचलित विश्वास के कारण कही गई प्रतीत होती है। महान् व्यक्ति के जन्म के पूर्व ही माता को स्वप्न द्वारा विशेष विवरण प्राप्त होते हैं। चाचिग द्वारा पुत्र को लौटा लाने के प्रयत्न के पीछे शायद यह प्रेरणा भी रही हो कि स्वर्ग में सुख शांति की प्राप्ति के लिए पुत्र द्वारा पिण्डदान दिया जाना, भारतीय संस्कृति में आवश्यक माना गया है और इसलिये उन्होंने पुत्र की असमय दीक्षा का विरोध किया हो।^४

मुनि सोमचन्द्र विद्याभ्यास में आशातीत प्रगति करने लगे। उन्होंने व्याकरण, अलंकार, कोष, न्यायदर्शन, ज्योतिष, त्रिषष्टिशलाकापुरुष आदि

१. (क) डॉ० जी० बुलर—हेमचन्द्राचार्य का जीवन चरित्र—पृ० ११

(ख) मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० २३३

२. डॉ० जी० बुलर—हेमचन्द्राचार्य का जीवन चरित्र—पृ० १२

३. प्रबन्ध चिन्तामणि (धनपाल प्रबन्ध), पृ० २०७

डॉ० जी० बुलर—हेमचन्द्राचार्य जीवन का चरित्र—पृ० १०३

४. वही, पृ० १४

सभी विषयों पर ग्रन्थ रचना कर जैनधर्म के साहित्य का भंडार भर दिया। २१ वर्ष की उम्र में वि. सं. ११६६ में आप आचार्य पद से विभूषित हुए और 'आचार्य हेमचन्द्र' नाम दिया गया।

प्रभावक चरित्र नामक प्रबन्ध ग्रन्थ में यह वर्णन प्राप्त होता है कि पुत्र के आचार्य पद प्राप्त करने के पश्चात् पाहिनी साध्वी समुदाय में दीक्षित हो गईं और बहुत काल तक चरित्र धर्म पालन कर वि. सं. १२११ के लगभग अपनी इहलीला समाप्त कीं।

तत्कालीन गुजरात में जैन संघ के विशेष वर्चस्व की स्थापना हेमन्द्राचार्य ने की। भारतीय धर्मपरायण महिला के मन में पुत्रैषणा के साथ ही पुत्र के धार्मिक इष्ट मंगल और कीर्तिमान होने की भावना स्वाभाविक ही रहती है। इसीलिये माता पाहिनी ने अपने हृदय के टुकड़े को जैन धर्म की सेवा के लिये समर्पित किया। माता ने अपने वात्सल्य को व्यापक धरातल देते हुए धर्म शासन की वृद्धि की भावना से प्रेरित होकर संकुचित पुत्र स्नेह की भावना त्यागकर समष्टिवादी दृष्टि अपनाई। यह बहुत बड़ा त्याग एक धार्मिक माता ने किया, जो कि मनो-वैज्ञानिक धरातल पर भी अपना विशिष्ट महत्व रखता है।

जैन धर्म में सूर्य के समान सदा चमकने वाले इस महान् विद्वान् के प्रभाव से जैन धर्म व संघ का सभी दिशाओं में विकास हुआ।

आचार्य हेमचन्द्र जैसे प्रकाण्ड विद्वान् को जन्म देने वाली माता धन्य है। पाहिनी जैसी माता के त्याग ने ही पुत्र को इतिहास में सदा के लिए अमर कर दिया।

काश्मीरी :

गुजरात (पाटण) के सोलंकी वंश के राजा कुमारपाल की माता काश्मीरी देवी राजा त्रिभुवनपाल की पत्नी थी। माता ने बाल्यकाल से ही पुत्र को कठिनाइयों का सामना करने की शिक्षा दी थी। माता को यह आशंका थी कि कहीं पुत्र का अमंगल न हो इसलिये पुत्र वियोग को सहन कर वह अपना जीवन अधिकतर धर्मध्यान में व्यतीत करती थी। काश्मीरी देवी के प्रेमलदेवी और देवलदेवी नामक दो विदुषी कन्याएँ

१९२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

थीं, परन्तु उनका अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता है^१। कुमारपाल ने अपने धर्म गुरु हेमन्द्राचार्य को उच्च सम्मान दिया था। अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाज में तथा नागरिकों में जैन धर्म के प्रति श्रद्धा थी। श्राविकाएँ मंदिरों एवं उपाश्रयों में साध्वियों से व्याख्यान सुनने जाया करती थीं।

मुनि जिन विजयजी के शब्दों में—

‘महर्षि हेमचन्द्र के काल में गुजरात में जैन धर्म की स्थिति केवल सुदृढ़ ही नहीं हुई थी किन्तु कुछ समय के लिए वह राज्य धर्म भी बन गया था। श्रावक श्राविकाओं ने भी इस धर्म को अपना कर अपना आत्म कल्याण किया^२।’

कुमारपाल ने अपने आध्यात्मिक गुरु हेमचन्द्र से विक्रम संवत् १२१६ ई० सन् ११६० में संघ के समक्ष जैन धर्म स्वीकार किया।

भोपाला :

कुमारपाल के तीन रानियों में से भोपाला देवी का ही विवरण प्राप्त होता है। राज्य प्राप्ति से पूर्व जब वे जयसिंह के डर से इधर-उधर घूमते थे तब यही रानी उनके साथ थी।^३

यह रानी उनके सुख-दुःख में हमेशा साथ रही और उन्हें बहुत सहयोग दिया। रानी पर भी आचार्य हेमन्द्राचार्य का बहुत प्रभाव था। इस धर्मपरायणा रानी भोपाला देवी के एक पुत्र था, जिसका नाम लीलू था। जनश्रुति के अनुसार आचार्य हेमन्द्राचार्य के ई० सन् ११७२ में हुए स्वर्गवास के पश्चात् रानी को अपने पति की मृत्यु का भी दाहण दुःख सहना पड़ा था।^४

१. (क) विजयमुनि—आचार्य हेमचन्द्र और सम्राट कुमारपाल—श्री रत्नमुनि ग्रन्थ—पृ० ४३३

(ख) मुनि जिनविजयजी—राजर्षि कुमारपाल—पृ० १९

(ग) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० २३२

२. (क) डा० जी० वुलर—हेमन्द्राचार्य—जीवन चरित्र—अ. ७, पृ० ६५

(ख) राजर्षि कुमारपाल—मुनि जिनविजयजी स्मृति ग्रन्थ—पृ० २०४

३. देखें—चालुक्य कुमारपाल—पृ० १३४

४. डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—पृ० २३५

मीनलदेवी :

आप गुजरात के चालुक्य नरेश जयसिंहसिद्धराज की माता तथा राजा कर्ण की रानी थीं। आप जैन धर्म पर आस्था रखती थीं। इन्होंने राजा के प्रधानमंत्री भुंजाल महेता के, जो ओसवाल जैन थे, मार्गदर्शन में कई धार्मिक कार्य किये^१। राजमाता मीनलदेवी ने ई० सन् ११०० के आसपास वरूम गाँव में 'मानसून' झील बनवाई थी। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में राजमाता मीनलदेवी का बहुत योगदान था। माता की धार्मिकता का प्रभाव पुत्र जयसिंह पर भी बहुत था। राजा सिद्धराज ने जैन तीर्थ शत्रुजंय की यात्रा करके आदिनाथ जिनालयको बारह ग्राम समर्पित किये थे। सिद्धपुर में रायविहार नामक सुन्दर आदिनाथ जिनालय तथा गिरिनार तीर्थ पर भगवान् नेमिनाथ का मंदिर बनवाने का श्रेय राजा जयसिंह को है। ई० सन् १०९४-११४३ में जैन धर्म को गुजरात में राज्याश्रय प्राप्त था^२।

आनंद महत्तरा एवं वीरमति गणिनी :

विद्वान् जैनाचार्यों के साहित्य सृजन में कई साध्वियों ने विशेष सहायता प्रदान की है। सातवीं शताब्दी के आचार्य जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यक-भाष्य की रचना की थी^३। उनके भाष्य पर मलधारी हेमचन्द्रसूरि ने वि. सं. ११७५ (ई० सन् १११४) में ३७ हजार श्लोक परिमाण की महत्त्वपूर्ण टीका बनाई जिसकी रचना में सात व्यक्तियों ने योगदान दिया। इनमें से दो विदुषी साध्वियों—'आनन्द महत्तरा' व 'वीरमति गणिनी' की सहायता का उल्लेख ग्रन्थकार ने स्वयं किया है।

“तत्श्चाभयकुमारगणि, धनदेवगणि, जिनभद्रगणि, लक्ष्मणगणि, विबुधचन्दादि मुनिवृन्द श्रीमहानन्दश्री महत्तरा, वीरमतीगणिष्या दिसाहाय्यात् रेरे निःश्चतमिदानी हता, वदस् यथेतन्तिष धाते, ततो धावत् धावत् गृहीत्, लगत, लगत इत्यादि भुवंता”।

इससे तत्कालीन साध्वी समाज की ज्ञान गरिमा का दिग्दर्शन होता है जिन्होंने महान् विद्वान् पंडितों को उनके लेखन-कार्य में मदद देकर

१. (क) डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ—
पृ० २३१

(ख) प्रबन्ध चिन्तामणी (धनपाल प्रबन्ध)

२. हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ द इण्डियन पीपुल—भाग ५, पृ० ४२८

३. मुनि नथमल—जैन दर्शन मनन और मीमांसा—पृ० ९०

१९४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

बहुमूल्य साहित्य सेवा की। इस टीका के अन्त में इन दोनों साध्वियों का उल्लेख महत्वपूर्ण है^१ जिससे उनकी साहित्यिक क्षमता तथा ज्ञान-गरिमा का आभास मिलता है।

शान्तिमति गणिनी :

खरतरगच्छ सम्प्रदाय के आचार्य जिनदत्तसूरि ने आपको महत्तरा पद वि. सं. १२१५ में दिया था। आपके द्वारा लिखित संग्रह की प्रति जैसलमेर भंडार में सुरक्षित है। सूरिजी साध्वियों के ज्ञानवर्धन के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। उन्होंने अपने शिष्यों के साथ शिष्याओं को भी शास्त्रोंके पठन-पाठन के लिए धारानगरी भेजा था, जो उस समय प्रख्यात शिक्षा का केन्द्र थी।

वाठिडा क्षेत्र की श्राविका ने आपसे कई गहन प्रश्न पूछे थे। इन प्रश्नों के उत्तर में आपने सन्देह-दोहावली की रचना की थी।^२

अनुपमा :

गुजरात के प्रसिद्ध बन्धु-युगल—मंत्री तेजपाल और वस्तुपाल तथा उनकी पत्नियों का जैन इतिहास में विशिष्ट स्थान है। अनुपमा इन्हीं श्रेष्ठि तेजपाल की पत्नी थीं, जो राजा वीसलदेव बघेले के मंत्री थे। उन्हें कला की विशिष्ट जानकारी थी। पति तेजपाल द्वारा ई० सन् १२३२ में निर्मित आबू के आदिनाथ मंदिर के पास देलवाड़ा के नेमिनाथ मंदिर के निर्माण-कार्य की देखरेख इसी महिला ने की थी। निर्माण कार्य में अतिविलम्ब देख वह स्वयं निर्माण-स्थान पर गई और कलापूर्ण कोतरणी के कार्य करने वाले कारीगरों को सभी सुविधाएँ प्रदान की। वास्तुकला में प्रवीण होने से उन्होंने कई सुझाव दिये, जिससे यह मंदिर भी अपनी शिल्पकला में आबू के आदिनाथ मंदिर से तुलनीय बन सका है।

इस दृष्टान्त से यह प्रतीत होता है कि उस समय गुजरात में स्थापत्य-कला की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था और धनिक वर्ग तथा राज्य-प्रमुख अपने पुत्रों के साथ पुत्रियों को भी इस कला में पारंगत करते थे^३।

१. (क) अगरचन्दजी नाहटा—चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ५७३

(ख) वही, पृ० ५७३

२. (क) वही, चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ५७३

(ख) वही, खतरगच्छ का इतिहास—पृ० ३९

३. अगरचन्दजी नाहटा—चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ५७५

स्थापत्यकला की सूक्ष्मता किसी मनोगत भाव का स्थूल प्रतीक है। कला सामग्री के बाह्य रूप से हमें उस समय की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करने में सुविधा होती है। इतने कलात्मक भव्य मंदिर की देखरेख करने तथा उस कार्य में सक्रिय मार्गदर्शन देने की निपुणता व क्षमता इस अनुपमा नारी में अवश्य रही होगी। यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि इन्होंने शत्रुजंय मंदिर-निर्माणमें भी अपने सुझाव दिये थे, जो मान्य किये गये थे^१।

अध्यात्म-रसिक पंडित देवचन्द्रजी को अठारहवीं शताब्दी के श्राविकाओं के लिखित दो पन्ने मिले हैं, जिसमें अनुपमा श्राविका के गुणगान किये गये हैं, तथा वे कितनी विदुषी एवं अध्यात्मानुभूतिपूर्ण थीं, उसका भी वर्णन है। अनुपमा वास्तव में अनुपम गुणों की भंडार थी।

नीतादेवी :

आप गुजरात के क्षत्रिय राजा शान्तिदेव के पुत्र विजयपाल की नीतिज्ञ तथा राज्य संचालन के गुणों से विभूषित रानी थीं। विद्वान् मुनि विद्याकुमार के सदुपदेश से रानी नीतादेवी ने पाटण में पार्श्व जिनेश्वर के चैत्य और पौषधशाला का निर्माण करवाया^२।

अञ्चलगच्छ की प्रमुख साध्वियाँ

सोमाई :

अंचलगच्छ की स्थापना सन् १०७९ में आचार्य आर्यरक्षित सूरिजी ने की। वे उस युग में अद्वितीय प्रतिभा के धनी थे। एक समय आचार्य विहार करते हुए 'बेपाण' नगर में आये और श्रावक कोडी एवं उसकी पुत्री सोमाई को प्रतिबोध दिये। ऐसी कहावत है कि सोमाई एक करोड़ मूल्य के सोने के गहने पहनती थी। आचार्य का 'संसार नश्वर है' यह उपदेश सुनकर उसने सब त्याग दिया और दीक्षा ग्रहण की। यह अंचलगच्छ की प्रथम महत्तरा हुई जिसका नाम 'समयश्रीजी' रखा गया। इनकी अगुवाई में अन्य महिलाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की—जिनकी संख्या एक हजार एक सौ तीस थी। महत्तरा समयश्रीजी इनकी प्रमुख थीं^३।

१. वासुदेवशरण अग्रवाल—भारतीय कला के मुख्य तत्त्व—(उद. मुनिजिन-विजय अभिनन्दन ग्रन्थ), पृ० २४६
२. (क) पं० ला० भ० गांधी—ऐतिहासिक लेख संग्रह, पृ० ३४१
(ख) जैन पाटण भंडार ग्रन्थ सूची नं० ७६, पृ० २८०
३. अंचलगच्छ का दिग्दर्शन, पृ० ११७

१९६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

अंचलगच्छ में अन्य बहुत सी महत्तरा साध्वियों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें तिलकप्रभा गणिनी, मेरुलक्ष्मी, महिमाश्रीजी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। साध्वी मेरुलक्ष्मीजी द्वारा रचित आदिनाथ स्तवन और तारंगामंडन आदि रचनाएँ प्राप्त होती हैं^१।

साध्वी गुणश्री :

आप अंचलगच्छ के धर्ममूर्ति सूरि के समय की साध्वी थीं। आपने अपनी रचना 'गुरुगुण चौबिसी' नामक गहुँलो में महोपाध्यायजी के जीवन पर विशेष प्रकाश डाला है। यह रचना गुणश्री साध्वी ने सं० १७२१ में कपडवंज में चातुर्मास में की थी^२।

इसी प्रकार अंचलगच्छ की कई साध्वियों ने ई. सन् १५०० से १७०० के बीच में कई विद्वतापूर्ण रचनाएँ कीं।

खरतरगच्छ का साध्वी एवं श्राविका संघ :

जैन धर्म का प्रसार-प्रचार राजस्थान एवं गुजरात में व्यापक रूप से हो रहा था। गुजरात के दुर्लभ राजा के समय पाटण में वर्धमान सूरि का वर्चस्व था। उनके शिष्य जिनेश्वर सूरिजी ने 'दशवैकालिक' आगम में लिखे गये साधु के नियमों से राजा को अवगत कराया था और इसलिये राजा ने उन्हें 'खरतरगच्छ' विरुद्ध से सम्मानित किया था^३।

कल्याणमति गणि :

जैन साहित्य में कल्याणमति का नाम खरतरगच्छ की प्रवर्तनी के रूप में उल्लेखनीय है। संवत् १३०५ (सन् १२४८) में जिनेश्वर सूरि ने अपनी बहिन कल्याणमति को दीक्षित कर प्रवर्तनी पद की जिम्मेदारी दी। साध्वीजी के धर्मनिष्ठ व सरल स्वभाव से आकर्षित होकर कई अन्य श्राविकाओं ने भी आपके पास दीक्षित होने की इच्छा प्रकट की तथा कई महिलाओं ने संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण की।

मरुदेवी महत्तरा :

इस तपस्विनी साध्वी ने आचार्य जिनेश्वर सूरिजी के पास ज्ञानोपाजन किया तथा चालीस दिन का संथारा ग्रहण कर देह त्याग किया।

१. जैन सत्यप्रकाश वर्ष ९, पृ० १४०१
२. सोमचन्द्र धारसी द्वारा सम्पादित पद्यावली, पृ० ३९०
३. अगरचन्द्र नाहटा—खरतरगच्छ का इतिहास—पृ० ७

सूरिजी ने बहुत भक्तिभाव से उस समाधिकाल में उन्हें सल्लेखना पाठ सुनाया था।^१

महत्तरा हेमदेवी :

इस विशेष गुणवाली साध्वीजी को आचार्य जिनचन्द्र सूरिजी ने महत्तरा पद दिया था। इनके धार्मिक प्रवचनों से आकृष्ट होकर जगश्री, सरस्वती और गुणश्री श्राविकाओं ने दीक्षा ग्रहण की। इनके समय में दिल्ली में राजा मदनपाल का राज्य था। राजा सर्व धर्मों को सम्मान देते थे व धर्माचार्यों को आश्रय देते थे।^२

तपागच्छ का आविर्भाव :

आचार्य जगतचन्द्र सूरिजी ने एक समय बारह वर्ष तक उग्र आयंबिल तप किया। उससे प्रभावित होकर मेवाड़ के राजा ने इन्हें 'तपा' विरुद्ध दिया, जिससे आगे चलकर तपागच्छ की स्थापना हुई।

इस प्रकार पूर्ववर्तीगच्छों को बुरा न कहते हुए भी त्याग, तप तथा ज्ञान के प्रभाव से साधु-मार्ग को पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए तपागच्छ की स्थापना की गई।

इस सम्प्रदाय का मुख्य ध्येय संयम के नियमों का सही ढंग से पालन करना था, जिसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। विभिन्न आचार्यों के नाम पर इस गच्छ में विभिन्न उपसम्प्रदाय भी हैं।

तपागच्छ आचार्यों व साधुओं की पट्टावली में साध्वियों के बहुत कम नाम आते हैं, जिन साध्वियों ने विशेष तप, आराधना व साहित्य-सृजन किया है, उनके नाम कहीं-कहीं प्राप्त होते हैं। उस समय की साध्वी समाज का जैन समाज में क्या स्थान था, उसका स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं होता है।^३

लोकाशाह की धर्म-क्रान्ति का तत्कालीन महिलाओं पर प्रभाव :

इस महापुरुष का जन्म माता गंगाबाई (केशरबाई) तथा पिता हेमाशाह के यहाँ ई० सन् १४५२ में गुजरात के अरहट्टवाडा शहर में

१. अग्रचन्द्र नाहटा-खरतरगच्छ का इतिहास, पृ० १२

२. वही, पृ० १२

३. श्री पट्टावली पराग संग्रह—पं० कल्याण विजय गणि ।

१९८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

हुआ। पिता स्वतन्त्र रूप से जवाहरात का धन्धा करते थे, माता धर्म-परायण और पतिव्रता महिला थी^१। बाल्यकाल से ही इनकी वैराग्य-वृत्ति थी, परन्तु माता-पिता के आग्रह के कारण सम्पन्न वणिक ओधवजी की विलक्षण विदुषी पुत्री सुदर्शना के साथ इनका विवाह हुआ। उन्हें सुखी दाम्पत्य जीवन के फलस्वरूप एक पूर्णचन्द्र नामक पुत्ररत्न भी हुआ^२। तत्कालीन राजनैतिक व सामाजिक कारणों से उन्हें अहमदाबाद जाना पड़ा और वहाँ वे प्रामाणिकता से जौहरी का कार्य करने लगे। एक बार उनके घर गोचरी के लिये गये हुए ज्ञानसुन्दरजी यति ने उनके सुन्दर अक्षरों को देखा तो वे अपने शास्त्रों की प्रतिलिपि करवाने का लोभ संवरण न कर सके और कई शास्त्रों की लोकाशाह से प्रतिलिपियाँ करवाई^३।

लोकाशाह ने शास्त्र लिखने के साथ-साथ तीव्र जिज्ञासा वृत्ति होने के कारण शास्त्र ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। आचारांग तथा दशवैकालिक जैसे सूत्रों में वर्णित साधु-संस्था के कठोर नियमों तथा उस युग में व्याप्त शिथिलाचार को देखकर लोकाशाह ने शिथिलाचार का घोर विरोध किया तथा उस युग के श्वेताम्बर जैन समाज में एक नई चेतना प्रकट की एवं तत्कालीन जैन समाज को मूर्तिपूजा की रूढ़ परम्परा को बदलने के लिए सोचने को मजबूर कर दिया^४।

उन्होंने जैन समाज के सामने मुख्यतः तीन सिद्धान्त रखे, जिनका पालन करना मुनि वर्ग के लिए अनिवार्य था, वे निम्नवत् हैं :—

१. अपरिग्रह का कट्टरता से पालन करना,
२. साधु वर्ग का जीवन मुख्यतः आत्मसाधनापरक होना, तथा
३. जैन चतुर्विध संघ का मठ-सत्ता आधारित न होकर जन आधारित होना।

उन्होंने और भी कई प्रचलित धर्म-विरुद्ध परम्पराओं का विरोध किया। इस युग-पुरुष ने इन सबका प्रमाण सहित खण्डन करते हुए इन

१. श्रीमती स्टीवनसन्—हार्ट ऑफ जैनिज्म—
२. मुनि सुशीलकुमार—जैन धर्म का इतिहास—पृ० २७४, २७६
३. पण्डित दलसुख मालवणिया—लोकाशाह और उनकी विचारधारा—उद. श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ३६६
४. मुनि श्री सन्तबालजी—स्थानकवासी जैन परम्परा—उद० श्री रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० २९९

रूढ़ियों पर कठोर प्रहार कर उन्हें समाप्त किया जैसे—महिलाओं को धर्म संघ में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी, शास्त्र पढ़ने का अधिकार भी पुरुष के समान नहीं था तथा साध्वियों को व्याख्यान देने का अधिकार भी प्राप्त नहीं था। तत्कालीन मुसलमान शासकों के पर्दा-प्रथा के कारण या अन्य सामाजिक अथवा राजनैतिक कारणों से महिलाओं के कई अधिकार जो उन्हें महावीर के काल में प्राप्त थे, प्रायः लुप्तप्राय हो गये थे। गुरु आडम्बर के कारण भी महिलाएँ अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो चुकी थीं।

लोकाशाह का मुख्य उद्देश्य साधुओं में व्याप्त शिथिलता को दूर करना था तथा वे संघ की इस कमी को सुधारने के लिए कटिबद्ध थे। लोकाशाह की इस धार्मिक क्रान्ति से साध्वियों तथा श्राविकाओं को कई अधिकार पुनः प्राप्त हुए, जिसमें व्याख्यान देना, धार्मिक चर्चा करना, ज्ञान-वृद्धि के लिये पठन-पाठन करना इत्यादि मुख्य थे। इस मौलिक क्रान्ति का असर दूर-दूर तक फैला और अनेक साधु-साध्वियाँ एवं श्रावक-श्राविकाएँ इस आडम्बर विहीन त्यागमार्ग की ओर आकर्षित हुईं जिससे स्थानकवासी सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ। स्थानकवासी सम्प्रदाय स्थूल क्रिया से सूक्ष्म आत्मचिंतन की ओर जाने की प्रेरणा देता है। त्याग, तप, जप और संयम ही इस परम्परा के मूल तत्त्व हैं। शुद्ध चैतन्य तत्त्व ही इसकी साधना पद्धति का मुख्य लक्ष्य है^१।

लोकाशाह के सुधारवादी आन्दोलन के कारण महिला वर्ग में भी एक नवचेतना का संचार तो हुआ, किन्तु कौनसी प्रमुख महिलाओं ने इस आन्दोलन का साथ दिया, इसका इतिहास प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में आज भी अन्धकार के गर्भ में है। यद्यपि इस आन्दोलन के परिणाम स्वरूप ही अस्तित्व में आये स्थानकवासी और तेरापन्थी सम्प्रदायों में साध्वी वर्ग की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, जिसकी चर्चा हम अग्रिम अध्यायों में करेंगे।



अध्याय सप्तम्

सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी की जैन धर्म की साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ

भावलक्ष्मी :

आप तपागच्छ की महत्तरा 'रत्नचूला' की शिष्या थीं तथा रतनसिंह सूरि (संसार पक्ष से भाई) की प्रेरणा से दीक्षित हुई थीं । आप गुजरात के पोरवाड वंशीय पिता सालाहा तथा माता झबक की सुन्दरी नामक पुत्री थीं । सांसारिक सुख इन्हें आकर्षित नहीं कर सके और महत्तरा रत्नचूला के सान्निध्य में दीक्षा ग्रहण कीं तथा इनका नाम भावलक्ष्मी पड़ा । भावलक्ष्मी साध्वी का समय सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है । उदयधर्म के शिष्य ने भावलक्ष्मी धुल की रचना की । भावलक्ष्मी साध्वीजी पर जो धुल लिखी थी उसकी रचना मुकुंद द्वारा की गई प्रतीत होती है^१ । यह पुस्तक पाटण के जैन भण्डार में सुरक्षित है । यह रचना सम्वत् १५०७ (ई० सन् १४५१) में लिखी गई थी ।

आर्यिका पल्हणश्री :

मेघचंद्रश्री की शिष्या पल्हणश्री थीं । इन्होंने भगवान् आदिनाथ की ब्राह्मी, सुन्दरी पुत्रियों की तरह आत्म-साधना के प्रतीक चारित्र-धर्म का पालन कर आर्यिका पद के उच्च स्थान को प्राप्त किया था ।

पल्हणश्री अपने समय की योग्य आर्यिका थीं, जिनके सान्निध्य में अनेक श्राविकाओं ने दीक्षा ग्रहण कर धर्म-साधना की । आर्यिका पल्हणश्री ने हुमायूँ के समय में एक नई गृहस्थ शिष्या परम्परा कायम की, जो काफी समय तक चलती रही । इनमें प्यारीबाई, गौरीबाई, सविरीबाई, सुरसरीबाई आदि शिष्याओं का उल्लेख सोनीपत नगर में लिखे गये एक गुटके में हुआ है । इसी परम्परा की एक शिष्या तंबोलीबाई ने चौवीस ठाणे की सचिका लिखवाई ।

अब तक आचार्यों, भट्टारकों, मुनियों और विद्वानों की शिष्य परम्परा

१. श्री अगरचन्द्रजी नाहटा द्वारा लिखित-सुधर्मा अंक १५-१०-७०, पृ० २८

१६-१८वीं शताब्दी की जैन धर्म की साध्वियाँ व विदुषी महिलाएँ : २०१

का ही उल्लेख प्राप्त होता है, पर आर्यिका की शिष्या परम्परा का उल्लेख ११-१२ हजार पाण्डुलिपियों के सर्वेक्षण करने पर भी कहीं देखने में नहीं आया था। यह पहला अवसर है, जो आर्यिका पल्हणश्री की शिष्या परम्परा का उल्लेख एक गुटके में देखने को मिला।

विनयचूला गणिनी :

धर्मपरायण, काव्य प्रवीण साध्वी विनयचूला हेमरत्न सूरि की शिष्या थीं। साहित्य क्षेत्र में जहाँ एक ओर साधु समाज का बहुत बड़ा योगदान माना जाता है, वहाँ साध्वियों को इससे अच्छा नहीं माना जा सकता।

आगम-गच्छ के आचार्य हेमरत्न सूरि से सम्बन्धित काव्य 'फागु' को इनकी शिष्या ने ११ पद्यों में लिखा है, जिसका लेखन संवत् १५१३ (सन् १४५६) के आसपास माना गया है। 'फागु' रचना में 'विदुषी' शब्द के प्रयोग से सिद्ध होता है कि 'विनयचूला गणिनी' गुणवान और काव्य-प्रवीण साध्वी थीं।

'फागु' काव्य अधिकांशतः साधुओं और श्रावकों द्वारा रचित ही पाये गये। आचार्य हेमरत्न सूरि 'फागु' एक साध्वी के द्वारा रचित होने से विशेष उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत काव्य में वसंत वर्णन या वसंत ऋतु में गाये जाने वाले गीतों की प्रधानता है जो उत्कृष्ट भावों को लिए हुए हैं।

आर्यिका रणमति :

महाकवि पुष्पदन्त द्वारा लिखित जसहर चरित नामक अपभ्रंश चरित-काव्य पर इन्होंने यशोधर चरित टिप्पणी संस्कृत में लिखी^२, जिसके अन्त में यह वाक्य लिखा हुआ है—

“इति श्री पुष्पदन्त यशोधर काव्य (‘‘‘टिप्पण) अर्यिका श्री रणमति कृत सम्पूर्णम्”।

टिप्पणी के इस वाक्य से टिप्पण ग्रन्थ की रचयित्री आर्यिका रणमति हैं, यह सिद्ध होता है। इसकी रचना सं० १५६६ (ई० सन् १५०९) में हुई है, ऐसा मान्य किया जाना चाहिये।

१. श्री अगरचन्दजी नाहटा—सुधर्मा अंक १५-१०-७०—विनयचूला रचित हेमरत्न-सूरि 'फागु' (लेख)
२. ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ-पृ० ४८०

२०२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

यशोधर चरित टिप्पणी की खंडित प्रति देहली के पंचायती मन्दिर के शास्त्र भंडार में मौजूद है। यशोधर चरित में वर्णित हिंसा के दोष और अहिंसा के गुण का वर्णन जैन साहित्य में बहुत लोकप्रिय हुआ है। उस विषय पर संस्कृत में सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू से लगाकर १७वीं शताब्दी तक लगभग ३० ग्रन्थ रचे गये हैं। काव्य-कला की दृष्टि से अपभ्रंश में पुष्पदन्त कृत 'जसहर चरित' सर्वश्रेष्ठ है।

आर्यिका रत्नमति ने महाकवि की अपभ्रंश रचना का संस्कृत अनुवाद किया इससे उनकी विद्वत्ता का आभास होता है^१।

आर्या रत्नमति :

संस्कृत में 'सम्यक्त्व-कौमुदी' की रचना कई विद्वान् कवियों ने की थी। इस ग्रन्थ का गुजराती में अनुवाद आर्या रत्नमति ने किया है^२। इस ग्रन्थ की पत्र संख्या ८९ है। यह लघु कथाओं का एक कोष है। इस ग्रन्थ में सम्यक्त्वोत्पादक^३ आठ कथाएँ दी हुई हैं। जिन्हें अर्हदास सेठ अपनी आठ पत्नियों को सुनाकर बताता है कि उसे किस प्रकार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और फिर पत्नियाँ अपने अनुभव सुनाती हैं। इसी के साथ प्रसंगवश अनेक अवांतर कथाएँ भी यथास्थान दी गई हैं। दूसरे शब्दों में यह ग्रन्थ संस्कृत सम्यक्त्व-कौमुदी का गुजराती पद्यानुवाद है। इस गुजराती ग्रन्थ की रचयित्री आर्या रत्नमति हैं।

आर्या ने यह रास गुरुवर्या आर्या चन्द्रमती की आज्ञा से तथा आर्या विमलमती की प्रेरणा से रचा था।

यह रचना विक्रम की १६वीं शताब्दी के मध्यकाल की जान पड़ती है^४।

यह ग्रन्थ ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन जालरा-पाटण के शास्त्र भंडार में सुरक्षित है^५।

सोलहवीं शताब्दी में जैन साध्वियों तथा आर्यिकाओं को भाषा का

१. डॉ० हीरालाल जैन-भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान-पृ० १५८
२. ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ४८०
३. डॉ० हीरालाल जैन-भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान—पृ० १७८
४. जैनधर्म के सिद्धान्तों को जीवन में पालन करने को सम्यक्त्व प्राप्ति कहा गया है।
५. ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ४८०, ४८२

१६-१८वीं शताब्दी की जैन धर्म की साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : २०३

अच्छा ज्ञान था तथा कई भाषाओं में ग्रन्थों की रचना एवं अनुवाद भी कर लेती थीं, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मौजूद है।

उस समय भारत पर मुसलमानों के हमले होते रहते थे तथा कई राजकन्याओं को मुसलमान विजेता पकड़ कर दासियाँ बना लेते थे। इसी कारण सती-प्रथा का भी अधिक प्रचार हुआ। ऐसे कठिन समय में भी जैन साध्वियाँ आचार्यों तथा धर्मनिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के संरक्षण में रहकर अपना धर्म ध्यान निडरता से करती रहती थीं।

मुगल काल में साध्वियाँ एवं श्राविकाओं का अस्तित्व :

मुगल-राज्यकाल में उत्तर भारत में जैनधर्म के दो श्वे० सम्प्रदायों के साधु वर्ग अपने धर्म का प्रचार करते हुए दिखाई देते हैं। बुद्धिसागरजी तपागच्छ एवं साधुकीर्ति खरतरगच्छ सम्प्रदाय के थे। दोनों जैनधर्म के सिद्धान्तों के बारे में अकबर से दरबार में चर्चा करते रहते थे।

इसके पश्चात् हीरविजय सूरि जो अकबर के निमंत्रण पर फतेहपुर सीकरी आये थे, उन्होंने जैनधर्म के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों से जैन धर्म की महत्ता पर प्रकाश डालकर अकबर को प्रभावित किया था।

चम्पा श्राविका का तप :

एक समय राजधानी में एक बहुत बड़ा जुलूस निकला। दरबारियों से इस जुलूस की माहिती प्राप्त करने पर पता चला कि जैन धर्म पालन करने वाली एक श्राविका ने छः महीने के उपवास किये हैं और उसके तप को बहुमान देने के लिए यह उत्सव मनाया जा रहा है। अकबर इस उत्कृष्ट तप से बहुत प्रभावित हुआ। उसकी सच्चाई स्वयं देखने के लिए उसने चम्पा श्राविका को अपने महल में रखा, जहाँ उसने लम्बी अवधि तक उपवास कर अकबर बादशाह को आश्चर्यचकित कर दिया।

जितने दिन उसने व्रत रखा बादशाह ने राज्य में अमारि (जीव हिंसा बन्द) का आदेश दिया। अतः अन्य धर्मों के साथ-साथ अकबर के राज्य में जैन धर्म के आचार्यों का बहुत आदर था और अकबर ने जैन तीर्थ यात्रियों पर लगने वाला जजिया कर भी माफ कर दिया था।

२०४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

नोट :—चम्पा श्राविका का यह वृत्तान्त, पर्युषण पर्व के पहले आज भी व्याख्यान में पढ़ा जाता है।

तेरापंथी सम्प्रदाय में साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ :

इस सम्प्रदाय की शुरुआत राजस्थान में आचार्य भिक्षु ने की थी। इसमें कई प्रसिद्ध साध्वियाँ हुई हैं।

माता दीपाबाई :

आप ओसवाल समाज के शाह बालूजी की धर्मपरायणा पत्नी थीं। बालक भोखणजी जब गर्भ में थे तब माता ने सिंह का स्वप्न देखा था। विलक्षण बुद्धिवाले इस बालक के यौवन वय में आने पर माता-पिता ने उसका विवाह कर दिया। परन्तु कुछ वर्षों पश्चात् पिता एवं पत्नी का देहान्त हो गया। संसार की इस गति को देख भोखणजी को वैराग्य उत्पन्न हुआ और माता को बहुत समझा-बुझाकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। माता दीपाबाई ने अपने वैधव्य दुःख से दुःखी होते हुए भी पुत्र के कल्याण मार्ग को प्रशस्त किया^१।

दीपाबाई के इस महान् त्याग ने नारी जाति का मस्तक उन्नत किया तथा भारतीय संस्कृति में त्याग तपस्या की एक विभूति और जुड़ गई। उनका यह महान् त्याग हजारों मनुष्यों के कल्याण का कारण बना।

अब्बुजी का विशेष प्रण :

आचार्य भोखणजी ने सर्वप्रथम अब्बुजी तथा अन्य दो साध्वियों को दीक्षा दी। साध्वी नियमों के अनुसार तीन से कम साध्वियों का रहना नियम विरुद्ध था। अतः आचार्य ने तीनों साध्वियों को दीक्षित करने के पहले इस बात का स्पष्टीकरण मांगा। इस पर इन निडर साध्वियों ने प्रण किया कि हम में से यदि कोई भी साध्वी काल का ग्रास हुई तो अन्य दोनों भी संथारा करके प्राण त्याग कर देंगीं। अतः इस प्रकार तीन साध्वियों के अटल संकल्प से तेरापंथी साध्वी समुदाय की शुरुआत हुई।

वर्तमान साध्वी-संस्था में सबसे अधिक व्यवस्थित एवं अनुशासन को पालने वाली पाँच सौ साध्वियाँ एक प्रवर्तनी कनकप्रभाजी की आज्ञा में रहती हैं। आचार्य तुलसी का यह साध्वी संघ ज्ञान, ध्यान एवं बुद्धि में

१. तेरापंथ का इतिहास, खण्ड १, पृ० २१-२४

१६-१८वीं शताब्दी की जैन धर्म की साध्वियाँ एवं विदुषी महिलाएँ : २०५

वर्तमान के अन्य साध्वी संघों में विशिष्ट स्थान प्राप्त किये हुए हैं। कई विदुषी साध्वियों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना भी की है।

तेरापंथ सम्प्रदाय आत्मानुशासन का एक अलभ्य उदाहरण है। प्रारंभ से आज तक (सन् १९७३) इस सम्प्रदाय में दीक्षा लेनेवालों में ६६८ साधु एवं १३०५ साध्वियाँ हुई हैं।

सरदार सतियाजी का जीवन बहुत क्रान्तिकारी था। उन्होंने कई परिवर्तन साध्वी जीवन में किये। आज भी ५०० विदुषी साध्वियों का इनका यह संघ जहाँ भी जाता है अपने त्याग, तपस्या, संयम तथा विलक्षण बुद्धि से जनता को प्रभावित करता है^१।



१. तेरापंथ का इतिहास, खण्ड १, पृ० ३७

परिशिष्ट
समकालीन जैन साध्वियाँ

[इस शोध प्रबन्ध को अद्यतन बनाने के लिये १९वीं एवं २०वीं शती की प्रमुख जैन साध्वियों पर प्रकाशित कुछ लेखकों के आलेखों को हमने परिशिष्ट के रूप में इसमें सम्मिलित कर लिया है। जिन लेखकों एवं प्रकाशकों के आलेख इसमें समाहित किये गये हैं उनके हम आभारी हैं।

—सम्पादक]

दिगम्बर सम्प्रदाय की अर्वाचीन आर्यिकायें^१

—आर्यिका ज्ञानमती माताजी

आ० अभयमती माताजी

आप आचार्य धर्मसागर महाराज की शिष्या हैं। आपका जन्म सन् १९४३ में हुआ। आपके पिता का नाम श्री छोटेलाल था। सन् १९६३ में माताजी ज्ञानमतीजी ने आपको क्षुल्लिका दीक्षा प्रदान की। सन् १९६९ के फाल्गुन महीने में आपका संघ विहार करता हुआ 'श्री महावीरजी' आ गया। मुनि धर्मसागर जी ने पंचकल्याणक सम्पन्न कराया एवं आपको आर्यिका दीक्षा प्रदान की। आपने अपने २० वर्ष के दीक्षित जीवन में आचार्यों द्वारा रचित कई ग्रन्थों के पद्यानुवाद किये तथा स्वयं भी छोटी-छोटी १०-१५ पुस्तकों की रचना की।

आर्यिका अनन्तमती जी

आर्यिका अनन्तमती जी के पार्थिव शरीर का जन्म १३ मई १९३५ ई० के दिन स्थानकवासो मान्यता विश्वासी श्री मिट्ठनलाल जी एवं श्रीमती पार्वती देवी के घर गढ़ीगाँव में हुआ था। दिगम्बर श्रमण परम्परा से प्रभावित होकर इलायची देवी ने आचार्य देशभूषण से १८ वर्ष की अवस्था में आर्यिका दीक्षा ली और आर्यिका अनन्तमती संज्ञा से विभूषित हुई।

आर्यिका आदिमती जी

राजस्थान के भरतपुर मण्डलान्तर्गत कामा निवासी श्री सुन्दरलाल जी एवं श्रीमती मोनीबाई की पुत्री मैनाबाई का विवाह मथुरा निवासी श्री कपूरचन्द्र जैन से हुआ किन्तु दुर्भाग्य से उन्हें एक वर्ष बाद ही वैधव्य ने आ घेरा। संसार को असार जान उन्होंने वि० सं० २०१७ में कम्पिला-जी की पावन धरा पर क्षुल्लिका दीक्षा ली। तदुपरान्त व्रतों का पालन करते हुए चारित्र्य की अभिवृद्धि की जिसके परिणामस्वरूप

१. पूज्य आर्यिका रत्नमती अभिनन्दन ग्रन्थ से साभार।

२१० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

वि० सं० २०२१ में मुक्तागिरि पावन क्षेत्र पर आचार्यश्री विमलसागर जी से आर्यिका व्रत ग्रहण कर आदिमती नाम से विख्यात हुई ।

आर्यिका अरहमती जी

वीरगाँव के निवासी श्री गुलाबचन्द्र जी एवं श्रीमती हरिणीबाई की सन्तान वीरबाला कुन्दनबाई को वैधव्य जीवन में विरक्ति की भावना जागृत हुई । फलस्वरूप वि० सं० २०२० में मुनिश्री सुपाईर्वसागर से क्षुल्लिका दीक्षा और एक वर्ष पश्चात् ही वि० सं० २०२१ में आचार्यश्री १०८ शिवसागर महाराज से शान्तिवीर नगर महावीर जी क्षेत्र पर आर्यिका दीक्षा लेकर चरम लक्ष्य प्राप्त कर लिया । आचार्य प्रदत्त आर्यिका दीक्षा की अरहमती संज्ञा है ।

क्षुल्लिका अरहमती माताजी

‘जिसने संसार को असार देखा उसने सार पा लिया ।’ संसार को असार देखने वाली क्षुल्लिका अरहमती का जन्म वीरमगाँव में हुआ था । बचपन का नाम कुन्दनमती था । इनके पिता खण्डेलवाल जप्तोय श्री कुन्दनलाल जैन हैं । दीक्षा मुनिश्री १०८ सुपाईर्वसागर महाराज से रामपुर में ग्रहण की थी । सम्प्रति क्षु० अरहमतो लक्ष्यप्राप्ति में संलग्न हैं ।

आर्यिका श्री इन्दुमती जी

राजस्थान प्रान्तान्तर्गत ‘नागौर’ मण्डल के डेह ग्राम के निवासी श्री चरणमल जी पाटनी की धर्मपत्नी ने वि० सं० १९६४ में एक नन्हीं-मुन्नी को जन्म दिया था, जिसका नाम मोहिनीबाई रखा गया । मोहिनी बाई का विवाह १२ वर्ष की अल्पायु में श्री चम्पालाल सेठी जी के साथ बारसोई (पूर्णियाँ) में हुआ था किन्तु दुर्भाग्यवश छः महीने के अनन्तर पति का देहान्त हो गया । पति वियोग ने मोहिनी की दिशा परिवर्तित कर दी । वह प्रेयमार्ग से हटकर श्रेयमार्ग की ओर उन्मुख हुई, जिससे उन्होंने आचार्यकल्प श्री १०८ चन्द्रसागर जी महाराज से सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये । वि० सं० २००० मिति आश्विन सुदी ११ को क्षुल्लिका दीक्षा ली । मुनिश्री के स्वर्गारोहण के बाद आपने आचार्यश्री वीरसागर जी से आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर इन्दुमती रूप अभिधान को अलंकृत किया ।

आर्थिका कनकमती माताजी

टीकमगढ़ जनपद के बड़ागाँव में दि० गोलापूर्व जाति के श्री हजारी-लाल जी जैन एवं श्रीमती परमाबाई की बालिका का नाम चिरोजाबाई था। चिरोजाबाई का विवाह बारह वर्ष की अल्पायु में हुआ था किन्तु दुर्भाग्य से ये १६ वर्ष की अल्पायु में ही विधवा हो गयीं। अनन्तर आचार्यश्री १०८ विमलसागर जी महाराज की सत्संगति से आप में वैराग्य प्रवृत्ति जागृत हुई। आपने शिवसागर महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर ली। अनन्तर वैसाख सुदी ११ सं० २००९ के दिन शान्तिवीर नगर में श्री महावीर जी की परमपावन धरा पर आचार्य १०८ शिवसागर महाराज से आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर स्वयं को धन्य किया।

आर्थिका कल्याणमती जी

उत्तर प्रदेश प्रान्त के अन्तर्गत मुबारिकपुर (मुजफ्फरनगर) नामक ग्राम के श्री समर्यासिंह एवं श्रीमती समुद्रीबाई की विलासमती नाम की पुत्री थी। विलासमती की शिक्षा साधारण हुई थी और विवाह भी हुआ था। आ० सन्त गणेशप्रसाद वर्णी की सत्संगति के कारण विलासमती के हृदय में वैराग्य प्रवृत्ति जाग उठी फलस्वरूप सम्मेदशिखर के परमपावन स्थल पर सातवीं प्रतिमा के व्रत ग्रहण कर लिए। इसके बाद इन्होंने आचार्यश्री १०८ शिवसागर जी से वि० सं० २०२२ शान्तिनगर महावीर जी में क्षुल्लिका दीक्षा ली और कल्याणमती संज्ञा से विभूषित हो गयीं। अनन्तर आचार्यश्री शिवसागर से ही कोटा नगर के मध्य आर्थिका के महाव्रत लिए।

क्षुल्लिका कमलश्री माताजी

शान्त स्वभाव, गुरुभक्ति, धर्मप्रचार और आत्मकल्याण के साथ जनकल्याण करने वाली कमलश्री माताजी का दीक्षा के पूर्व का नाम पद्मावती था। पद्मावती का जन्म अक्षय तृतीया के दिन १९१५ ई० को वसगडे जिला कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री तासोबा सौदे और माता का नाम श्रीमती गान्धारी था। पद्मावती का विवाह श्री बाबूराव किणे के साथ ६ वर्ष की अल्प आयु में हो गया था। धर्मपरायण होने से आ० विशालमती की सत्प्रेरणा से ई० १९५५ में

२१२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

आचार्य देशभूषण महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा लेकर कमलश्री सम्पन्न अब धर्मकार्य में दत्तचित्त हैं।

क्षुल्लिका कीर्तिमती जी

आपका जन्म कुसुम्बा जिला धूलिया (महाराष्ट्र) में हुआ। पिता का नाम श्री हीरालाल ब्रजलाल शहा तथा माता का नाम श्रीमती झमकोर बाई है। १५ वर्ष की आयु में विवाह हुआ और दो बच्चे भी हुए, किन्तु संसार के प्रति अनासक्ति होने से २४ वर्ष की आयु में ही सप्तम् प्रतिमा के व्रत आचार्य देशभूषण से ग्रहण कर लिए। महाराजश्री के संघ में रह रही थीं कि फलटण में क्षु० चारित्रसागर से भेंट हुई। उनके साथ सम्मेद-शिखर में पहुँचकर आचार्यश्री विमलसागर जी से फाल्गुन शुक्ला ५ सं० २०३३ को क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर ली। आप शांतस्वभावी सतत अध्ययनशील हैं।

आर्यिका गुणमती माताजी

अतिशय क्षेत्र महावीर जी का पावन परिसर जन-जन की भावनाओं को विशुद्ध करने में परम सहायक है। इसी परिसर के मध्य श्री मूलचन्द्र जी एवं श्रीमती बदामीबाई के यहाँ एक बालिका का जन्म हुआ था। इन्होंने उस बालिका का नाम असर्फीबाई रखा क्योंकि इसके जन्म होने पर उन्हें असर्फी प्राप्त हुई थी। असर्फीबाई की लौकिक शिक्षा कक्षा ४ तक थी, किन्तु धार्मिक शिक्षा शास्त्री पर्यन्त। विवाह सेठ भँवरलाल से हुआ और दो पुत्र, एक पुत्री थी। धार्मिक संस्कार और अनेक मुनियों-आर्यिकाओं के सम्पर्क से वैराग्यरूप बीजांकुर प्रस्फुटित हुआ कि आचार्यश्री १०८ धर्मसागर से दीक्षा लेकर आर्यिका गुणमती रूपी कल्पतरु हो गया, जिसमें महाव्रत, देशसंयम आदि रूप फल फलित हैं।

आर्यिका चन्द्रमती माताजी

अनेक अरण्य, महीधर, सरिता एवं उद्यान आदि प्राकृतिक सुरम्य दृश्यों से मनोरम उत्तर प्रदेश के मैनपुरी मण्डलान्तर्गत बेलार ग्राम निवासी श्री लालाराम जी एवं श्रीमती कस्तूरीबाई नामक दम्पति से आपके पार्थिव शरीर का उदय हुआ था। आपका जन्मकाल अगहन कृष्णा २ विक्रम सं० १९८२ है और बचपन का नाम चन्द्रकली है। संसार की असारता देखकर स्वयं वैराग्य भावना से प्रेरित होकर आर्यिका

विमलमती एवं आर्थिका विजयमती की उपस्थिति में गुरुवर्य से अपनी ३० वर्ष की अल्पायु में आर्थिका नाम्नी जिनदीक्षा ग्रहण की थी। वर्तमान में जिनेन्द्रमार्ग का प्रचार-प्रसार करती हुई आत्मसाधनारत हैं।

आर्थिका चन्द्रमती माताजी

भवभ्रमण से मुक्त होने का संकल्प सुलोचना बाई ने किया। सुलोचना बाई जैन केसरिया (ऋषभदेव) राजस्थान निवासी श्री अमरचन्द्र जैन एवं ललिताबाई जैन की संतान हैं। इनका जन्म कार्तिक वदी अमावस्या वीरनिर्वाण के शुभ दिन हुआ था। सुलोचना बाई के संकल्प ने माघ सुदी ३ सं० २०३२ के शुभमुहूर्त में १०८ आचार्यश्री सुमतिसागर महाराज से आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर साकाररूपता प्राप्त की। आर्थिका महाव्रत ग्रहण के अनन्तर गुरुप्रदत्त चन्द्रमती नाम को सार्थक करती हुई धर्म भावना में तत्पर हैं।

आर्थिकाश्रेष्ठ चन्द्रमती माताजी

महाराष्ट्र प्रान्त के पूना मण्डलान्तर्गत वालहेगाँव में माता चन्द्रमती का जन्म हुआ था। गृहस्थ जीवन में आपको केसरबाई नाम से पुकारा जाता था। आचार्य शान्तिसागर जी महाराज ने केसरबाई को सत्पात्र विचार कर दीक्षा दे दी। महाराजश्री ने अनेक महिलाओं को अनेकशः प्रार्थना करने पर भी दीक्षा नहीं दी थी किन्तु केसरबाई को यह कहकर दीक्षित किया था कि नमूना तो बनो। ये वर्तमान समय की प्रथम आर्थिका दीक्षित हुई थीं। इनके पूर्व उत्तर भारत में आर्थिका पद पर कोई भी विद्यमान नहीं था। इन्होंने ५०० वर्ष से विच्छिन्न श्रमणीमार्ग को पुनः उत्तर भारत में गौरवान्वित किया।

क्षुल्लिका चन्द्रमती माताजी

आपका जन्म दि० १७-४-४४ को बैजापुर (महाराष्ट्र) में हुआ था। पिता छगनलाल और माता सौ० सोनुबाई हैं। जन्म नाम कु० खीरन-माला तथा विद्यालयीय नाम कु० शकुन्तला है। लौकिक शिक्षण में आपने बी० ए० आनर्स तथा H. M. D. S. वैद्यकीय उपाधि प्राप्त की है। विवाह डॉ० चन्द्रकान्त गुलाबचन्द्र दोशी (वर्तमान में पूज्य १०८ बीरसागर महाराज) के साथ हुआ था। आपने अनेक आध्यात्मिक जैन ग्रन्थों का सूक्ष्मरीत्या अध्ययन किया है। सम्प्रति प्राणियों को आत्मोन्नति का उपाय दर्शाती हुई साधनारत हैं।

२१४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

क्षुल्लिका चन्द्रमती जी

वयोवृद्ध, शान्त और स्वाध्यायशीला आपका जन्म बलवर निवासी श्री सरदार सिंह एवं श्रीमती भूरीबाई के यहाँ हुआ था। धर्मभावना के फलस्वरूप आपने आचार्यश्री महावीरकीर्ति महाराज से क्षुल्लिका रूप श्रावकव्रत ग्रहण किये हैं। आपकी सत्प्रेरणा से वासुपूज्य भ० के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण स्थान पर ७० फुट ऊँचा मानस्तम्भ २४ टोंक, भ० वासुपूज्य की २५ फुट ऊँची प्रतिमा, स्वाध्याय भवन आदि कार्य हो रहे हैं।

क्षुल्लिका चेलनामती जी

आपका जन्म २५ जुलाई १९२८ के दिन श्री प्रकाशचन्द्र जैन की धर्मपत्नी श्रीमती त्रिशलावती जी की कुक्षि से हुआ था। जन्मस्थान गढ़ी हसनपुर, जिला मुजफ्फरनगर (उ० प्र०) है। आपने आचार्य देशभूषण महाराज से ब्रह्मचारिणी दीक्षा और श्री सम्मेदशिखर जी की पावन पुण्यभूमि पर आचार्यश्री १०८ विमलसागर महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की। आप कषाय की पकड़ से छूटने में प्रयत्नशील हैं।

आर्यिका श्री जिनमती जी

“यदि कल्याण की इच्छा है, तो विषयों को विष के समान त्याग देना चाहिए। क्षमा, सरलता, दया, पवित्रता और सत्य को अमृत के समान ग्रहण करना चाहिए” इस तथ्य का बोध प्रभावती को हुआ और आर्यिकारत्न ज्ञानमती के सान्निध्य में व्रती बन गईं। प्रभावती के पिता श्री फूलचन्द्र जैन और माता श्री कस्तूरी देवी थीं, किन्तु दुर्भाग्य से पितृ-मातृ वियोग बचपन में ही हो गया, जिसके कारण लालन-पालन मातुल गृह पर हुआ। इनका जन्म फाल्गुन शुक्ला १५ सं० १९९० के दिन म्हसबड़ (महाराष्ट्र) नामक स्थान पर हुआ था।

आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती जी की सत्संगति के कारण प्रभावती को वैराग्य भावना तीव्र होती गयी। फलस्वरूप श्री १०८ आचार्य वीरसागर महाराज से वि० सं० २०१२ में माधोराजपुरा में क्षुल्लिका दीक्षा ले ली। श्रावक के व्रतों का पालन करते हुए आर्यिका ज्ञानमती से न्याय, व्याकरण और सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण

परम विदुषी हो गईं और गुरुवर्य से प्राप्त 'जिनमती' नाम को सार्थक किया।

ज्ञान और चारित्र की बढ़ती धारा ने महाव्रत धारण की क्षमता उत्पन्न करा दी। परिणामस्वरूप कार्तिक शुक्ला ४ वि० सं० २०१६ के दिन सीकर (राजस्थान) के मनोरम समारोह में आचार्यश्री शिवसागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर ली।

संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी भाषा का सम्यक्क्रीत्या अध्ययन होने से आपने न्याय, व्याकरण, कोष एवं सैद्धान्तिक ग्रन्थों का परायण किया और प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ की हिन्दी टीका करके दार्शनिक क्षेत्र की महती पूर्ति की है।

आर्यिका श्री जिनमती जी

आपका जन्म पाडवा (सागावाडा) में विक्रम संवत् १९७३ में हुआ था। बाल्यावस्था में आपको मंकुबाई नाम से पुकारा जाता था। मंकुबाई के पिता नरसिंहपुरा जाति के श्री चन्दुलाल जी एवं माता श्रीमती दुरोबाई हैं। मंकुबाई का विवाह पारसोला में हुआ था किन्तु ६ माह बाद ही वैधव्य के दुःख से आक्रान्त हो गयीं। वैधव्य ने जीवन दिशा को मोड़ दिया जिससे महावीरकीर्ति महाराज से प्रथम प्रतिमा के व्रत लिए। अनन्तर वर्धमानसागर महाराज से सातवों प्रतिमा और २०२४ में क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की। संयमोचित व्रतोपवास आदि नियमों का पालन करती रहीं और चारित्र की विशुद्धि करती रहीं। फलस्वरूप सम्मेदशिखर के परमपावन स्थल पर आचार्यश्री विमलसागर से आर्यिका के महाव्रतों के साथ जिनमती रूप अभिधान को हस्तगत किया। आप संघ की तपस्विनी आर्यिका हैं।

क्षु० जयमती जी

भारतीय नारी सन्मान की पात्रा है किन्तु यदा-कदा उसे अपमान भी सहना पड़ता है। इस अपमानित जीवन को निन्द्य मानकर शान्ति देवी ने १७ सितम्बर १९६९ में क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर ली। शान्ति देवी के पिता श्री पदमचन्द्र जैन एवं माता श्रीमती मैना देवी जैन, मुजफ्फर-नगर (उ० प्र०) के निवासी हैं। आपने लौकिक अध्ययन इण्टरमीडिएट पर्यन्त किया किन्तु धार्मिक षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों के भी स्वाध्याय से ज्ञानार्जन में तल्लीन हैं।

२१६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

क्षुल्लिका जयश्री जी

विषय वासनाओं के प्रति आसक्ति और क्रोध के आवेश को वश में कर लेने पर आत्मबल बढ़ता है और यही सफलता का रहस्य है। विषय वासना के आधीन न होने वाली मातुश्री जयश्री का जन्म अक्कलकोट जिला सोलापुर (महाराष्ट्र) में हुआ था। आपने विवाह न करके २० वर्ष की आयु में ही स्वर्गीय आचार्य पायसागर से सातवीं प्रतिमा के व्रत ले लिए थे। आचार्य देशभूषण के संघ में सम्मिलित हो आप्तमीमांसा, आप्तपरीक्षा, न्यायदीपिका आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर ई० १९५९ श्रवणबेलगोल में ही उन्हीं से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर ली।

आर्यिका दयामती माताजी

सागर नगर के सिधई गोरेलाल जैन के सुखसम्पन्न परिवार में आपका जन्म हुआ था। बाल्यावस्था का नाम नन्होंबाई है। प्रारम्भिक काल में सामान्य अध्ययन कर वैवाहिक जीवन यापन करने वाली आपके गार्हस्थिक जीवन में वज्रपात हुआ कि वैधव्य जीवन में आ गयीं। समय के साथ दुःख दूर हुआ और एक नया अभ्युदय हुआ कि आपका कनकमती जी से सम्पर्क हुआ। अनन्तर उनकी प्रेरणा से आचार्य शिवसागर महाराज से दीक्षा ग्रहण की और दयामती रूप वर्णों को अलंकृत करते हुए महाव्रती जीवन अपनाया। वर्तमान में आचार्य १०८ अजितसागर महाराज के संघ में विराजमान हैं।

क्षुल्लिका दयामती जी

प्रगतिशील मनुष्य के मार्ग में आने वाला एकमात्र बाधक भय है। इस भय को ललितपुर निवासी काशीराम जैन एवं श्रीमती केशरबाई की पुत्री और श्री भागचन्द्र जैन की पत्नी जमनाबाई ने तिलाञ्जलि दी। सिद्धक्षेत्र सोनागिर के मनोरम प्रांगण में आचार्यश्री सुमतिसागर महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर दयामती संज्ञा को प्राप्त किया। दयावन्त जीवन को व्यतीत करती हुई कर्म बेड़ी का जीर्ण कर रही हैं।

महासाध्वी आर्यिका श्री धर्ममती माताजी

संयम और चारित्र्य से अलंकृत महासाध्वी आ० धर्ममती माताजी का जन्म १८९८ ई० में कुचामन नगरी के समीपस्थ लूणवाँ नामक ग्राममें श्री

चम्पालाल जैन के घर हुआ था। आपका विवाह वर्धा निवासी श्री लखमीचन्द्र कासलीवाल से हुआ था किन्तु १४ वर्ष की अत्यायु में ही सौभाग्य अस्त हो गया। ई० सन् १९३६ में श्री कुन्धलगिरि क्षेत्र के पावत स्थल पर १०८ श्री जयकीर्ति महाराज से आपने परम श्रेयस्कारिणी आर्थिका दीक्षा लेकर धर्ममती नाम प्राप्त किया।

क्षुल्लिका धर्ममती माताजी

विचार स्वयं ही कार्य में परिणत होने के लिए मार्ग खाज लेता है। यह तथ्य क्षु० धर्ममती के साथ पूर्णरूप से घटित होता है। आप कोथली निवासी सेठ कालीशाह एवं श्रीमती धुंधुवाई को पुत्रो इन्दु से क्षु० धर्ममती बनीं। आपने अपने विचार के अनुरूप क्षुल्लिका दोक्षा मुनिवर १०८ श्री निर्माणसागर से सोनागिरि पर प्राप्त की है। सम्प्रति मांक्षरूपी कार्य की सिद्धि हेतु प्रयत्नशील हैं।

आर्थिका नंगमती जी

सुधर्माबाई का जन्म १९५१ ई० में इन्दौर निवासी श्री माणिकचन्द्र जी कासलीवाल की गृहिणी श्रीमती माणिकबाई की कुक्षि से हुआ था। समस्त परिवार धार्मिक संस्कारों से संस्कारित होने से सुधर्मा में धर्म के प्रति तीव्र अभिरुचि जागृत हुई और १८ वर्ष की अवस्था में ही श्री १०८ ज्ञानभूषण महाराज से आजोवन ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। शनैः शनैः अध्यवसायी सुधर्मा ने जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर परीक्षा उत्तीर्ण की और श्रावण शुक्ला १५ (रक्षाबन्धन) तदनुसार ८-८-१९७९ के शुभ दिन चन्द्रप्रभु के प्रांगण वाले सोनागिरि तीर्थक्षेत्र पर आचार्यश्री विमलसागर जो महाराज से आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर जोवन की परीक्षा उत्तीर्ण कीं।

आर्थिका नन्दामती जी

संसार एक रंगमंच है। इसमें प्रत्येक प्राणी को दशा बदलती रहती है। संसार रूपो मञ्च पर जयमाला देवी के जावन में भी अचानक परिवर्तन आया कि आप के पति आगरा निवासी श्री सुगन्धोलाल जैन का देहावसान हो गया।

जयमाला के पिता श्री मुन्डोलाल एवं माता श्रीमती कपूरो देवी को भी गहरा आघात पहुँचा। श्री विमलसागर महाराज से १९६९ ई० में

२१८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

जयमाला ने क्षुल्लिका के व्रत ग्रहण कर लिये। इसके अनन्तर कार्तिक शुक्ल २ मंगलवार वि० सं० २०३० आ० विमलसागर महाराज से ही आर्यिका दीक्षा के साथ नन्दामती संज्ञा को ग्रहण किया।

आर्यिका निर्मलमती माता जी

जयपुर मण्डल के अन्तर्गत बैराठ ग्राम के निवासी श्री महादेव सिंघई की धर्मपत्नी गोपालीबाई ने मगसिर वदी १२ सं० १९८० के दिन एक बालिका को जन्म दिया था। इस बालिका का मनफूल बाई नामकरण किया गया था। मनफूल बाई का विवाह १३ वर्ष की अल्पायु में हो गया था किन्तु ११ महीने बाद वैधव्य जीवन को अपनाना पड़ा। इस शोकसागर में निमग्न होने के कारण संसार से विरवित धारण कर आचार्य धर्मसागर महाराज से आर्यिका के महाव्रतों को अङ्गीकार किया। वर्तमान में जिनधर्म प्रभावना करती हुई भारतधरा पर विहार कर रही हैं।

आर्यिका नेमवती माता जी

नेमवती का जन्म फफोतू (टूंडला) आगरा (उ० प्र०) के श्री थ्यारेलाल एवं श्रीमती जयमाला जैन श्रावक युगल से मई १९३० ई० में हुआ था। आपका गृहस्थावस्था का नाम बिट्टुबाई था। धार्मिक अध्ययन करते हुए जीवन यापन कर रही थीं कि आपको संसार से वैराग्य हो गया। अनन्तर आपने अप्रैल १९७५ ई० में कलकत्ता नगर के मध्य आचार्यश्री १०८ सन्मत्तिसागर महाराज से आर्यिका दीक्षा ग्रहण की। वर्तमान में तपस्वी जीवन को व्यतीत करती हुई निरन्तर व्रतोपवास तथा धर्म साधना में तल्लीन रहती हैं।

आर्यिका नेमीमती माता जी

ज्ञानार्जन में दत्तचित्त भँवर कुमारी का जन्म श्रावण कृष्णा ७ वि० १९५५ की शाम को जयपुर में हुआ था। इनके पिता श्री रिखबचन्द्र जी विन्दायक्या और मातुश्री मेहताब बाई थीं। इनके पति लाला गणेशलाल विलाला थे। पति और पत्नी दोनों जिनसाधुओं की वैयावृत्ति में लगे रहते थे। पति के वियोग के अनन्तर भँवर कुमारी ने आचार्य शिवसागर से क्षुल्लिका एवं वि० सं० २०१७ में सुजानगढ़ नगर के मध्य आर्यिका के महाव्रतों को ग्रहण किया।

क्षुल्लिका निर्मलमती जी

बाल्यकाल से वैराग्य भाव को धारण करने वाली मुन्नी जैन का जन्म कटनी (म० प्र०) में हुआ। आपके पिता श्री कपूरचन्द्र जैन एवं माता श्रीमती चैन बाई हैं। आपने १६ वर्ष की अल्पायु में आचार्य सन्मत्तिसागर महाराज से आषाढ़ कृष्ण ११ वि० सं० २००८ में क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर क्षु० निर्मलमती नाम पाया। वैराग्यमय जीवन के साथ अब सन्मार्ग पर अवस्थित हैं।

क्षुल्लिका निर्माणमती माता जी

मध्यप्रदेश के पन्ना मण्डल के निकटस्थ खवरा नामक ग्राम है। इस ग्राम में श्री हीरालाल और केसरबाई नामधेय श्रावक-युगल धर्माराधन करते हुए रह रहे थे किन्तु पारिवारिक परिस्थितियोंवश जबलपुर प्रवासी हो गये। इस श्रावक-युगल ने तीन पुत्र और दो पुत्रियों को जन्म दिया था। युगल परिवार में रहते हुए भी धर्म भावना में तल्लीन रहता था। कालान्तर में श्री हीरालाल जी क्षुल्लक दीक्षा और केसर बाई ने वि० सं० २०३६ की फाल्गुन शुक्ला २ के दिन आचार्यकल्प श्री सन्मत्तिसागर महाराज से सम्मेदाशिखर नामक तीर्थस्थल के पावन परिक्षेत्र में क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की।

आर्थिका प्रज्ञामती माता जी

राजस्थान प्रान्त के उदयपुर जिले के कुण्डा नामक ग्राम में श्री रामचन्द्र जी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कूनग बाई की पुत्री का नाम ललिता था। १८ वर्ष की अवस्था में पति का देहावसान हो गया। तभी से ललिता धर्माराधनापूर्वक जीवन व्यतीत करने लगीं। कालान्तर में घाटौल पञ्चकल्याणक के अवसर पर अक्षय तृतीया के शुभ दिन में महाराजश्री से आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर ली। इस समय प्रज्ञामती नाम धारिणी आप महिलाओं को संयम, व्रत नियम, स्त्रीपर्याय उच्छेद आदि सैद्धान्तिक उपदेशों को देती हुई स्थान-स्थान पर मुनिसंघ में विहार कर रही हैं।

स्व० आर्थिका पार्श्वमती माता जी

जयपुर के समीपस्थ खेड़ा ग्राम में श्री मोतीलालजी एवं श्रीमती जड़ाबाई निवास करते थे। इनकी पुत्री का नाम गेन्दाबाई था। गेन्दाबाई

२२० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

२४ वर्ष की अवस्था में विधवा हो गयीं। आचार्यश्री शान्तिसागर के संघ दर्शन के कारण वैराग्य प्रवृत्ति जाग उठी और उनसे सातवीं प्रतिमा के व्रत लिए। अनन्तर आचार्यश्री वीरसागर महाराज से वि० सं० १९९७ में क्षुल्लिका के व्रत ग्रहण कर श्रीमती गेन्दाबाई क्षु० पार्श्वमती हो गयीं। इसके बाद साधना में रत आपने विक्रम संवत् २०४२ में आचार्यश्री वीरसागर महाराज से ही आर्यिका के व्रत झालरापाटन में ग्रहण किये। दीक्षा के अनन्तर अनेक स्थानों पर चातुर्मास कर धर्मप्रभावना की थी।

आर्यिका पार्श्वमती माता जी

बिहार प्रान्त की केन्द्रबिन्दु आरा नगरी शोभा प्रतिष्ठानों से सम्लंकृत है। इस प्रसिद्ध नगरी के निवासी श्री महेन्द्रकुमार जैन एवं श्रीमती राजदुलारी जैन की सुपुत्री वृजमोहिनी बाई ने आचार्यश्री १०८ सुमत्ति-सागर महाराज से श्रावण शुक्ला ९ संवत् २०३० के शुभ दिन आर्यिका के महाव्रतों को ग्रहण किया। आर्यिका के रूप में पार्श्वमती अलंकरण से अलंकृत हो मध्यभारत में जिन प्रभावना कर रही हैं।

आर्यिका पार्श्वमती माता जी

पार्श्वमती माताजी का जन्म मगसिर वदी १२ सं० १९५६ के दिन अजमेर (राजस्थान) में हुआ था। बचपन में बारसीबाई नाम से पुकारी जाती थीं। बारसी के पिता श्री सौभाग्यमल जैन एवं माता श्रीमती सुरजीबाई हैं, जो खण्डेलवाल जाति के हैं। इन्होंने ब्रह्मचारिणी, क्षुल्लिका और आर्यिका दीक्षाएँ स्व० गुरुवर्य श्री चन्द्रसागर जी महाराज से ग्रहण की थीं। वर्तमान में शरीर के क्षीण होने पर भी सतत साधना-रत हैं।

क्षुल्लिका प्रवचनमती जी

कर्नाटक प्रान्त के बेलगाँव मण्डलान्तर्गत ग्राम सदलगा में श्रीमल्लप्पा जी की धर्मपत्नी श्रीमती देवी की कुक्षि से श्रावण शुक्ला १५ (रक्षा-बन्धन) वि० सं० २०१२ के दिन आपका जन्म हुआ था। आपके गृहस्थ जीवन के माता-पिता वर्तमान में जैनेश्वरी दीक्षा में हैं, जिनके नाम आर्यिका समयमती एवं मुनि श्री १०८ मल्लिसागर जी हैं। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर महाराज आपके गृहस्थ जीवन के भाई हैं। आप धर्मनिष्ठ परिवार में उत्पन्न हुईं और कक्षा सातवीं तक अध्ययन किया। वैराग्य भावना प्रबल होने से आपने माघ शुक्ला ५ वि० सं० २०३२ के

दिन मुजफ्फरनगर में आचार्य धर्मसागर से आर्थिका के महाव्रत ग्रहण किये किन्तु अशुभ कर्मों की बलवत्ता के कारण बहुत बीमार रहने लगीं तब १०८ मुनिश्री विद्यानन्द ने आपको क्षुल्लिका के व्रत पालन की आज्ञा दी। तब से क्षु० के रूप में धर्माराधन कर रही हैं।

क्षुल्लिका पद्मश्री जी

स्वाध्याय जप तप और वैयावृत्ति में ही जीवन व्यतीत करने वाली आप (क्षु० पद्मश्री) का बाल्यावस्था का नाम सीधारबाई था। सीधारबाई के पिता का नाम श्री पूनमचन्द्र, माता का नाम श्रीमती रूपीबाई था। विवाह श्री दीपचन्द्र जी के साथ हुआ था और एक पुत्र को भी जन्म दिया था। संसार से विरक्ति होने के कारण दूसरी प्रतिमा मुनिश्री शान्तिसागर से, सातवीं प्रतिमा आ० महावीरकीर्ति जी से एवं आचार्य विमलसागर से फाल्गुन शुक्ल १४ के शुभ दिन पारसोला (प्रतापगढ़) नामक अपने जन्म स्थान से क्षुल्लिका के व्रत के साथ पद्मश्री संज्ञा को प्राप्त किया।

आर्थिका ब्रह्ममती जी

संयम के अभाव में मनुष्य का ज्ञान अथवा धन-सम्पत्ति उसके लिए लाभप्रद नहीं है। इसका विचार कर श्राणी जिला उदयपुर (राजस्थान) निवासी श्री होम जी एवं श्रीमती चम्पाबाई की सुपुत्री शक्कर बाई ने आर्थिका शान्तिमती के सदुपदेश से संयम लेने का नियम लिया। शक्कर बाई का दोषी (दसा ऊमड्ड) जाति के श्री कुरीसन जी के साथ विवाह हुआ। संयम के नियम के फलस्वरूप श्रावण की पूर्णिमा (रक्षा बन्धन) १९७१ के शुभ दिन राजगृही पावन क्षेत्र पर आचार्य श्री विमलसागर महाराज से सीधे आर्थिका दीक्षा ग्रहण की। देश संयम का परिपालन करती हुई आप आ० ब्रह्ममती जी धर्माराधन में समय बिता रही हैं।

आर्थिका भद्रमती जी

पुत्रीबाई का जन्म कुण्डलपुर के समीपस्थ कुहनारी (दमोह), म० प्र० में हुआ था। पिता का नाम श्री परमलाल जैन एवं माता का नाम हीरा-बाई था। विवाह के १ वर्ष बाद ही आपको वैधव्य की विडम्बना ने आ घेरा। आर्थिका वासुमती जी की सत्संगति से एवं जग की असारता का ज्ञान होने से पुत्तीबाई की वैराग्य भावना जाग उठी। विक्रम संवत् २०२० में खुरई के भव्य समारोह के मध्य आचार्य धर्मसागर जी से क्षुल्लिका के व्रत ले लिए। अनन्तर वि० सं० २०२३ में उन्हीं आचार्यप्रवर से आर्थिका

२२२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

के महाव्रत ग्रहण किये और भद्रमती संज्ञा से विभूषित होकर धर्माराधन में तत्पर हैं।

आ० यशोमती माता जी

आप दिल्ली पहाड़ी धीरज पर रहने वाली धार्मिक विचारों की महिला थीं। आपका गृहस्थ नाम मीनाबाई था। वृद्धावस्था के बढ़ते हुए कदमों में भी आपने अपना जीवन सार्थक किया। सन् १९७२ में पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिल्ली में आचार्य देशभूषण महाराज से आर्यिका दीक्षा प्राप्त की और यशोमती नाम प्राप्त हुआ। आप अपने संघम को निरतिचार पालन करते हुए धर्मप्रभावना कर रही हैं।

आर्यिका यशोमती माता जी

भगवज्जिनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित निर्ग्रन्थ मार्ग पर आरूढ़ परमपूज्य बालब्रह्मचारिणी आर्यिका यशोमती माताजी का जन्म स्थान उदयपुर (राजस्थान) है। आपने आचार्यश्री १०८ धर्मसागर महाराज से आश्विन मास संवत् २०३५ में उदयपुर नगर के विशाल जन समूह के मध्य आर्यिका-दीक्षा को ग्रहण किया। वर्तमान में संघम को परिपालन करती हुई उपासनारत हैं।

आर्यिका रत्नमती माता जी

आप आचार्य धर्मसागर महाराज की दीक्षिता शिष्या हैं। वर्तमान में पू० आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी के संघ में रह रही हैं।

आर्यिका श्री राजमती माता जी

मध्यप्रदेश के 'मुरैना' मण्डलान्तर्गत 'अम्बा' नामक ग्राम में आर्यिका श्री राजमती माताजी के पार्थिव शरीर का उदय हुआ था। आपके शरीर-विकास के साथ धर्मभावना का भी विकास हुआ। शनैः-शनैः जब धर्म-भावना का चिन्तन बढ़ता गया तब उसका परिणाम यह हुआ कि आपने आचार्यश्री १०८ सुमतिसागर महाराज से आर्यिका के महाव्रतों को धारण कर स्वयं को धन्य किया। वर्तमान में आप धर्मप्रभावना में तत्पर हैं। जिसके उदाहरण कोटा (राजस्थान) में जैन औषधालय एवं जैन विद्यालय, सागर (म० प्र०) में वर्णीभवन, वाकल (म० प्र०) में पाठशाला एवं पाण्डिचेरी में जिनालय आदि हैं।

क्षुल्लिका राजमती माता जी

सच्चा साधक वही है, जो अनासक्त होता है। अनासक्त भावप्रवण क्षु० राजमती जी का बचपन का नाम पार्वती था। पार्वती का जन्म बूचाखेडी निवासी श्री शीलचन्द्र जैन एवं श्रीमती अंगूरी देवी जैन से हुआ था। संसार से विरक्त होकर आपने वैसाखसुदी १२ बुधवार के शुभ दिन कोल्हापुर में क्षुल्लिका राजमती रूप में चारित्र्य पक्ष ग्रहण किया। आप १५०० उपवास कर चुकी हैं। देवलपुर में दीक्षा से पूर्व अपने द्रव्य से आपने वेदी प्रतिष्ठा करायी थी जिसमें आदिनाथ और महावीर स्वामी की मनोरम प्रतिमाएँ हैं।

आर्थिका विजयमती जी

विवेक में अद्भुत शक्ति होती है। उसके अनुसार ही मनुष्य के मानस पटल पर विचारों का आविर्भाव होता है। इसी विवेक का आश्रय लेकर अहिल्याबाई ने आचार्यश्री १०८ निर्मलसागर के शिष्य मुनिश्री सन्मति-सागर जी से कार्तिक सुदी ३ सं० २०३२ में कोटा (राजस्थान) में दीक्षा लेकर आर्थिका विजयमती नाम को प्राप्त किया। अहिल्याबाई का जन्म पिड़ावा (राजस्थान) ई० १९२८ में श्री राजमल एवं श्रीमती कस्तूरी देवी के घर हुआ था। इन्हें सामान्य हिन्दी एवं राजस्थानी का बोध है किन्तु चारित्र्य की विशुद्धि से वर्तमान में विजयमतीरूप को सार्थक कर रही हैं।

आर्थिका विजयमती जी

सरस्वती बाई का जन्म वैसाख शुक्ला १२ सं० १९८४ के दिन ग्राम कामा, जिला भरतपुर (राजस्थान) निवासी श्री सन्तोषीलाल जैन की धर्मपत्नी श्रीमती चिरोंजी बाई की कुक्षि से हुआ था। आपका विवाह श्री भगवानदास से हुआ था परन्तु दुर्भाग्य से वैधव्य प्राप्त हुआ। वैधव्य होनेपर अपने ज्ञान-प्राप्ति के निश्चय को साकार करने हेतु आचार्यश्री विमल-सागर महाराज से २४ मार्च १९६० के दिन आगरा नगर के भव्य समारोह में आपने आर्थिका के महाव्रत ग्रहण किये।

आर्थिका दीक्षा के बाद आपने श्री १०८ आचार्य महावीरकीर्ति जी से शिक्षा ग्रहण की। अपने अध्यवसाय एवं गुस्वर्य के आशीर्वाद से गहन अध्ययन किया। कालान्तर में आपने ग्रन्थों की रचना की। ग्रन्थ रचना—(१) आत्मानुभव (२) आत्मान्वेषण नारी। हिन्दी टीका—(१) भगवती आराधना (२ भाग)।

आर्यिका विद्यामती माताजी

जीवन के विकास का मार्ग आदि से अन्त तक कठिनाइयों से भरा हुआ है। उस पर चलने वाला यात्री तभी आगे बढ़ सकता है, जब उसका हृदय दृढ़ हो और आशंकाओं से रहित हो। इसी सिद्धान्त की अनुगामिनी आ० विद्यामती जी हैं। आपका जन्म नाम लक्ष्मीबाई है। जन्म स्थान उदयपुर और पिता-माता के नाम क्रमशः श्री उदयलाल जी, श्रीमती सुहागदेवी हैं। पति नाम ताराचन्द्र है। लक्ष्मीबाई ने संवत् २०३८ में मुरैना नामक स्थान के भव्य प्रांगण में आचार्य श्री सुमतिसागर महाराज से दीक्षा लेकर आर्यिका विद्यामती रूप गौरव को प्राप्त किया।

आर्यिका विद्यामती जी

शान्तिबाई का जन्म फाल्गुन कृष्णा १३ वि० सं० १९९२ के शुभदिन लालगढ़ (बीकानेर) निवासी श्री नेमीचन्द्र वाकलीवाल के सुख-समृद्धि सम्पन्न परिवार में हुआ। वैसाख कृष्णा ४ वि० सं० २००५ के दिन श्री मूलचन्द्र जी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। वैसाख सुदी ६ वि० सं० २००८ के दिन शान्ति के पति श्री मूलचन्द्र जी कलकत्ता से एका-एक कहीं चले गये। दुःखी शान्ति की आँखें राह देखती-देखती थक गयीं किन्तु कुछ समय पश्चात् आचार्यश्री १०८ शिवसागर जी महाराज से मुजानगढ़ में आर्यिका दीक्षा [वि० सं० २०१७] ग्रहण की। दीक्षोपरान्त आचार्य श्रेष्ठ ने नवीन नामकरण विद्यामती जी किया। साक्षात् विद्या का रूप धारण कर रहीं आप ज्ञान-ध्यान में तल्लीन हैं।

आर्यिका विमलमती माता जी

आपका बाल्यावस्था का नाम मथुराबाई है। मथुराबाई मध्यप्रदेशवर्ती शाहगढ़ के निकटस्थ मुँगावली नगर निवासी परवार जातीय श्री रामचन्द्र जैन की छठवीं छोटी पुत्री हैं। तत्कालीन बाल विवाह की प्रथानुसार १२ वर्ष की बालिका मथुराबाई का विवाह भोपाल निवासी श्री बाबू हीरालाल जी के साथ कर दिया गया। किन्तु दुर्दैव से कुछ ही दिन बाद श्री हीरालाल जी का देहावसान हो गया। सौभाग्य से नागौर में मुनिश्री चन्द्रसागर जी पधारे। उनके वचनामृत से प्रभावित होकर आपने अपनी जीवन दृष्टि बदली और त्याग मार्ग में अवतरित हो गयीं। मुनिश्री चन्द्रसागर से कार्तिक कृष्णा ५ वि० सं० २००० के दिन क्षुल्लिका के व्रत लिए। आपका नामकरण 'मानस्तम्भिनी' हुआ। अनन्तर आपने शास्त्रीय ज्ञान और

आत्मशुद्धि में प्रगति की, जिससे पू० आचार्यश्री वीरसागर जी से आर्थिका के महाव्रत ग्रहण कर नवीन 'विमलमती' नाम को प्राप्त किया।

आर्थिका वीरमती जी

धार्मिक नियमादि परिपालन करने में निपुण श्री दादा भगदुम और श्रीमती कृष्णाबाई की पुत्री पद्मावती का जन्म नसलापुर ताल्लुका रायबाग जिला बेलगाँव (कर्नाटक) में हुआ था। इनका जन्म १९२५ में हुआ था। बाल्यावस्था से ही मुनिसेवा, जिनदर्शन एवं धार्मिक कार्यों में अभिरुचि होने से पद्मावती २ मई १९७६ में आर्थिका सुवर्णमती से दीक्षित होकर आर्थिका वीरमती हो गयीं। वर्तमान में आर्थिका वृत्ति का आचरण करती हुई साधु संगति में गाँव-गाँव में भ्रमण कर रही हैं।

आर्थिका वीरमती जी

नश्वर जीवन को सफल बनाने का एकमात्र मात्र आधार संयम है अतएव लोनी (उत्तर प्रदेश) निवासी श्री बंसीलाल एवं श्रीमती सुन्दरबाई की पुत्री जमनाबाई ने आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी से आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर आ० वीरमती अभिधान को प्राप्त किया। आप संयम यथाविधि पालन कर रही हैं।

आर्थिका वीरमती माताजी

ब्र० चाँदबाई ने अपने पति श्री कपूरचन्द्र भँवसा के वियोग के दुःख को सहन किया। संसार के स्वरूप का चिन्तन किया और अपने वैधव्य जीवन को शान्ति और धर्म की गोद में समर्पित करने का निश्चय किया। चाँदबाई के पिता श्री जमनालाल जी सोनी और माता श्रीमती गुलाबबाई थीं। लगभग वि० सं० १९८८ में चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्यश्री शान्तिसागर जी महाराज के सान्निध्य से चारित्रिक विशुद्धि बढ़ती गयी और चाँदबाई पौषवदी ५ वि० सं० १९९५ के दिन सिद्धवरकूट के परमपावन स्थान पर आचार्यश्री वीरसागर से क्षुल्लिका दीक्षा लेकर क्षु० वीरमती बन गयीं। कालान्तर में महाराजश्री ने कार्तिक सुदी ११ सं० १९९६ के शुभदिन इन्दौर के विशाल समारोह में मातुश्री को आर्थिका के गौरव से गौरवान्वित किया।

आर्थिका वीरमती माताजी

आचार्यशिरोमणि देशभूषण महाराज ने अनेक नर-नारियों को सम्यक् मोक्षमार्ग का अवलम्बन कराया है। इन्हीं की शिष्य परम्परा की एक

२२६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

कड़ी आर्यिका वीरमती माताजी हैं। इनका गृहस्थावस्था का नाम उमादेवी है। उमादेवी के पिता देवप्पा और माता गंगाबाई थीं। इनके पति सखाराम पाटिल ग्राम मांगूर जिला बेलगाँव (कर्नाटक) के रहने वाले थे।

सांसारिक जीवन से मुक्त होने के लिए मुनिसंघ के साथ विहार करके श्रीमती उमादेवी ने आचार्य देशभूषण से मांगूर (कर्नाटक) में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर वीरमती नाम को प्राप्त कर जीवन को सार्थक बनाया।

आर्यिका विशुद्धमती माता जी

जबलपुर के रीठी नामक ग्राम में श्रीमान् सिंघई लक्ष्मणलाल जैन एवं मथुराबाई ने वि० संवत् १९८६ [१२।४।१९२९ ई०] में एक सौम्य बालिका को जन्म दिया। माता-पिता ने अपनी बालिका का सुमित्राबाई नामकरण किया। परमपूज्य आचार्य १०८ श्री धर्मसागर महाराज के सन् १९६२ सागर (म० प्र०) चातुर्मास में महाराजश्री की शान्तवृत्ति एवं संघस्थ १०८ श्री सन्मतिसागरजी महाराज के मार्मिक सम्बोधन से सुमित्राबाई की वैराग्य भावना उद्दीप्त हो गयी। अनन्तर अध्यात्मवेत्ता दिगम्बराचार्य १०८ श्री शिवसागर महाराज से सं० २०२१ श्रावण शुक्ला सप्तमी दि० १४ अगस्त १९६४ ई० के दिन अतिशय क्षेत्र पपौरा (म० प्र०) में आर्यिका दीक्षा ग्रहण की जिससे सुमित्राबाई की वैराग्यभावना फलवती हुई और विशुद्धमती से अभिधान को प्राप्त कर अपना जीवन धन्य किया। आर्यिका विशुद्धमती की मौलिक कृतियाँ—(१) श्रुत निकुञ्ज के किञ्चित् प्रसून, (२) गुरु-नौरव, (३) श्रावक सोपान और बारह भावना हैं।

आर्यिका शान्तमती माताजी

सद्गुरु आचार्यश्री १०८ विमलसागर महाराज से कार्तिक शुक्ला २ संवत् २०२९ (२।११।१९७२) के शुभ दिन सम्मेदशिखर जी के परमपावन स्थल पर शान्तमती माता जी ने आर्यिका के महाव्रतों को ग्रहण कर मानव पर्याय का उपयुक्त उपयोग किया। आपका जन्म कोल्हापुर गाँव कबलापुर जिला सांगली (महाराष्ट्र) में हुआ था। आप व्रत, उपवास आदि नियम पूर्वक आत्मशुद्धि में तत्पर हैं।

आर्यिका शीतलमती जी

धर्म पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होता। प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक समय में उसे अपनाया जा सकता है। इसमें बाल-वृद्ध का अन्तर नहीं है। आर्यिका शीतलमती जी ने बचपन से ही धर्म का आश्रय लिया।

आप बाल ब्रह्मचारिणी हैं। आपका जन्म ग्रा० सिरसापुर, जिला परकणी (महाराष्ट्र) में हुआ था। आपके दीक्षागुरु आचार्य महावीरकीर्ति महाराज हैं। आपकी आर्थिका दीक्षा नासिक (महाराष्ट्र) में श्रावण शुक्ला ६ संवत् २०१५ में हुई थी। तभी से पञ्चम गुणस्थानवर्ती आचरण का यथाविधि पालन कर रही हैं।

आर्थिका श्री शान्तिमती माताजी

साधनारूपी राजमार्ग पर चलने के लिए आचार और विचार दोनों ही सम्बल हैं, पाथेय हैं। इस बातको समझकर ही श्री अम्बालाल जी बड़जात्या (खण्डेलवाल) एवं फुन्दी देवी के पुत्री गुलाबबाई ने साधनारूपी सन्मार्ग पर गमन करने हेतु आचार्यश्री १०८ सन्मत्तिसागर महाराज से आर्थिका रूप आचार को ग्रहण किया। शान्तिमती नामधेय प्राप्त करके शान्ति की खोज में दत्तचित्त हुईं। आपका जन्म अमेरपुर (जयपुर) वि० सं० १९६७ में और आर्थिका दीक्षा मगसिर कृष्णा ६ सं० २०२८ में हुई थी। व्रत, उपवास, स्वाध्याय पूर्ण जीवन से काल यापन कर रही हैं।

आर्थिका शान्तिमती माताजी

शरीर धर्मसाधना करने के लिए प्रधान साधन हैं। इस साधन के बिना साधना सम्भव नहीं है। शरीर यन्त्र रूपी साधन से लखुआ निवासी श्री नाथूराम एवं श्रीमती फूलाबाई की पुत्री कलावती ने धर्म साधना की सिद्धि का निश्चय किया। साधारण हिन्दी का परिज्ञान होने मात्र से भी कल्याण के मार्ग का अन्वेषण किया। आचार्य सुमत्तिसागर महाराज से क्षुल्लिका एवं आचार्यश्री कुन्थुसागर महाराज से पोरसास्थान में आर्थिका दीक्षा ग्रहण कर स्वयं को उच्च आदर्शों की खोज में लगाया।

आर्थिका शीतलमती माताजी

माताजी का जन्म सं० १९९५ में गामड़ी (राजस्थान) के निवासी श्री निहालचन्द्र जी एवं श्रीमती जनकू बाई जैन से हुआ था। बचपन में इनका नाम ब्र० गेन्दीबाई था। इन्होंने स्त्रीपर्याय उच्छेद हेतु माघ शुक्ला ५ सं० २०१९ को क्षुल्लिका एवं मगसिर कृष्णा १० सं० २०२३ के शुभदिन रेनवाल नगर के मध्य आचार्यकल्प श्री १०८ श्रुतसागर महाराज से आर्थिका दीक्षा ग्रहण की। वर्तमान में निर्विघ्न रीति से आर्थिका के महाव्रतों का पालन कर रही हैं।

२२८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

क्षुल्लिका शीतलमती जी

संसार के भयावह दुःखों के नाश का मूलभूत हेतु धर्म है। इसीलिए संसार के दुखों से बचने के लिए इन्दौर निवासी चौथमल एवं केशरबाई की पुत्री ने वि० सं० २०२६ में जयपुर के जनसमह के मध्य आचार्यश्री देशभूषण महाराज से सद्धर्ममार्गभूत क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की। साथ में शीतलमती अभिधान को प्राप्त कर श्रावक के व्रतों का यथाविधि परिपालन कर रही हैं।

क्षुल्लिका शुद्धमती माताजी

बुन्देलखण्ड की शोभास्थली ग्वालियर नगरी दुर्ग, उद्यान, जिनालयों से मण्डित है। इस प्रमुख नगरी में ज्ञानमती का जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम श्री उदयराज जैन और माता का नाम प्यारीबाई जैन है। कालान्तर में ज्ञानमती ने आचार्यश्री १०८ सुमतिसागर महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ली और शुद्धमती नामकरण को अलंकृत किया। वर्तमान में आप व्रत, उपवास आदि नियमों का परिपालन करती हुई आत्मशोधन कर रही हैं।

आर्थिका शुभमती जी

संयम बिना जनम नर तेरा, नहीं सार्थ हो पायेगा।
विषय वासना में रत होके, दुर्गति दुःख उठायेगा ॥

इन पंक्तियों के भाव की किञ्चित् झलक कुमारी विमला के मानस पटल पर झलकी और वह आर्थिका ज्ञानमती, आ० संभवमती, आ० जिनमती के सम्पर्क में पहुँचीं। अबोध बालिका विमला का जन्म वैशाख शुक्ला ३ सं० २००४ के शुभदिन खुरई (सागर) म० प्र० में हुआ था। इनके पिता श्री गुलाबचन्द्र जैन एवं माता श्रीमती शान्ति देवी हैं।

सामान्य ज्ञानसम्पन्न कु० विमला ने आर्थिकारत्न ज्ञानमती जी से अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया। अनन्तर आर्थिका जिनमती के सान्निध्य में अध्ययन रत रहीं। ज्ञान के साथ विमला की वैराग्य भावना बढ़ती गयी, जिसके फलस्वरूप मगसिर वदी ३ वि० सं० २०२८ के शुभ दिन अजमेर (राजस्थान) के मध्य आचार्यश्री १०८ धर्मसागर महाराज से आर्थिका के महाव्रतों को ग्रहण किया। जिनमती के

साथ अनेकानेक ग्रन्थों का अध्ययन और मनन करती हुई व्रती जीवन बिता रही हैं।

क्षुल्लिका श्रीमती जी

शान्त, भद्रपरिणामी, अध्ययनशील आप का जन्म रुड़की कोल्हापुर में हुआ था। गृहस्थावस्था का नाम मालतीबाई है। आप पिता श्री नेमीचन्द्र और माता श्रीमती सोनी बाई की पुत्री हैं। आपका विवाह छीरी शिरहदी (बेलगाँव) निवासी श्री पारिखा आदिनाथ उपाध्याय से हुआ था। किन्तु १० वर्ष के अनन्तर वैधव्य ने आ घेरा। पुत्री का भी वियोग हो गया। पति और पुत्री के वियोग से संसार के प्रति अर्चि उत्पन्न हो गयी। अतएव चैत्र शुक्ला ४ वि० सं० २०२९ तदनुसार १८।३।१९७२ के शुभ दिन राजगृह क्षेत्र पर आ० विमलसागर महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर ली।

आर्थिका श्रुतमती जी

जिनके हृदय में धर्म का सच्चा रूप होता है, वे उदार हृदय वाले व्यक्ति संसार के प्रति विरक्त भाव होते हैं। धर्महृदय सुशीलाबाई भी संसार से अन्यमनस्क थीं। इनका जन्म १५ अगस्त १९४७ ई० के दिन कलकत्ता निवासी श्री फागूलाल जैन की पत्नी श्री बसंतीबाई की कुक्षि से हुआ था। आर्थिकारत्न ज्ञानमती के सम्पर्क से वैराग्य का बीजांकुर फूट पड़ा, जिसके कारण उनके सामीप्य में अध्ययन करती रहीं और काललब्धि आने पर मगसिर कृष्णा १० वि० सं० २०३१ के दिन आचार्यश्री धर्मसागर से आर्थिका के महाव्रत ग्रहण कर स्वयं को कृतकृत्य किया।

आर्थिका श्रेयांसमती माताजी

मनुष्य को सदा स्मरण रखना चाहिए कि शरीर और मन की अपार शक्ति जीवन के उच्च आदर्शों की सिद्धि के लिए प्राप्त हुई है। इसी विवेक का आश्रय लेकर पूना (महाराष्ट्र) निवासी श्री दुलीचन्द्र एवं श्रीमती सुन्दरबाई की सुपुत्री लीलावती ने आचार्यश्री शिवसागर महाराज से आर्थिका के महाव्रत ग्रहण किये। लीलावती का विवाह श्री मूलचन्द्र पहाड़े से हुआ था, जो आगे चलकर मुनि श्रेयांससागर जी हुए। लीलावती का जन्म १० अगस्त १९२५ को हुआ था। मूलतः खण्डेलवाल जातीय हैं।

२३० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

दीक्षा के अनन्तर श्रेयांसमती नाम के साथ महाव्रतों को धारण कर श्रेयमार्ग पर आरूढ हैं।

आर्यिका श्रेष्ठमती जी

जब तक विषयभोगों में आसक्ति रहती है तब तक स्वयं को जानना कठिन है। आत्मस्वरूप के जानने की इच्छुक श्रीमती रतनबाई ने विषय-भोगों को तिलाञ्जलि दे दी। इनका जन्म फतेहपुर (सीकरी) राजस्थान निवासी श्री वासुदेवजी एवं श्रीमती इन्द्रा देवी के परिवार में हुआ था। परिवार में दो भाई एवं दो बहिन हैं। विवाह श्री नेमिचन्द्र जैन के साथ हुआ, किन्तु आपके नगर में शिवसागर महाराज का संघ पहुँचा, जिससे आपकी वैराग्य प्रवृत्ति जाग उठी। वि० सं० २०१९ में १०८ आचार्य शिवसागर महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर आर्यिका जानमती के सान्निध्य में धार्मिक ज्ञान बढ़ाती रहीं। अनन्तर आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर श्रेष्ठमती नामकरण के साथ श्रेष्ठ चारित्र में चरण कर रही हैं। चारित्र शुद्धि व्रत के उपवास करती हैं जिससे बाह्य जगत् से पूर्ण अनासक्त रहती हैं।

आर्यिका संयममती जी

आप दिल्ली पहाड़ीधीरज की रहने वाली थीं। गृहस्थावस्था का नाम मनभरी था। सन् १९७२ में पू० आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से दिल्ली में आ० देशभूषण महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा धारण कर मनोवती नाम प्राप्त किया और सन् १९७४ निर्वाणोत्सव पर आ० धर्मसागर के करकमलों से दिल्ली में ही आर्यिका दीक्षा धारण कर संयममती संज्ञा प्राप्त कर आत्मसाधना करते हुए धर्म की प्रभावना कर रही हैं।

क्षुल्लिका संयममती जी

१०५ क्षुल्लिका संयममतीजी का जन्म नाम सीताबाई था। आपका जन्म वि०सं० १९८७ में निवारी (भिण्ड), म० प्र० में हुआ था। आपके पिता श्री सनोखनलालजी एवं माता श्रीमती लठैताबाई थीं। आप गोलालारीय जाति की भूषण हैं। लौकिक शिक्षण साधारण है। सं० २००० में शादी हुई। सुखमय जीवन व्यतीत कर रही थीं किन्तु वैराग्य भावना जागृत हो गयी। वैराग्य भावना आचार्य विमलसागर की संगति से बढ़ी थी अतएव इन्हीं से वि० सं० २०२६ में मुजानगढ़ में क्षुल्लिका के व्रत ग्रहण कर लिए। आप णमोकार मंत्र में बड़ी आस्था रखती हैं।

क्षुल्लिका सगुणमती जी

आपका जन्म नाम बसन्तीबाई और जन्मस्थान हालनूल (राजस्थान) है। आप खण्डेलवाल जैन जाति के श्री गुलाबचन्द्रजी एवं श्रीमती आसराबाई की सुपुत्री हैं। आपकी क्षु० दीक्षा श्रावण सुदी ९ वीर सं० २४९८ (१६।८।७२) के दिन हुई थी। वर्तमान में फलटण, गजपन्था, नाँदगाँव आदि का भ्रमण करती हुई व्रतों का पालन कर रही हैं।

आर्थिका सन्मतिमती माताजी

आपका जन्म चैत्र शुक्ला ९ संवत् १९७५ के शुभदिन बनगोठड़ी जिला सीकर (राजस्थान) निवासी श्री भूरामल जी कासलीवाल की धर्मपत्नी श्रीमती सूरजबाई की कुक्षि से हुआ था। बचपन का नाम कमलाबाई था। कमलाबाई की शादी भदाल (राजस्थान) निवासी श्री कस्तूरचन्द्र जी काला से हुई थी और एक कन्या को जन्म दिया था।

कालान्तर में संसार को असार जानकर अपने विचार एवं संकल्प के अनुसार आपने आचार्यश्री शिवसागर महाराज से कार्तिक शुक्ल १० सं० २०२२ के दिन श्री महावीरजी पर क्षुल्लिका एवं कोटा नगर में भाद्र कृष्णा २ सं० २०२३ के दिन आर्थिका दीक्षा ग्रहण की थी। आर्थिका के व्रतों का परिपालन करती हुई सन्मति नामकरण को अलंकृत कर रही हैं।

आर्थिका समयमती माताजी

श्री मल्लपा जी की धर्मगृहिणी श्रीमती जी का जन्म बेलगाँव जिले के अन्तर्गत अकोला में मातेश्वरी बहिणाबाई की कोख से हुआ था। इनका लौकिक शिक्षण मात्र ४ कक्षा पर्यन्त था। श्रीमतीजी ने सुख समृद्धि पूर्ण परिवार में रहते हुए चार पुत्र एवं दो पुत्रियों को जन्म दिया। उन पुत्र-पुत्रियों को आपने सुसंस्कारों से संस्कारित किया, जिससे मात्र ज्येष्ठ पुत्र को छोड़कर सभी मोक्षमार्ग में रत हैं। आचार्यप्रवर विद्यासागर आपकी ही देन हैं। छोटी पुत्री प्रवचनमती हैं।

श्री मल्लपाजी के साथ आपने भी जिनदीक्षा ग्रहण की और अपने पुत्र-पुत्रियों को भी दीक्षित करा दिया। आप सबकी दीक्षा विशाल जनसमुदाय के मध्य मुजफ्फरनगर (३० प्र०) में आचार्यश्री धर्मसागरजी द्वारा हुई। दीक्षा के अनन्तर श्रीमती से समयमती आर्थिका बनीं। वर्तमान में आप

२३२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

धर्माधनपूर्वक जिनधर्म की प्रभावना करती हुई यत्र-तत्र भ्रमण कर रही हैं।

आर्यिका सरलमती माता जी

टीकमगढ़ (म० प्र०) के निवासी श्री चुन्नीलाल जैन की धर्मपत्नी श्रीमती सगुनबाई जैन ने श्रावण शुक्ला १३ सं० १९८० के दिन नन्हीं मुन्नी बच्ची को जन्म दिया था। अनन्तर अपनी नन्हीं बालिका का श्रावक युगल ने सुमित्राबाई नाम रखा। सुमित्राबाई की सामान्य शिक्षा टीकमगढ़ में ही हुई। शनैः-शनैः जीवन पथ पर आरूढ़ सुमित्राबाई ने अपनी गृहस्थावस्था का काल व्यतीत किया।

समय ने करवट ली, सुमित्राबाई की वैराग्य भावना जागृत हुई जिसके परिणामस्वरूप आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर महाराज से उन्होंने वैशाख सुदी १० संवत् २०२६ के दिन उदयपुर नामक राजस्थान के शोभास्थल पर आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर स्वयं को जिनमार्ग पर आरूढ़ किया। सम्प्रति श्रमणी आर्यिका के पद को अलंकृत किये हुए आत्मकल्याण में दत्तचित्त हैं।

आर्यिका सिद्धमती माताजी

प्रत्येक धर्म क्रिया में तथा भगवान् का स्मरण करने में सर्वप्रथम सत्यता और सरलता आवश्यक है। सत्यता और सरलता का मूलभूत साधन त्याग है। अतएव वैशाख शुक्ला १५ संवत्, १९७१ के दिन श्री केसरलाल जैन एवं श्रीमती बच्चीबाई जैन से जन्म लेने वाली कल्ली बाई ने गृह त्याग का निश्चय किया। कालान्तर में अपनी जन्मभूमि खोर जेसानपुरा का परित्याग कर आचार्य धर्मसागर के संघ में पहुँच गयीं। कार्तिक शुक्ला १२ सं० २०२९ के शुभ दिन जयपुर नगर के मध्य आचार्यश्री १०८ धर्मसागर महाराज से आर्यिका के महाव्रतों के साथ सिद्धमती नामकरण को प्राप्त कर स्वयं को कृतार्थ किया। सत्यता और सरलता की ओर बढ़ती हुई परमपद को प्राप्त करने में प्रयत्नशील हैं।

आर्यिका श्री सुपाश्वमती जी

संसार रूपी रंगमंच पर जन्म-मरण के नाटक का अभिनय अनादिकाल से हो रहा है उसी के अन्तर्गत वि० सं० १९८५ मिति फाल्गुन सुदी ९ को राजस्थान के 'मैनसेर' ग्राम निवासी श्री हरखवन्द्र जी चूड़ीवाड़ के यहाँ

पुत्री का जन्म हुआ, जिसका भँवरीबाई नामकरण किया। बालिका का रूप बाला होने जा रहा था कि पिता ने नागोर (राजस्थान) निवासी श्री छोगमल बड़जात्या के सुपुत्र श्री इन्द्रचन्द्र जी के साथ इनका विवाह सम्पन्न कर दिया। विवाह के ३ माह पश्चात् ही पति वियोग के असह्य दुःख ने आ घेरा।

समय परिवर्तन ने जीवन की वास्तविक ध्वनि को उद्घोषित कर दिया कि 'मुझे शान्ति चाहिए, मुझे सुख चाहिए' मुझे निराकुलता चाहिए— यह ध्वनि कृत्रिम नहीं थी, स्वाभाविक थी फलतः हृदय वैराग्य की ओर झुक गया। वि० सं० २००६ में श्री इन्दुमती संघ मैनेसर पहुँचा। संघ के समक्ष भँवरीबाई ने आजीवन लवण का त्याग कर सप्तम प्रतिमा को ग्रहण किया। माघ शुक्ला ४ को बन्धुबान्धवों का मोह छोड़कर पूर्णतया आध्यात्मिक जीवन अपना लिया।

इन्दुमती संघ के साथ पवित्र तीर्थ स्थलों पर भ्रमण कर वैराग्यभावना से ओतप्रोत होकर भाद्र सुदी ६ वि० सं० २०१४ को खानिया (जयपुर) में आ० महावीरकीर्ति, आर्थिका श्री इन्दुमती जी आदि विशाल संघ और जनसमुदाय के मध्य आचार्यश्री १०८ वीरसागर महाराज से आर्थिका के महाव्रत ग्रहण किये। मति को भलीभाँति अपने समीपस्थ करने के कारण सुपार्श्वमती अभिधान को अलंकृत किया। सतत अध्ययन के परिणाम स्वरूप आपने जैन सिद्धान्त, व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र आदि का ज्ञान अर्जन कर अनेक कृति परिणामों से ज्ञानपिपासु और जिज्ञासुओं को ज्ञानसुधा का पान कराकर तृप्त कर रही हैं।

आर्थिका सुप्रभामती जी

स्वाध्याय में तल्लीन रहनेवाली आपका जन्म पिता श्री नेमीचन्द्र जी जैन के घर कुरड़वाड़ी (महाराष्ट्र) में हुआ था। बाल्यावस्था की सीमा का अतिक्रमण कर ही नहीं पायी कि बालिका श्री मोतीलाल जी के साथ संसारबन्धन में बँध गयी। बाला के चरणों में लगी मेंहदी की लाली हल्की भी न हो पायी कि विधवा हो गई। शीघ्र ही अपना वित्त धर्मध्यान की ओर लगाया तथा न्याय प्रथमा के साथ लौकिक इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। तत्पश्चात् सोलापुर में राजुमती श्राविकाश्रम में १५ संवत्सर पर्यन्त अध्यापन कार्य किया। वि० सं० २०२४ मिति कार्तिक शुक्ला १२ के शुभ मुहूर्त कुम्भोज बाहुबली के प्रांगण में आचार्यश्री १०८

२३४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

समन्तभद्र जी महाराज से आर्यिका के महाव्रतों के साथ सुप्रभामती संज्ञा को प्राप्त कर जीवन का सर्वस्व प्राप्त कर लिया। आर्यिका इन्दुमती और आ० सुपाश्वर्यमती के साथ ज्ञान की अभिवृद्धि करने में लीन हैं।

आर्यिका सुरत्नमती माता जी

आपका जन्म पन्ना मण्डल के गुनौर नामक ग्राम में १९/४/१९५६ ई० के दिन गोलालारीय श्री बैनीप्रसाद जैनकी धर्मपत्नी श्रीमती कमलाबाई की कुक्षि से हुआ था। बाल्यावस्था का नाम सुधा है। सुधा के पाँच भाई और एक बहिन है। इन्हीं के भाई क्षु० सुरत्नसागर महाराज हैं।

बालब्रह्मचारिणी सुधा जैन ने आचार्य धर्मसागर महाराज से ५ फरवरी १९७६ के दिन मुजफ्फरनगर के भव्य समारोह में आर्यिका दीक्षा ग्रहण की थी। महाराजश्री से सुरत्नमती अभिधान रूप अलंकरण को ग्रहण कर लक्ष्यरूप कर्तव्य मार्ग पर आरूढ़ होकर आप अपनी स्त्रीपर्याय के उच्छेद में संलग्न हैं।

आर्यिका सुशीलमती जी

मानव के अन्दर ज्ञान नामक जो चेतनाशील तत्त्व है, उसको तुलना संसार की किसी भी वस्तु से नहीं हो सकती है। अतएव अतुलनीय उस ज्ञान की प्राप्ति हेतु मस्तापुर (म० प्र०) निवासी श्री मोहनलाल एवं गंगादेवी की सुपुत्री तथा गदयाना वाले श्री धर्मचन्द्र जैन की धर्मपत्नी काशीबाई (जन्म सं० १९७३) ने गृहस्थ जीवन के परित्याग का दृढ़ निश्चय किया। निश्चय के फलस्वरूप सं० २००९ में घर छोड़कर आचार्य शिवसागर से पपौरा में ब्रह्मचर्य व्रत लिया। अनन्तर इन्हीं आचार्यप्रवर से २०२२ में श्री महावीर की पावनभूमि में क्षुल्लिका और कतिपय दिनों के व्यतीत होने पर कोटा में आर्यिका दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को कृतार्थ किया। ज्ञान और चारित्र से समन्वित स्वयं को सन्मार्ग में लगाये हुए हैं।

आर्यिका सूर्यमती माताजी

अज्ञानरूपी तिमिर से आच्छादित चक्षुओं को ज्ञानाञ्जन की शालाका से उन्मीलित करने वाला एक मात्र गुरु होता है। ऐसे गुरुवर्य आचार्यश्री १०८ विमलसागर महाराज ने बुढ़ार (विलासपुर) निवासी श्री विशाललाल जैन एवं श्रीमती ललिताबाई जैन की सुपुत्री ब्रह्मचारिणी गेन्दाबाई को

आषाढ कृष्णा ३ सं० २०१७ के दिन खण्डगिरि-उदयगिरि में क्षुल्लिका एवं माघ कृष्णा १४ सं० २०२१ के शुभ दिन मुक्तागिरि तीर्थ क्षेत्र के शिवन प्रांगण में आर्यिका दीक्षा प्रदान कर संसारसागर से पार होने के रास्ते को दर्शाया। ब्र० गेन्दाबाई ने आर्यिका के महाव्रतों के साथ सूर्यमती नामरूपी अलंकरण को गुरुवर्य से प्राप्त कर अपने जीवन को कृतकृत्य किया।

आर्यिका स्वर्णमती जी

शैशवावस्था के उत्तम संस्कार भविष्य में उत्तम परिणति कराते हैं। उत्तम संस्कारों में सोनाबाई श्री सावकाप्पा एवं श्रीमती सत्यवती की सुपुत्री हैं। इनका जन्म ग्राम सीरगुप्पी, तालुका जमकण्डी जिला बीजापुर (कर्नाटक) में हुआ था। सोनाबाई ने १८ वर्ष की अवस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। अनन्तर श्रावण शुक्ला ५ हस्तनक्षत्र तदनुसार ७ अगस्त १९७० ई० को शोडवार में श्री १०८ मुनि आदिसागर से आर्यिका के महाव्रत ग्रहण कर सोनाबाई से आर्यिका स्वर्णमती हो गयीं। विद्याभ्यास करती हुई आप धर्मभावना में संलग्न हैं।

क्षुल्लिका सुशीलमती जी

प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि जो श्रेयस्कर है उसे प्राप्त करे। अतएव क्षत्रीग्राम निवासी सुन्दरलाल जी एवं हलकीबाई की पुत्री रतनमाला ने भारत की राजधानी दिल्ली में आचार्य कुन्धुसागर महाराज से क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण कर अपना श्रेयमार्ग खोज निकाला।

आर्यिका स्याद्वादमती जी

ऋषियों मुनियों की प्राञ्जल वाग्धारा प्राणी को यथार्थ मार्ग पर पहुँचा देती है। आ० कल्प श्री ज्ञानभूषण जी महाराज के सदुपदेश ने कु० ऐरावती पाटनी की जीवनधारा ही परिवर्तित कर दी, जिससे इन्होंने महाराजश्री से अपनी १६ वर्ष की अल्पायु में आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार किया। कु० ऐरावती का जन्म १४ मई १९५३ ई० के दिन इन्दौर (म० प्र०) निवासी श्री धन्नालाल पाटनी और श्रीमती कमला देवी नामक श्रावक दम्पति के यहाँ हुआ था। स्नातक पर्यन्त अध्ययन करने अपने जीवन को साध्वी रूप में व्यतीत करने का निश्चय किया।

सांसारिक सुखों को तिलाञ्जलि देकर आत्मसाक्षात्कार करने के

२३६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

लिए श्रावण शुक्ला १२ ता० ५/८/१९७९ रविवार के दिन ऐरावती ने सोनागिरि सिद्धक्षेत्र पर आचार्यश्री विमलसागर महाराज के द्वारा क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की। उस समय नाम बदल कर अनंगमती रखा गया। वर्तमान में आप आ० स्याद्वादमती के पद को अलंकृत करते हुए आचार्यश्री के संघ में धर्मध्यान में तत्पर हैं।

आर्यिका ज्ञानमती माताजी

सौराष्ट्र के अन्तर्गत पोशीना (सावरकाण्डा) नामक नगर है। इस नगर के श्री सांकलचन्द्र जी एवं श्रीमती मणिबाई जैन नामक श्रावक दम्पति से कञ्चनबाई नामक बाला का जन्म हुआ था। कञ्चनबाई जैन सदैव जिनेन्द्र भगवान् की उपासना में तल्लीन रहती थी। संयोगवश मगसिर कृष्णा ५ संवत् २०३१ के शुभ दिन कञ्चनबाई ने क्षुल्लिका दीक्षा आचार्यश्री १०८ सुमत्तिसागर महाराज से ली। अनन्तर माघ शुक्ला ३ संवत् २०३२ को इन्हीं महाराजश्री से आर्यिका के महाव्रतों के साथ ज्ञानमती नाम को ग्रहण किया। आप ज्ञान का संवर्द्धन करती हुई बाल-ब्रह्मचारी जीवन का यापन कर रही हैं।

आर्यिकारत्न श्री ज्ञानमती माताजी

हस्तिनापुर में बन रही महान् जम्बूद्वीप रचना की पावन प्रेरिकां पू० आर्यिकाश्री से सारा देश परिचित है।

आपका जन्म माता मोहिनी की कुक्षि से वि० सं० १९९१ (सन् १९३४) की आसोज शुक्ला पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) को हुआ। सन् १९५२ की आसोज शुक्ला पूर्णिमा को ही आपने सप्तम प्रतिमाख्य ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया और सन् १९५३ में क्षुल्लिका दीक्षा ग्रहण की। आपको पूज्य शांतिसागरजी म० के दर्शन एवं सान्निध्य का लाभ मिला। सन् १९५६ में उन्हीं के पट्टधर आचार्य वीरसागरजी से आपने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की। आपकी अनेक शिष्यायें हैं। आपकी बौद्धिक प्रतिभा विलक्षण है। अध्यायन अध्यापन आपकी साधना का महत्वपूर्ण अंग है। आपने ८ बड़े और १७८ छोटे ग्रन्थ लिखे हैं। अष्टमहस्त्री जैसे क्लिष्टतम दार्शनिक ग्रन्थ का आपने अनुवाद किया है। आप विलक्षण प्रतिभा की धनी प्रभावशाली साध्वी रत्न हैं। (सम्पादक)

सूचना—दिगम्बर परम्परा में आचार्य विद्यासागरजी की संघस्थ आर्यिकाओं और क्षुल्लिकाओं का परिचय प्राप्त नहीं होने से नहीं दिया जा सका है—एतदर्थं क्षमाप्रार्थी हैं।

श्वे० खरतरगच्छीय साध्वी परम्परा और समकालीन साध्वियाँ*

● डॉ० शिवप्रसाद

समाज की सृष्टि में नारी का विशिष्ट योगदान है। समाज का अर्थ ही है नर और नारी। उसका अर्थ न तो नर ही है और न केवल नारी। नारी के बिना सृष्टि की रचना, समाज का संगठन, जातीय कार्यकलाप, गृहस्थ जीवन सभी अधूरे हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र, चाहे वह धार्मिक आदर्श हो, चाहे समाज-सुधार अथवा राजनीति हो, में नारी का सक्रिय योगदान रहा है।

जहाँ तक नारियों के संन्यास या प्रव्रज्या का प्रश्न है, वैदिक युग में नारियों के लिये ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी। बृहदारण्यक उपनिषद्^१, रामायण^२ और महाभारत^३ में नारियों के संन्यास लेने के प्रसंग मिलते हैं। इन नारियों ने पति के संन्यास लेने, उसकी मृत्यु अथवा योग्य वर न मिलने पर संन्यास का आश्रय लिया था। श्रमण परम्परा के जैन और बौद्ध दोनों धर्मों में इन कारणों के साथ-साथ वैराग्य के कारण भी स्त्रियों के संन्यास लेने की व्यवस्था दृष्टिगत होती है।

जहाँ तक जैनधर्म में प्रव्रज्या का प्रश्न है, सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध^४ से ज्ञात होता है कि पार्श्वनाथ की आचार-परम्परा महावीर से भिन्न थी। उत्तराध्ययनसूत्र २३/८७ में तो पार्श्वपत्नीय श्रमणों और श्रमणियों को पंचमहाव्रत स्वीकार करवाकर ही महावीर के संघ में सम्मिलित करने का उल्लेख है। इसी प्रकार स्पष्ट है कि महावीर के पूर्व ही जैनधर्म में भिक्षु-भिक्षुणी संघ की स्थापना हो चुकी थी। आचारांग-सूत्र में श्रमण एवं श्रमणियों के आचार सम्बन्धी नियमों की चर्चा से स्पष्ट है कि जैनधर्म में श्रमण संघ और श्रमणी संघ दोनों की ही साथ-साथ स्थापना हुई थी।

समाज के प्रत्येक वर्ग की महिलाओं के प्रवेश के लिए जैन श्रमणी

* 'महाश्रमणी' नामक ग्रन्थ से साभार

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४-४
२. रामायण २/२९/१३, ३/७३/२६, ३/७४/३
३. महाभारत, आदिपर्व ३/७४/१०
४. सूत्रकृतांग २, ७, ७१-८०

संघ का द्वार खुला हुआ था। स्थानांगसूत्र और उसकी टीका^१ में उन १० विभिन्न कारणों का उल्लेख है, जिनके कारण ही स्त्रियाँ दीक्षा ग्रहण करती थीं। ये कारण मुख्य रूप से सामाजिक, पारिवारिक एवं आर्थिक हैं। सामान्यतः नारी अपने पति, पुत्र, भाई या अन्य किसी प्रिय सम्बन्धी की मृत्यु या प्रव्रज्या ग्रहण करने पर स्वयं भी प्रव्रजित हो जाती थी। कभी-कभी धर्माचार्यों के उपदेश से भी स्त्रियों द्वारा प्रव्रज्या लेने का उल्लेख मिलता है।^२

जैन परम्परा में प्रारम्भ से ही स्त्रियों को समान धार्मिक अधिकार दिये गये और चतुर्विध संघ में साधु के साथ साध्वी तथा श्रावक के साथ श्राविका भी सम्मिलित की गयी। जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों और उनकी शाखाओं में आज भी बड़ी संख्या में साध्वियाँ विद्यमान हैं। इस लेख में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की एक प्राचीन और महत्वपूर्ण शाखा—खरतरगच्छ की साध्वी परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। विक्रम संवत् की ग्यारहवीं शताब्दी में अपने अभ्युदय से लेकर आज भी यह गच्छ जैनधर्म के लोक-कल्याणकारी सिद्धान्तों का पालन कर विश्व के समक्ष एक उज्ज्वल आदर्श उपस्थित कर रहा है।

खरतरगच्छ में अनेक प्रभावक आचार्य, उपाध्याय, विद्वान् साधु एवं साध्वियाँ तथा बड़ी संख्या में तन्त्र-मन्त्र के विशेषज्ञ, ज्योतिर्विद, वैद्यक शास्त्र के ज्ञाता यतिजन हो चुके हैं, जिन्होंने न केवल समाजोत्थान बल्कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देश्य भाषाओं में साहित्य-सृजन कर उसे समृद्ध बनाने में महान् योग दिया है।^३ चैत्यवास का उन्मूलन कर सुविहितमार्ग को पुनः प्रतिष्ठित करना खरतरगच्छीय आचार्यों की सबसे बड़ी देन है।^४

खरतरगच्छ बृहद्गुर्विवली^५ में इस गच्छ के महान् आचार्यों के दीक्षा,

१. स्थानांग १०/७१२, टीका भाग-५, पृ० ३६५-६६
२. जैन और बौद्ध भिक्षुणी संघ; डॉ० अरुणप्रतापसिंह, पृ० १२-१३
३. खरतरगच्छ का इतिहास (प्रथम खण्ड) महोपाध्याय विनयसागर, भूमिका पृ० ४-५।
४. खरतरगच्छ का इतिहास (प्रथम खण्ड) महोपाध्याय विनयसागर, भूमिका पृ० ४-५।
५. यह ग्रन्थ मुनि जिनविजय जी के संपादकत्व में सिन्धी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९५६ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

विहार, साधु-साध्वी समुदाय, स्थानीय श्रावकों के नाम, राजाओं के नाम, प्रतिद्वन्द्वी धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ, तीर्थोद्धार आदि अनेक बातों पर विशद प्रकाश डाला गया है। सम्प्रति लेख में इसी गुर्वावली के आधार पर खरतरगच्छीय साध्वी परम्परा की एक झाँकी प्रस्तुत है।

वर्धमानसूरि खरतरगच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि ने चौलुक्य नरेश दुर्लभराज की राजसभा में चैत्यवासी आचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित कर गुर्जरधरा में सुविहितमार्गीय मुनियों के विहार को सम्भव बनाया। आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वारा दीक्षित जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि, जिनभद्र अपर नाम धनेश्वरसूरि, हरिभद्रसूरि, प्रमन्नचन्द्रसूरि, धर्मदेव, सहदेव आदि अनेक मुनियों का उल्लेख तो हमें मिलता है, परन्तु इनके द्वारा किसी महिला को दीक्षा देने का उल्लेख नहीं मिला है। खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली^१ से ज्ञात होता है कि इन्होंने स्वगच्छीय मरुदेवी प्रवर्तिनी को आशापल्ली में उसके संथारा के समय सल्लेखना पाठ सुनाया था। जिनेश्वरसूरि के शिष्य उपाध्याय धर्मदेव की आज्ञानुवर्तिनी साध्वियों द्वारा धोलका निवासी भक्त वाछिग और उसकी पत्नी बाहड़देवी के पुत्र सोमचन्द्र को सर्वलक्षणों से युक्त देखकर उसे दीक्षा देने हेतु प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है।^२ यही बालक आगे चलकर जिनदत्तसूरि के नाम से खरतरगच्छ का नायक बना।

जिनचन्द्रसूरि और अभयदेवसूरि द्वारा दीक्षित साध्वियों का उल्लेख तो नहीं मिलता है, परन्तु इनके समय में भी खरतरगच्छ में साध्वी संघ की विद्यमानता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

जिनवल्लभसूरि का अत्यधिक समय विधिमार्ग के प्रसार में ही व्यतीत हुआ। उनके उपदेशों से गुजरात, राजस्थान और मालवा के अनेक स्थानों पर विधिचैत्यों का निर्माण हुआ। आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के कुछ माह पश्चात् ही उनका स्वर्गवास हो गया, तत्पश्चात् सोमचन्द्रगणि को जिनदत्तसूरि के नाम से जिनवल्लभ का पट्टधर बनाया गया।

जिनदत्तसूरि द्वारा अनेक साधु-साध्वियों को दीक्षा देने का उल्लेख मिलता है। उनके वरदहस्त से बागड़ देश में श्रीमति, जिनमति, पूर्वश्री, ज्ञानश्री और जिनश्री को साध्वी दीक्षा प्राप्त हुई।^३ जिनदत्तसूरि अत्यन्त

१. जिनविजय जी, संपा० खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० ५ (बम्बई-१९५६)

२. जिनविजयजी, संपा० खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० १४-१५, बम्बई १९५६

३. जिनविजयजी, संपा० खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० १५ (बम्बई १९५६)।

विद्यानुरागी आचार्य थे, इसीलिए उन्होंने अपने गच्छ के साधु-साध्वियों की शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया। श्रीमति, जिनमति और पूर्वश्री इन तीन साध्वियों को अन्य स्वगच्छीय मुनियों के साथ उन्होंने अध्ययनार्थ धारा नगरी भेजा था।^१ उनकी ही शिष्या गगिनी शांतिमति ने वि० सं० १२१५ में प्रकरणसंग्रह की प्रतिलिपि की, जो जैसलमेर ग्रन्थ भण्डार में सुरक्षित है।^२

आचार्य जिनदत्तसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् मणिधारी जिनचन्द्र-सूरि खरतरगच्छ के नायक बने। इनके अल्पकाल के नायकत्व में भी खरतरगच्छ में अनेक साधु-साध्वियों की दीक्षा हुई। वि० सम्वत् १२१४ में इन्होंने त्रिभुवनगिरि में शान्तिनाथ जिनालय पर भव्य महोत्सव के साथ सुवर्णध्वज और कलश का आरोपण किया और साध्वी हेमादेवी को प्रवर्तिनी पद से विभूषित किया।^३ वि० सं० १२१८ में उच्चानगरी में उन्होंने ५ मुनियों के साथ जगश्री, गुणश्री और सरस्वती को साध्वी दीक्षा प्रदान की।^४ वि० सं० १२२१ में आचार्यश्री ने देवभद्र और उसकी पत्नी को अन्य ४ साधुओं के साथ दीक्षित किया।^५ वि० सं० १२२३ भाद्रपद वदी चतुर्दशी को दिल्ली में आचार्यश्री का स्वर्गवास हो गया, तत्पश्चात् आचार्य जिनपतिसूरि को उनके पट्ट पर प्रतिष्ठित किया गया। जिन्मतिसूरि ने वि० सं० १२२७ में उच्चानगरी में धर्मशील और उसकी माता को ५ अन्य व्यक्तियों के साथ दीक्षित किया।^६ इसके पश्चात् वे विहार करते हुए मरुकोट पधारे, जहाँ अजितश्री ने उनसे प्रव्रज्या ली।^७ वि० सं० १२२९ में फलवर्धिका में अभयमति, आसमति और श्रीदेवी ने उनसे साध्वीदीक्षा प्राप्त की।^८ यहीं वि० सं० १२३४ में साध्वी गुणश्री को महत्तरा पद और जगदेवी को साध्वी दीक्षा दी।^९ इसी नगरी में वि० सं० १२४१ में धर्मश्री और धर्मदेवी को उन्होंने श्रमणीसंघ में सम्मिलित किया।^{१०} वि० सं० १२४५ में पुष्करणी नगरी में संथमश्री, शान्तमति एवं रत्नमति को साध्वी दीक्षा दी गयी।^{११} वि० सं० १२५४ में धारा नगरी में उन्होंने

१. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० १८
२. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० १८
३. श्री जैसलमेरदुर्गस्थ जैन ताडपत्रीय ग्रन्थ भण्डार सूची-पत्र, संपा० मुनिपुण्य-विजय, क्रमांक १५४ पृ० ५१-५२।
४. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० २०
५. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० २०
६. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० २०
७. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० २३
८. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० २३
९. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० २४
१०. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० २४
११. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० ३४

साध्वी रत्नश्री को दीक्षित किया।^१ यही साध्वी रत्नश्री आगे चलकर गच्छ प्रवर्तिनी बनीं। वि० सं० १२६० में आचार्यश्री ने लवणखेड़ में आर्या आनन्दश्री को महत्तरा पद प्रदान किया।^२ इसी नगरी में वि सं० १२६३ में विवेकश्री, मंगलमति, कल्याणश्री और जिनश्री ने उनके वरदहस्त से भागवती दीक्षा ली और साध्वी धर्मदेवी ने प्रवर्तिनी पद प्राप्त किया।^३ लवणखेड़ में ही वि० सं १२६५ में आसमति और सुन्दरमति तथा वि० सं० १२६६ में विक्रमपुर में ज्ञानश्री ने उनसे साध्वी दीक्षा ली।^४ वि० सं० १२६९ में चन्द्रश्री और केवलश्री को साध्वी-दीक्षा दी गयी और साध्वी धर्मदेवी को महत्तरा पद प्रदान कर उन्हें प्रभावती के नाम से प्रसिद्ध किया गया।^५ वि० सं० १२७५ में आचार्यश्री ने भुवनश्री, जगमति और मंगलश्री को भागवती दीक्षा देकर श्रमणीसंघ में प्रविष्ट कराया।^६ इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य जिनपतिसूरि के समय खरतरगच्छीय श्रमणीसंघ में पर्याप्त साध्वियाँ थीं।

आचार्य जिनपतिसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) खरतरगच्छ के प्रधान आचार्य बने।^७ इनके समय में भी अनेक महिलाएँ साध्वीसंघ में प्रविष्ट हुईं। इन्होंने वि० सं० १२७९ में श्रीमालपुर में ज्येष्ठ सुदी १२ को चारित्रमाला, ज्ञानमाला और सत्यमाला को साध्वी दीक्षा दी।^८ वि० सं० १२७९ माघ सुदी पंचमी को आपने विवेकश्री गणिनी, वीलमाला गणिनी और विनयमाला गणिनी को संयम प्रदान किया।^९ वि० सं० १२८० माघ सुदी द्वादशी को श्रीमालपुर में पूर्णश्री तथा हेमश्री और वि० सं० १२८१ वैशाख सुदी ६ को जावालिपुर में कमलश्री एवं कुमुदश्री को साध्वी दीक्षा प्रदान की गई।^{१०} वि० सं० १२८३ माघ वदि ६ को वांगसेर में आर्यामंगलमति प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित की गयीं।^{११} वि० सं० १२८४ में बीजापुर वासुपूज्य जिनालय में प्रतिमा-प्रतिष्ठा के अवसर पर श्रावकों द्वारा भव्य महोत्सव का आयोजन किया गया।^{१२} इसी नगरी में वि० सं० १२८४ आषाढ़ सुदी द्वितीया को आचार्यश्री ने चारित्र-

- | | |
|----------------------------------|----------------|
| १. खरतरगच्छवृहद्गुर्वावली पृ० ३५ | २. वही पृ० ३४ |
| ३. वही पृ० ३५ | ४. वही पृ० ३४ |
| ५. वही पृ० ३४ | ६. वही पृ० ३४ |
| ७. वही पृ० ४४ | ८. वही पृ० ४४ |
| ९. वही पृ० ४४ | १०. वही पृ० ४४ |
| ११. वही पृ० ४४ | १२. वही पृ० ४४ |

सुन्दरी और धर्मसुन्दरी को साध्वी दीक्षा प्रदान की।^१ वि० सं० १२८५ ज्येष्ठ सुदी द्वितीया को बीजापुर में ही उदयश्री ने भगवती दीक्षा ग्रहण की।^२ वि० सं० १२८७ फाल्गुन सुदी ५ को पालनपुर में कुलश्री और प्रमोदश्री साध्वी संघ में सम्मिलित हुईं।^३ वि० सं० १२८८ भाद्रपद सुदी १० को आचार्यश्री ने जावालिपुर में स्तूपध्वज की प्रतिष्ठा की।^४ इसी वर्ष इसी नगरी में पौष शुक्ल एकादशी को धर्ममति, विनयमति, विद्यामति और चारित्रमति खरतरगच्छीय श्रमणीसंघ में दीक्षित की गईं।^५ वि० सं० १२८९ ज्येष्ठ सुदी १२ को चित्तौड़ राजीमती, हेमावली, कनकावली, रत्नावली और मुक्तावली को आचार्यश्रीने प्रव्रज्या दी।^६ चित्तौड़ में इसी वर्ष आषाढ़ वदी २ को आचार्यश्री ने ऋषभनाथ, नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के नवनिर्मित जिनालयों में प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की।^७ वि० सं० १२९१ वैशाख सुदी १० को जावालिपुर में शीलसुन्दरी और चन्दनसुन्दरी ने प्रव्रज्या ली।^८ वि० सं० १३०९ मार्गशीर्ष शुक्ल द्वादशी को मुक्तिसुन्दरी को साध्वी दीक्षा दी गयी।^९ वि० सं० १३१३ फाल्गुन सुदी चतुर्दशी को जावालिपुर में जयलक्ष्मी, कल्याणनिधि, प्रमोदलक्ष्मी और गच्छवृद्धि इन चार नारियों को श्रमणी दीक्षा दी गयी।^{१०} वि० सं० १३१५ आषाढ़ सुदी १० को पालनपुर में बुद्धिसमृद्धि, ऋद्धिसमृद्धि, ऋद्धिसुन्दरी और रत्नसुन्दरी को आचार्यश्री द्वारा साध्वी दीक्षा दी गयी।^{११} वि० सं० १३१६ माघ सुदी चतुर्दशी को जालौर में आचार्यश्री ने प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित किया।^{१२}

वि० सं० १३१९ माघ वदि पंचमी को विजयश्री तथा वि० सं० १३२१ फाल्गुन सुदी २ को चित्त समाधि एवं शान्तिसमाधि को पालनपुर में आचार्यश्री के हाथों साध्वी दीक्षा प्रदान की गई।^{१३} विक्रमपुर में वि० सं० १३२२ माघ सुदी चतुर्दशी को मुक्तिवल्लभा, नेमिवल्लभा, मंगलनिधि और प्रियदर्शना तथा वि० सं० १३२३ वैशाख सुदी को वीरसुन्दरी

- | | |
|---------------------------------|----------------|
| १. खरतरगच्छवृहद्गुर्बाली पृ० ४४ | २. वही पृ० ४४ |
| ३. वही पृ० ४४ | ४. वही पृ० ४४ |
| ५. वही पृ० ४४ | ६. वही पृ० ४९ |
| ७. वही पृ० ४९ | ८. वही पृ० ४९ |
| ९. वही पृ० ५० | १०. वही पृ० ५१ |
| ११. वही पृ० ५१ | १२. वही पृ० ५१ |
| १३. वही पृ० ५२ | |

की प्रव्रज्या हुई।^१ इसी वर्ष विक्रमपुर में ही मार्गशीर्ष सुदी पंचमी को विनयसिद्धि और आगमसिद्धि को साध्वी दीक्षा दी गयी।^२

वि० सं० १३२४ अगहन वदी २ शनिवार को जावालिपुर में अनन्तश्री, व्रतलक्ष्मी, एकलक्ष्मी और प्रधानलक्ष्मी तथा वि० सं० १३२५ वैशाख सुदी १० को पद्मावती ने भागवती दीक्षा अंगीकार की।^३

वि० सं० १३२६ में आचार्यश्री ने श्रेष्ठिवर्ग की प्रार्थना पर २३ साधुओं तथा लक्ष्मीनिधि महत्तरा आदि १३ साध्वियों के साथ शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की।^४

वि० सं० १३२८ ज्येष्ठ वदी चतुर्थी को जावालिपुर में हेमप्रभा को साध्वी दीक्षा तथा वि० सं० १३३० वैशाख वदी ६ को कल्याणऋद्धि गणिनी को महत्तरा पद दिया गया।^५ वि० सं० १३३१ में आचार्य जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) का स्वर्गवास हुआ।^६

आचार्य जिनेश्वरसूरि के स्वर्गारोहण के पश्चात् वि० सं० १३३१ फाल्गुन वदी ८ को आचार्य जिनप्रमोदसूरि ने खरतरगच्छ का नायकत्व प्राप्त किया। आपके वरदहस्त से अनेक मुमुक्षु महिलाओं ने दीक्षा प्राप्त की, जिसका विवरण इस प्रकार है—

आचार्यश्री ने वि० सं० १३३१ फाल्गुन सुदी ५ को केवलप्रभा, हर्ष-प्रभा, जयप्रभा, यशप्रभा इन चार महिलाओं को दीक्षा प्रदान कर श्रमणीसंघ में सम्मिलित किया। दीक्षा-महोत्सव जावालिपुर में सम्पन्न हुआ।^७

वि० सं० १३३२ ज्येष्ठ वदी प्रतिपदा शुक्रवार को जावालिपुर में ही लब्धिमाला और पुण्यमाला को साध्वी दीक्षा प्रदान की गयी।^८ वि० सं० १३३३ माघ वदी १३ को आचार्यश्री ने गणिनी कुशलश्री को प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित किया।^९

वि० सं० १३३४ चैत्र वदी ५ को आचार्यश्री शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा पर गये। इस यात्रा में उनके साथ २७ मुनि तथा प्रवर्तिनी कल्याणऋद्धि आदि १५ साध्वियाँ भी थीं।^{१०} शत्रुञ्जय तीर्थ पर ही

- | | |
|----------------------------------|----------------|
| १. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० ५२ | २. वही पृ० ५२ |
| ३. वही पृ० ५२ | ४. वही पृ० ५२ |
| ५. वही पृ० ५२ | ६. वही पृ० ५४ |
| ७. वही पृ० ५४ | ८. वही पृ० ५५ |
| ९. वही पृ० ५५ | १०. वही पृ० ५५ |

२४४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

आचार्यश्री ने ज्येष्ठ वदी ७ को भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के समक्ष पुष्पमाला, यशोमाला, धर्ममाला और लक्ष्मीमाला को साध्वी दीक्षा प्रदान की।^१

वि० सं० १३३४ मार्गशीर्ष सुदी १२ को जालौर में गणिनी रत्नश्री को आचार्य जिनप्रबोधसूरि ने प्रवर्तिनी पद प्रदान किया।^२ वि० सं० १३४० ज्येष्ठ वदी ४ को जावालिपुर में ही आपने कुमुदलक्ष्मी और भुवनलक्ष्मी को दीक्षा प्रदान की।^३ अगले दिन अर्थात् ज्येष्ठ वदी ५ को आपने साध्वी चन्दनश्री को महत्तरा पद प्रदान किया।^४

वि० सं० १३४१ ज्येष्ठ सुदी ४ को आचार्यश्री के वरदहस्त से जैसलमेर में पुण्यसुन्दरी, रत्नसुन्दरी, भुवनसुन्दरी और हर्षसुन्दरी को साध्वी दीक्षा प्राप्त हुई।

इसी वर्ष फाल्गुन वदी ११ को आचार्यश्री ने जैसलमेर में ही धर्मप्रभा और हेमप्रभा को उनकी अल्पायु के कारण साध्वी दीक्षा न देकर क्षुल्लक दीक्षा दी।^५ वि० सं० १३४१ वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया को आपने जिनचन्द्रसूरि को अपना पट्टधर घोषित कर वैशाख सुदी ११ को देवलीक प्रयाण किया।^६

आचार्य जिनचन्द्रसूरि (द्वितीय) ने भी अनेक मुमुक्षुमहिलाओं को साध्वी दीक्षा प्रदान कर खरतरगच्छीय श्रमणसंघ के गौरव की वृद्धि की।

आपके वरदहस्त से वि० सं० १३४२ वैशाख सुदी १० को जावालिपुर में जयमंजरी, रत्नमंजरी और शालमंजरी को क्षुल्लक दीक्षा तथा गणिनी बुद्धिसमृद्धि को प्रवर्तिनी पद प्रदान किया गया।^७ इस दीक्षा महोत्सव में प्रीतिचन्द्र और सुखकीर्ति को भी क्षुल्लक दीक्षा दी गयी।^८

वि० सं० १३४५ आषाढ सुदी ३ को जावालिपुर में ही चारित्रलक्ष्मी को साध्वी दीक्षा दी गयी।^९ इसी नगरी में वि० सं० १३४६ फाल्गुन सुदी ८ को रत्नश्री एवं वि० सं० १३४७ ज्येष्ठ वदी ७ को मुक्तिलक्ष्मी और युक्ति-लक्ष्मी को आचार्यश्री के वरदहस्त से साध्वी दीक्षा प्राप्त हुई।^{१०}

- | | |
|----------------------------------|----------------|
| १. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० ५५ | २. वही पृ० ५६ |
| ३. वही पृ० ५८ | ४. वही पृ० ५८ |
| ५. वही पृ० ५८ | ६. वही पृ० ५८ |
| ७. वही पृ० ५९ | ८. वही पृ० ५९ |
| ९. वही पृ० ५९ | १०. वही पृ० ५९ |

वि० सं० १३४७ मार्गशीर्ष सुदी ६ को पालनपुर में आपने साधु-साध्वियों को बड़ी दीक्षा प्रदान की।^१

वि० सं० १३४८ चैत्र वदी ६ को बीजापुर में मुक्तिचन्द्रिका तथा इसी वर्ष वैशाख सुदी ६ को पालनपुर में अमृतश्री को साध्वी दीक्षा प्रदान की गयी।^२ वि० सं० १३५१ माघ वदी ५ को पालनपुर में ही हेमलता को साध्वी दीक्षा दी गयी।^३ वि० सं० १३५४ ज्येष्ठ वदी १० को जावालिपुर में आचार्यश्री ने जयसुन्दरी को दीक्षा देकर श्रमणीसंघ में सम्मिलित किया।^४

वि० सं० १३६६ ज्येष्ठ वदी १२ को आचार्य जिनचन्द्रसूरि शत्रुञ्जय, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा पर निकले। इस यात्रा में आपके साथ प्रवर्तिनी रत्नश्री गणिनी आदि ५ साध्वियाँ तथा कुछ मुनि भी थे।^५ तीर्थ-यात्रा पूर्ण कर आप भीमपल्ली पधारे जहाँ दृढ़धर्मा और व्रतधर्मा को दो अन्य व्यक्तियों के साथ क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की।^६ इसी अवसर पर गणिनी प्रियदर्शना को प्रवर्तिनी पद तथा गणिनी रत्नमंजरी को महत्तरा पद प्रदान किया।^७

वि० सं० १३६९ मार्गशीर्ष वदी ६ को आपने पाटण में गणिनी केवल-प्रभा को प्रवर्तिनी पद प्रदान किया।^८

वि० सं० १३७१ फाल्गुन सुदी ११ को भीमपल्ली में प्रियधर्मा, यशो-लक्ष्मी और धर्मलक्ष्मी को भागवती दीक्षा प्रदान की गयी।^९ इसी वर्ष ज्येष्ठ वदी १० को जावालिपुर में पुष्पलक्ष्मी, ज्ञानलक्ष्मी, कनकलक्ष्मी और मति-लक्ष्मी ने प्रव्रज्या ली।^{१०}

प्राकृत भाषामय अंजनासुन्दरीचरित (रचनाकाल वि० सं० १४०७) की रचयिता और प्राकृत भाषा की एकमात्र लेखिका साध्वी गुणसमृद्धि महत्तरा आपकी शिष्या थीं।^{११}

१. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० ६० २. वही पृ० ६०

३. वही पृ० ६१ ४. वही पृ० ६२

५. वही पृ० ६२ ६. वही पृ० ६३

७. वही पृ० ६४. ८. वही पृ० ६४

९. वही पृ० ६४ १०. वही, पृ० ६४

११. सिरिजेसलमेरपुरे विक्कमचउदसहसतुत्तरे वरिसे ।

वीरजिणजम्मदिवसे कियमंजणसुन्दरीचरियं ॥ ५०३ ॥

वि० सं० १३७५ माघ सुदी १२ को नागौर में एक भव्य समारोह में शीर्षसमृद्धि, दुर्लभसमृद्धि और भुवनसमृद्धि को साध्वी तथा गणिनी धर्ममाला एवं गणिनी पुण्यसुन्दरी को प्रवर्तिनी पद प्रदान किया गया।^१ इसी अवसर पर आचार्यश्री ने पं० कुशलकीर्ति को अपना उत्तराधिकारी (पट्टधर) घोषित कर उन्हें वाचनाचार्य पद दिया।^२ संवत् १३७६ आषाढ़ सुदी ९ को ६५ वर्ष की आयु में आचार्य जिनचन्द्रसूरि का निधन हो गया।^३ गच्छनायक आचार्य के निधन के पश्चात् गच्छ के ज्येष्ठ मुनिजनों, साध्वियों एवं श्रावकों ने एक सभा आयोजित कर स्वर्गीय आचार्य के पूर्वआदेशानुसार गणि कुशलकीर्ति को पाटन में जिनकुशलसूरि के नाम से उनके पट्ट पर आसीन कराया।^४

आचार्य जिनकुशलसूरि ने वि० सं० १३८१ वैशाख बदी ६ को पाटन में धर्मसुन्दरी और चारित्रसुन्दरी को साध्वी दीक्षा दी।^५ वि० सं० १३८३ वैशाख बदी ५ को कमलश्री और ललितश्री की दीक्षा हुई।^६

वि० सं० १३८६ को देवराजपुर में कुलधर्मा, विनयधर्मा और शीलधर्मा ने साध्वी दीक्षा ग्रहण की।^७ इसी नगरी में वि० सं० १३८८ में जयश्री और धर्मश्री को क्षुल्लिका दीक्षा दी गयी।^८ इस प्रकार स्पष्ट है कि खरतरगच्छ में इस समय भी साध्वियों की बड़ी संख्या थी। वि० सं० १३८९ फाल्गुन बदी ५ को आचार्य श्री जिनकुशलसूरि का स्वर्गवास हुआ।^९

दिवंगत आचार्य जिनकुशलसूरि के पूर्व आदेशानुसार क्षुल्लिक पद्ममूर्ति को जिनपद्मसूरि नाम से वि० सं० १३९० ज्येष्ठ सुदी ६ को आचार्य पद

जो आसायण कुणई अणंत संसारू भमई सो जीवो ।

जो आसायण रक्खइ सो पासइ सासयं ठाणं ॥५०४॥

इति श्री अंजणामुन्दरी महासती कथानकं समाप्तम् ।

कृतिरियं श्रीजिनचन्द्रसूरिशिष्यणी श्रीगुणसमृद्धिमहत्तरायाः ॥४॥

‘श्री जैसलमेर दुर्गस्थ जैन ताडपत्रीय ग्रन्थ भण्डार सूचीपत्र’ संपा० मुनि-

पुण्यत्रिजयजी अहमदाबाद, १९७२ ई० क्रमांक—१२७८ पृ० २८२-२८३

- | | |
|----------------------------------|---------------|
| १. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० ६५ | २. वही पृ० ६५ |
| ३. वही पृ० ६८ | ४. वही पृ० ७० |
| ५. वही पृ० ७७ | ६. वही पृ० ८० |
| ७. वही पृ० ८२ | ८. वही पृ० ८५ |
| ९. वही पृ० ८५ । | |

पर प्रतिष्ठित किया गया।^१ यह पट्टमहोत्सव देवराजपुर स्थित विधिचैत्य में स्वगच्छीय साधु-साध्वियों तथा समाज के स्वपक्षीय श्रावकों के समक्ष बड़े धूम-धाम से सम्पन्न हुआ।^२

आचार्य जिनपद्मसूरि ने वि० सं० १३९१ पौष वदी १० को लक्ष्मीमाला नामक गणिनी को प्रवर्तिनी के पद पर प्रतिष्ठित किया।^३ वि० सं० १३९४ चैत्र शुक्ल पूर्णिमा को आप १५ मुनियों तथा जर्पाद्धिमहत्तरा आदि ८ साध्वियाँ और कुछ श्रावकों के साथ अर्बुदतीर्थ की यात्रा पर गये।^४ जिनपद्मसूरि द्वारा किसी महिला को साध्वी दीक्षा देने का उल्लेख नहीं मिलता। वि० सं० १४०४ वैशाख शुक्ल चतुर्दशी को अल्पायु में ही इनका दुःखद निधन हो गया।^५

बाद की शताब्दियों में भी खरतरगच्छ में साध्वियों की पर्याप्त संख्या रही। नाहटाजी द्वारा संकलित और सम्पादित “बीकानेर जैनलेख संग्रह” में भी १८ साध्वियों का उल्लेख मिलता है।^६ अन्य लेख संग्रहों में भी खोजने पर कई साध्वियों का नाम मिल सकता है।

खरतरगच्छीय श्रमणीसंघ में यद्यपि बड़ी संख्या में साध्वियाँ थीं, परन्तु उन्होंने स्वयं को धार्मिक अनुष्ठानों तक ही सीमित रखा। जहाँ इस गच्छ में अनेक साहित्योपासक मुनि हो चुके हैं, वहाँ श्रमणीसंघ में मात्र ४-५ विदुषी साध्वियों का उल्लेख प्राप्त होता है,^७ श्री अगरचन्दजी नाहटा ने नारी शिक्षा का अभाव इसका प्रमुख कारण बतलाया है^८ जो सत्य प्रतीत होता है।

वर्तमान युग में नारी शिक्षा के उत्तरोत्तर प्रचार के कारण श्वेताम्बर-दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों की सभी शाखाओं में आज अनेक विदुषी साध्वियाँ हैं जो तपश्चरण के साथ-साथ स्वाध्याय में भी समान रूप से रत हैं। खरतरगच्छ में साध्वी सज्जनश्री ऐसी विदुषी साध्वी हैं जो अपनी विद्वत्ता के कारण ही प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः नारी शिक्षा के प्रचार के कारण मध्यकाल की अपेक्षा आज खरतरगच्छ ही नहीं वरन् सम्पूर्ण जैन श्रमणी-संघ का भविष्य उज्ज्वल है।

१. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली पृ० ८५

२. वही पृ० ८६

३. वही पृ० ८७

४-५. वही पृ० १७७

६. द्रष्टव्य—परिशिष्ट—च, पृ० ३८

७. नाहटा, अगरचन्द—कतिपय श्वे० विदुषी कवियत्रियाँ, चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ (आरा, विहार १९५४) पृ० ५७० और आगे

८. वही पृ० ५७३

खरतरगच्छीय सुखसागर महाराज के समुदाय की साध्वी-परम्परा का परिचय

सन्तोष विनयसागर जैन

जिस प्रकार शिथिलाचार परिहारी क्रियोद्धारक संविग्न साधु परम्परा का प्रारम्भ १९वीं शताब्दी में उपाध्याय प्रीतिसागर गणि से मानकर उनकी परम्परा का इतिवृत्त दिया है/परिचय दिया है। उसी प्रकार साध्वी वर्ग ने भी इन मुनि-वृन्दों के साथ क्रियोद्धार अवश्य किया होगा, किन्तु इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त नहीं है। क्रियोद्धारिका के रूप में सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी में उद्योतश्रीजी का ही नाम प्राप्त होता है। वर्तमान में समुदाय की परम्परा भी उद्योतश्रीजी की ही शिष्या परम्परा है अतः उद्योतश्रीजी से ही परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है :—

(१) उद्योतश्रीजी

इनका निवास स्थान फलोदी था। नाम नानीबाई था। बाल्यावस्था में ही फलोदी के ही रतनचन्दजी गोलेछा के साथ विवाह हुआ था। अशुभ-कर्मोदय के कारण इनके पति का स्वर्गवास हो गया। पति के अचानक स्वर्गवास से मन संसार से विरक्त हो गया। रूपश्री जी से प्रभावित होकर इन्होंने संवत् १९१८ में राजश्री जी के पास दीक्षा ग्रहण की, नाम उद्योतश्री रखा गया। फलोदी में चातुर्मास के समय ही इन्हें सद्गुरु का सहयोग मिला। सद्गुरु थे क्रियोद्धारक सुखसागरजी। सुखसागरजी की उत्कृष्ट क्रिया पात्रता देखकर उद्योतश्रीजी ने भी क्रियोद्धार किया और उनकी आज्ञानुयायिनी बन गईं।

कालांतर में इन्होंने ४ साध्वियों को दीक्षा देकर अपने साध्वी समुदाय की वृद्धि की। चारों साध्वियाँ थीं—धनश्री, लक्ष्मीश्री, मगनश्री और पुण्यश्री।

साध्वियों को शिक्षा-दीक्षा देती हुई अनेक स्थानों पर विचरण करती रहीं। संवत् १९४० के बाद फलोदी में आपका स्वर्गवास हुआ। इनकी शिष्याओं—लक्ष्मीश्रीजी और शिवश्रीजी की शिष्याओं में अत्यधिक मात्रा में वृद्धि होने के कारण उद्योतश्रीजी की परम्परा दो भागों में विभक्त हो गई। एक लक्ष्मीश्रीजी की परम्परा और दूसरी शिवश्रीजी की परम्परा।

(२) प्रवर्तिनी लक्ष्मीश्रीजी

इनका निवास स्थान फलोदी था। जीतमल जी गोलेछा की सुपुत्री थीं और कनीरामजी झाबक के पुत्र सरदारमलजी की पत्नी थीं। इनका नाम लक्ष्मीबाई था। बालविधवा हो जाने से आपकी भावना वैराग्य की ओर अग्रसर हुई। सुखसागरजी महाराज की देशना से प्रतिबोध पाकर सम्वत् १९२४ मगसर वदी १० को दीक्षा ग्रहण कीं। इन्होंने अनेक महिलाओं को दीक्षा दी थीं। सम्वत् १९३१ में पुण्यश्री को दीक्षा दी थीं। आप कब तक विद्यमान रहें, कब स्वर्गवास हुआ और कहाँ हुआ ? इसका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

(३) प्रवर्तिनी पुण्यश्रीजी

जैसलमेर के निकट गिरासर नामक गाँव में पारख गोत्रीय जोतमलजी की धर्मपत्नी कुन्दनदेवी ने सम्वत् १९१५ वैशाख सुदी छठ को एक बालिका को जन्म दिया उसका नाम पन्नीबाई रखा गया। ११ वर्ष की उम्र में ही फलोदी निवासी दौलतचन्द झाबक के साथ पत्नीबाई का विवाह हुआ। किन्तु, विवाह के १८ दिन पश्चात् ही पत्नीबाई को दुर्दैव से वैधव्य जीवन स्वीकार करना पड़ा। बड़ी कठिनता से दीक्षा की अनुमति प्राप्त कर संवत् १९३१ में गणनायक सुखसागरजी महाराज के हाथों दीक्षा ग्रहण कर लक्ष्मीश्रीजी की शिष्या बनीं और इनका नाम पुण्यश्री रखा गया।

सम्वत् १९३१ से लेकर १९७६ तक ४५ वर्ष पर्यन्त स्थान-स्थान पर वचरण करती हुई, धर्मोपदेश देती हुई शासन की सेवा और खरतरगच्छ की वृद्धि में सतत् संलग्न रहें। इस अवधि में आपकी निश्रा में ११६ दीक्षाएँ विभिन्न स्थानों पर हुईं और वे भी बड़े महोत्सव के साथ। इन ११६ दीक्षाओं में से ४९ तो इन्हीं की शिष्याएँ थीं और शेष इनकी शिष्याओं की और प्रशिष्याओं की शिष्याएँ बनी थीं। गणनायक सुखसागरजी महाराज का वह स्वप्न कि “कुछ बछड़ों के साथ गायों का झुण्ड देखा” वह पुण्यश्री के समय में साकार रूप ले गया।

१९७२ से १९७६ के आपके चातुर्मास जयपुर में ही हुए। अन्तिम अवस्था में आप जयपुर आईं। जयपुर का पानी आपको लग गया। फलतः अस्वस्थ रहने लगीं, शरीर व्याधिग्रस्त और जर्जर हो गया। धर्माराधन और शास्त्रश्रवण करती हुई संवत् १९७६ फाल्गुन सुदी १० को जयपुर में आप स्वर्गवासिनी हुईं। मोहनबाडी में आपका दाहसंस्कार किया गया।

२५० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

और वहीं जिवजीरामजी महाराज की छतरी के पास आपकी छतरी बनाकर चरण पादुका स्थापित की गई ।

(४) प्रवर्तिनी सुवर्णश्रीजी

प्रवर्तिनी पुण्यश्रीजी के स्वर्गवास के पश्चात् उन्हीं के निर्देशानुसार प्रवर्तिनी सुवर्णश्रीजी हुईं । ये अहमदनगर निवासी सेठ योगीदासजी बोहरा की पुत्री थीं । माता का नाम दुर्गादेवी था । इनका जन्म सम्वत् १९२७ ज्येष्ठ बदी १२ के दिन हुआ था । सुन्दरबाई नाम रखा गया था । ११ वर्ष की अवस्था में संवत् १९३८ माघ सुदी ३ के दिन नागौर निवासी प्रतापचन्द्रजी भंडारी के साथ इनका शुभ विवाह हुआ । सम्वत् १९४५ में पुण्यश्रीजी के सम्पर्क से वैराग्यभावना जागृत हुई । बड़ी कठिन्ता से अपने पति से दीक्षा की आज्ञा प्राप्त कर संवत् १९४६ मिंगसर सुदी ५ को दीक्षा ग्रहण कर केसरश्रीजी की शिष्या बनीं । साध्वी जीवन में नाम रखा गया सुवर्णश्री ।

पुण्यश्रीजी का इन पर अत्यधिक स्नेह था । स्वर्गवास के पूर्व इन्हीं को गणनायिका के पद पर घोषित किया था । सम्वत् १९७६ से सुवर्णश्रीजी ने प्रवर्तिनी पद का भार कुशलता के साथ निर्वाह किया । इनकी स्त्रयों की १८ शिष्याएँ थीं ।

(५) प्रवर्तिनी ज्ञानश्रीजी

प्रवर्तिनी स्वर्णश्रीजी के स्वर्गवास के पश्चात् ज्ञानश्रीजी प्रवर्तिनी हुईं । इनका जन्म सम्वत् १९४२ कार्तिक बदी १३ के दिन फलोदी में हुआ था । इनका नाम था गीताकुमारी । केवलचंद्रजी गोलेछा की ये सुपुत्री थीं । मारवाड़ की पुरानी परम्परा के अनुसार गीता/गीथा का विवाह नौ वर्ष की अवस्था में ही भौमचन्द्रजी वेद के साथ कर दिया था । दुर्भाग्य से एक वर्ष में ही भीमचन्द्रजी वेद का स्वर्गवास हो गया और आप बालविधवा हो गईं । साध्वी रत्नश्रीजी के सम्पर्क से वैराग्य का बीज पनपा और आखिर में सम्वत् १९५५ पौष सुदी ७ को गणनायक भगवानसागरजी, तपस्वी छगनसागरजी, त्रैलोक्यसागरजी की उपस्थिति में फलोदी में ही इनकी दीक्षा हुई । पुण्यश्रीजी की शिष्या घोषित कर ज्ञानश्री नामकरण किया गया ।

(६) उपयोगश्रीजी

आप फलोदी निवासी कन्हैयालालजी गोलेछा की पुत्री थीं । केसरबाई नाम था । इनका विवाह गुजराजजी वरड़िया के साथ हुआ था । छोटी

अवस्था में ही विधवा हो गई थीं। ज्ञानश्रीजी के उपदेश से १९७४ माघ सुदी १३ को फलोदी में दीक्षा ग्रहण की थीं। शिष्या अवश्य ही पुण्यश्रीजी की कहलाई। किन्तु सारा जीवन ज्ञानश्रीजी की सेवा में ही बीता। उदारहृदया और सेवाभाविनी थीं। संवत् २०१६ में जयपुर में इनका अकस्मात् ही स्वर्गवास हो गया था।

(७) प्रवर्तिनी विचक्षणश्रीजी

जैन कोकिला प्रखरवक्त्री विदुषी विचक्षणश्रीजी का जन्म १९६९ में अमरावती में हुआ था। इनके पिता का नाम मिश्रीमलजी मूथा और माता का नाम रूपादेवी था। इनका जन्म दाखीबाई था। छोटी अवस्था में ही इनकी सगाई पन्नालाल मुणोत के साथ कर दी गई। मिश्रीमलजी के अचानक स्वर्गवास हो जाने तथा स्वर्णश्रीजी के सतत सम्पर्क में आने के कारण माता और पुत्री दोनों ही दीक्षा की इच्छुक हो गईं। जतनश्रीजी, ज्ञानश्रीजी, उपयोगश्रीजी आदि की उपस्थिति में संवत् १९८१ में माँ-बेटी दोनों को दीक्षा दी गई। रूपाबाई का नाम विज्ञानश्री और दाखाँ का नाम विचक्षणश्री रखा गया और दोनों को स्वर्णश्रीजी महाराज की शिष्या घोषित किया। इन दोनों को बड़ी दीक्षा गणनायक हरिसागरजी महाराज ने दी और विचक्षणश्रीजी को जतनश्रीजी की शिष्या घोषित किया।

आपकी वाणी में श्रोता को मुग्ध करने का जादू था। बड़ी-बड़ी विशाल सभाओं में निर्भीकता के साथ भाषण/प्रवचन देती थीं। बड़े-बड़े जैनाचार्यों के समक्ष भी भाषण देने में कभी भी हिचकिचाई नहीं। तपागच्छ के प्रसिद्ध आचार्य युग दिवाकर विजय बल्लभसूरिजी ने तो इनके भाषणों से मुग्ध होकर इन्हें “जैन कोकिला” से सम्बोधित किया था। प्रवर्तिनी ज्ञानश्रीजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् इस समुदाय का भार इन्हीं के कंधों पर आ गया और इन्होंने सफलतापूर्वक निभाया।

(८) प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी

गुलाबी नगरी जयपुर में ही जन्मीं, यहीं खेलीं, बड़ी हुईं, यहीं विवाहित जीवन जीया, यहीं दीक्षा ग्रहण की।

संवत् २०३७ से प्रवर्तिनी पद को सुशोभित कर रही हैं। अभी आपकी आज्ञा में निम्नांकित साध्वी समुदाय विचरण कर रहा है :—

१. शशिप्रभाश्रीजी आदि १२ ठाणा, सज्जनश्रीजी महाराज की ही शिष्याएँ हैं।

२५२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

२. स्वर्गीया चम्पाश्रीजी महाराज की शिष्याएँ जितेन्द्रश्रीजी, १२ ठाणा से विचरण कर रही हैं।

३. विचक्षण मण्डल की ५१ साध्वियाँ अनेक स्थानों पर विचरण कर रही हैं।

४. रतिश्रीजी ७ ठाणा के साथ फलोदी में विराजमान हैं।

५. स्वर्गीया पवित्रश्रीजी की शिष्याओं में दिव्यप्रभाश्रीजी ८ ठाणा के साथ हैं।

अन्त में प्रवर्तिनी सज्जनश्रीजी महाराज दीर्घजीवी हों और शासन तथा खरतरगच्छ के अभ्युदय में निरन्तर सहयोग देती रहें, यही हार्दिक शुभकामना है।

(२) शिवश्रीजी महाराज का समुदाय

उद्योतश्रीजी महाराज की लघु शिष्या थीं शिवश्रीजी। इनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की जानकारी अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। किंतु आपका साध्वी समुदाय भी विशाल होने के कारण यह समुदाय शिवश्रीजी के समुदाय के नाम से प्रसिद्ध है। बहुतेको दीक्षा दी होगी, किंतु जिनकी बाद में परम्परा चली वे मुख्यतः ५ हुई थीं। उन पाँचों के नाम इस प्रकार हैं :—

प्रतापश्रीजी, देवश्रीजी, ज्ञानश्रीजी, प्रेमश्रीजी और विमलश्रीजी। अब इन पाँचों के परिवार का संक्षिप्त व्यौरा इस प्रकार है :—

(१) प्रवर्तिनी प्रतापश्रीजी

शिवश्रीजी के स्वर्गवास के पश्चात् ये प्रवर्तिनी बनीं। इनकी दीक्षा संवत् १९४८ मिंगसर वदी दूज को हुई थी। गृहस्थावस्था में ये सूरजमलजी झाबक की पत्नी थीं और नाम ज्योतिबाई था। आपने अनेक शिष्याएँ बनाई थीं, इनमेंसे दिव्यश्रीजी, मोहनश्रीजी आदि आज विद्यमान हैं।

(२) प्रवर्तिनी देवश्रीजी

इनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त नहीं है। प्रतापश्रीजी के स्वर्गवास के पश्चात् इस समुदाय का नेतृत्व इन्होंने संभाला था और इन्होंने प्रवर्तिनी पद प्राप्त किया था। चन्द्रकान्ताश्रीजी आदि कुछ साध्वियाँ इनकी परम्परा में विद्यमान हैं।

(३) प्रवर्तिनी प्रेमीश्रीजी

प्रवर्तिनी देवश्रीजी के पश्चात् प्रेमीश्रीजी ने प्रवर्तिनी पद प्राप्त किया था। फलोदी में ही इनका स्वर्गवास हुआ था। इनकी परम्परा में निम्नांकित साध्वियाँ विद्यमान हैं :—

१. विकासश्रीजी ठाणा ३

२. विनोदश्रीजी

३. विदुषी साध्वी हेमप्रभाश्रीजी ठाणा १४ जिनके उपदेश से बीकानेर में उपधान तप हुआ था। शास्त्रों की अच्छी जानकार हैं और अच्छी वक्ता हैं।

४. सुलोचनाश्रीजी ठाणा ९।

(४) प्रवर्तिनी वल्लभश्रीजी

प्रेमश्रीजी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् साध्वी समुदाय का नेतृत्व वल्लभश्रीजी के कन्धों पर आया, प्रवर्तिनी बनीं। वल्लभश्रीजी महाराज की शिष्या थीं। ज्ञानश्रीजी प्रेमश्रीजी से बड़ी थीं किन्तु स्वर्गवास पूर्व हो जाने के कारण प्रवर्तिनी पद प्रेमश्रीजी को प्राप्त हुआ था और तत्पश्चात् वल्लभश्रीजी को। वल्लभश्रीजी अच्छी विदुषी थीं, आगमों की जानकार थीं, उपदेश देने में पटु थीं। आपका स्वर्गवास भी फलोदी में हुआ था। इनकी शिष्या-प्रशिष्याओं में लगभग ३५ अभी विद्यमान हैं।

विवरण इस प्रकार है—

१. प्रवर्तिनी जिनश्रीजी आदि ६ ठाणा

२. निपुणाश्रीजी आदि

३. छत्तीसगढ़शिरोमणि मनोहरश्रीजी आदि १९ ठाणा। ये अच्छी विदुषी साध्वी हैं। इनकी समस्त साध्वियाँ व्याख्यान देने में पटु हैं।

४. कुसुमश्रीजी आदि।

(५) प्रवर्तिनी प्रमोदश्रीजी

प्रवर्तिनी वल्लभश्रीजी के स्वर्गवास के पश्चात् प्रवर्तिनी पद पर प्रमोदश्रीजी की स्थापना हुई। प्रमोदश्रीजी महाराज की प्रशिष्या और विमलश्रीजी की शिष्या थीं। इनका जन्म सं० १९५५ कार्तिक सुदी ५ को फलोदी में हुआ था। गोलोछागोत्रीय सूरजमलजी की पत्नी श्रेठीवाई की पुत्री थीं। इनकी दीक्षा सं० १९६४ माघ सुदी ५ को फलोदी में हुई थी। वे भी आगम साहित्य की अच्छी जानकार थीं। इनकी साध्वी परम्परा में

२५४ : जैनधर्म को प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

प्रकाशश्रीजी, विजयेन्द्रश्रीजी, विद्युतप्रभाश्रीजी आदि ठाणा ७ विद्यमान हैं। विद्युतप्रभाश्रीजी अच्छी लेखिका हैं और डाक्टरेट के लिए शोध प्रबंध लिख रही हैं। प्रमोदश्रीजी महाराज का २०३९ पौष वदी १० को बाड़मेर में स्वर्गवास हुआ।

(६) प्रवर्तिनी जिनश्रीजी

प्रमोदश्रीजी के पश्चात् प्रवर्तिनी पद पर प्रवर्तिनी बल्लभश्रीजी महाराज की शिष्या जिनश्रीजी विभूषित हुईं। इनका जन्म संवत् १९५७ आश्विन सुदी ८ को तिवरी में हुआ था। पिता का नाम बूरड लाधूरामजी और माता का नाम धुणीदेवी था। संवत् १९७६ में मिगसर सुदी ५ को आपने बल्लभश्रीजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की थी। २०४० वैशाख शुक्ला दूज को आपने प्रवर्तिनी पद प्राप्त किया था। ८८ वर्ष की वृद्धावस्था और शारीरिक अस्वस्थता के कारण अभी आप ६ ठाणों से अमलनेर में विराजमान हैं। शिवश्रीजी समुदाय की लगभग ९० साध्वियों का आप नेतृत्व कर रही हैं।

शिवश्रीजी महाराज के समुदाय का ब्यौरेवार विस्तृत इतिहास समय और सामग्री के अभाव के कारण नहीं लिखा जा सका है।



खरतरगच्छीय प्रवर्तिनी सिंहश्रीजी म० के साध्वी-समुदाय का परिचय*

● साध्वी हेमप्रभाश्रीजी

जैन धर्म परम्परा में—मोक्ष की राह पर चलने का नारी व पुरुष को समान अधिकार है। आत्मसमानता के संगायक भगवान् महावीर ने साधना के क्षेत्र में जाति-भेद, वर्ग-भेद और रंग-भेद आदि को कभी नहीं स्वीकारा। उनका सदा उद्घोष रहा कि साधना करने का, आत्मविकास करने का, मुक्ति प्राप्त करने का सबको समान अधिकार है। आत्म-प्रधान दर्शनों में परस्पर विभेद रेखायें ही नहीं सकतीं। जो अनन्त-गुण-युक्त आत्मज्योति पुरुष में है, वैसी ही आत्मज्योति नारी में है। अतः साधना के क्षेत्र में पुरुष एवं नारी का कोई भेद नहीं। यही कारण है कि चतुर्विध संघ की स्थापना में साधु के साथ साध्वी और श्रावक के साथ श्राविका को भी उन्होंने समान स्थान दिया। नेतृत्व की दृष्टि से यद्यपि साध्वियाँ पीछे हैं। सामान्य स्थिति में संघ का नेतृत्व कभी उनके हाथों नहीं आया, तथापि संयम-साधना, शासन-प्रभावना, विद्वत्ता आदि की दृष्टि से संघ में उनका स्थान गौरवपूर्ण रहा, और है। साहस व संकल्प की दृष्टि से देखा जाय तब तो कभी-कभी नारी-पुरुष की प्रेरणा बनने का दिव्य और भव्य सौभाग्य प्राप्त कर चुकी है। ब्राह्मी, सुन्दरी, राजीमती, याकिनी महत्तरा, नागिला आदि इसके अनुपम उदाहरण हैं। उन्होंने अपनी राह में डगमगाते साधकों को स्थिर ही नहीं किया, उन्होंने महान् त्यागी व संयमी बनाकर मुक्ति का पथिक बनाया। इतना ही नहीं, साधकों की संयम-रक्षा-हेतु उन्होंने अपने जीवन का उत्सर्ग तक कर दिया। साध्वी बन्धुमती, इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

भगवान् महावीर के समय में विद्यमान साध्वी प्रमुखा आर्या चन्दन-बालाजी से लेकर साध्वियों की यह गौरवपूर्ण परम्परा आज तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। इस परम्परा में कई संयमी, तपस्वी, विदुषी, कवयित्री एवं लेखिका आर्यायें हुईं और वर्तमान में हैं, जिनकी गौरवगाथा प्रकाशस्तम्भ की तरह आज भी मानव-जाति का दिशा-निर्देश करती हैं।

* 'महाश्रमणी' नामक अभिनन्दनग्रन्थ से साभार।

इस परम्परा में खरतरगच्छीय साध्वीमंडल संयमनिष्ठा, विद्वत्ता, वक्तृत्व, लेखन आदि की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। आज भी इस परम्परा में, कम संख्या में होते हुए भी, उच्चकोटि की संयम-साधिकायें, वक्ता, कवयित्री, लेखिका आदि बड़ी विदुषी साध्वियाँ हैं, जो आत्म-साधना करती हुई अपने ज्ञान एवं प्रतिभा के द्वारा जन-जन तक भगवान् महावीर का दिव्य सन्देश पहुँचा रही हैं।

समय के प्रवाह के साथ यह परम्परा कई शाखा-उपशाखाओं से समृद्ध बनी। प० पू० खरतरगच्छाधिपति सुखसागरजी म० के समुदाय में वर्तमान में साध्वियों की दो समृद्ध परम्परायें हैं जो पुण्यमण्डल और शिवमण्डल के नाम से प्रसिद्ध हैं। पुण्यमण्डल की प्रमुखा हैं, पुण्यश्लोका पुण्यश्रीजी म० सा० एवं शिवमण्डल की नेत्री हैं, प० पू० स्वनामधन्या संयममूर्ति शिवश्रीजी म० सा०। दोनों का मूल एक ही है, दोनों ही प० पू० लक्ष्मीश्रीजी म० सा० की शिष्यायें हैं।

लक्ष्मी श्रीजी

लक्ष्मीश्रीजी वास्तव में गच्छ के लिए लक्ष्मीस्वरूपा सिद्ध हुईं। आपकी परमकृपा का सुपरिणाम है कि आज दोनों मण्डल सुयोग्य साध्वियों से समृद्ध हैं। आप फलौदी निवासी जीतमलजी गुलेछा की सुपुत्री थीं। आपकी शादी उस समय के रिवाज के अनुसार छोटी उम्र में ही झावक परिवार में हुई। कुछ समय बाद ही अचानक आपके पति की मृत्यु हो गई। छोटी उम्र, धर्मरुचि, पारिवारिक सुविधा ने आपको सत्संग से जोड़ दिया। प० पू० खरतरगणाधीश सुखसागरजी म० सा० के त्याग, वैराग्यपूर्ण प्रवचन एवं प० पू० गुरुवर्या श्री उद्योतश्रीजी म० सा० की सत्प्रेरणा से आप विरक्ता बनीं और वि० सं० १९२४ की मिगसर वदी १० को दीक्षा ग्रहण की। पू० गुरुदेव एवं गुरुवर्याश्री की निश्चा में शास्त्राध्ययन कर आपने विद्वत्ता प्राप्त की थी। आप विदुषी होने के साथ प्रखरव्याख्यात्री, तपस्विनी, संयम एवं प्रभावशालिनी थीं। आपकी दो शिष्यायें थीं १. प० पू० मगनश्री जी म० सा० २. शिवश्रीजी म० सा०। खरतरगच्छ में शिवमण्डल के नाम से प्रसिद्ध साध्वी मण्डल आपकी ही परम्परा में है।

सिंहश्रीजी

आपका नाम शिवश्रीजी और सिंहश्रीजी दोनों मिलते हैं। आपका जन्म वि० सं० १९१२ में फलोदी में हुआ था। पिता का नाम लालचन्द्रजी और माता अमोलक देवी थीं। आपका जन्म नाम शेरू था। २० साल

सरतरगच्छीय प्रवर्तिनी सिंहश्रीजी म० के साध्वी-समुदाय का परिचय : २५७

की उम्र में ही विधवा हो जाने से वैराग्यवृत्ति जागृत हुई। आप १९३२ की अक्षयतृतीया को प० पू० लक्ष्मीश्रीजी म० के चरणों में संयम स्वीकार कर समर्पित हो गईं। आपका प्रवचन बड़ा ही प्रभावशाली, रोचक व प्रेरक होता था। यही कारण है कि आपने कई आत्माओं को प्रतिबोध दे संयमी बनाया। दूसरों की भावना को अपने विचारों से अनुप्राणित कर देने की क्षमता प्राप्त कर लेना, बहुत बड़ी उपलब्धि है। आप ही का पुण्य प्रभाव है कि आज आपकी परंपरा सुयोग्य-साध्वियों से समृद्ध है, और शिव-मंडल के नाम से प्रसिद्ध है। आपकी ७ शिष्यायें प्रसिद्ध हैं। १. प्रतापश्रीजी म० २. देवश्रीजी म० ३. प्रेमश्रीजी म० ४. ज्ञानश्रीजी म० ५. वल्लभश्रीजी म० ६. विमलश्रीजी म० ७. प्रमोदश्रीजी म०। आप वि० सं० १९६५ पौ० सु० १२ को अजमेर में दिवंगत हुईं।

इन सात पूज्याओं का विशाल शिष्या-प्रशिष्या परिवार शिव-मण्डल है। रंग-विरंगे पुष्पों से जैसे वाटिका महकती है, वैसे गुण-सौरभ संपन्न ८५-९० साध्वियों से यह शिव-मण्डल का बगीचा महक रहा है।

प्रतापश्रीजी

आपका जन्म वि० सं० १९२५ पौषसुद १० को फलोदी में हुआ था। आपके पिता मुकनचन्दजी लूंकड़ एवं माता सुकन देवी थीं। आपका नाम आसीबाई था। १२ वर्ष की अल्पायु में सूरजमलजी झाबक के साथ आपका विवाह हुआ किन्तु आपका गृहस्थ-जीवन लम्बे समय तक नहीं चला। कुछ वर्षों में ही आपका सौभाग्य छिन गया।

आसीबाई 'बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुध लेय' के अनुसार जो कुछ हुआ उसे भूलकर, आगे क्या करना है, उस प्रयास में जुट गईं। सर्वप्रथम उन्होंने श्रावकोचित् सूत्रों का अध्ययन प्रारम्भ किया। धर्मा-राधना में मन पिरोया। इससे उन्हें वेदना में विश्राम मिला। शांति एवं सान्त्वना मिली। कर्मबन्धन से ऊँचा मन मुक्ति की साधना की राह खोजने लगा। ठीक इसी समय आदर्श त्याग-प्रतिमा, विशुद्ध संयमी शिवश्रीजी म० सा० का आपको सुयोग मिला। उनकी प्रेरणा से आसीबाई में पूर्ण साधनामय संयमी जीवन-जीने का दृढ़ संकल्प बना और वि० सं० १९४७ मिंगसर बदी १० को आपने दीक्षा ग्रहण की। आपने पू० शिवश्रीजी म० सा० की प्रधानशिष्या बनने का गौरव प्राप्त किया।

देवश्रीजी

आप प्रकृति से गम्भीर, शान्त एवं शुचिमना थीं। आपका जन्म वि० १७

२५८ : जैनधर्म की प्रमुख साधवियाँ एवं महिलाएँ

सं० १९२८ में फलोदी में हुआ था। वैधव्य के पश्चात् पू० गुरुवर्या सिंहश्रीजी म० सा० के सान्निध्य में दीक्षा ग्रहण की। आप उच्चकोटि की विद्वत्ता तो नहीं प्राप्त कर सकीं, परन्तु विनय एवं सेवा के क्षेत्र में अग्रगण्य रहीं। गुरु एवं गुरुबहिनों के प्रति आपका जो सेवा-शुश्रूषा एवं स्नेह भाव था, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। अपनी गुरुबहिनों का कार्य स्वयं करके उन्हें अध्ययन का अवसर देना आपकी महानता का परिचायक है। जहाँ पारस्परिक प्रतिस्पर्धा होना स्वाभाविक है, वहाँ गुरुबहिनों को आगे बढ़ाने में प्रेमपूर्वक सहयोग करना, आपकी महान् विशिष्टता है। स्नेह के साथ आप में अनुशासन की कुशलता भी थी। स्नेह और अनुशासन, एक अच्छी संरक्षिका के दोनों ही गुण आपमें मौजूद थे। आपके इन्हीं सदगुणों को देखकर वि० सं० १९९७ माघ वदी १३ को प्रवर्तिनी पद से विभूषित किया गया।

आप १०-११ शिष्याओं के गुरुपद को सुशोभित करती थीं। आपकी शिष्याओं में प० पू० विदुषीरत्ना बा० ब्र० हीराश्रीजी म० सा० “यथानामा तथागुणा” ही थीं। आपका स्वर्गवास वि० सं० २०१० भाद्रवा वदी १३ को फलोदी में हुआ।

प्रेमश्रीजी

आपका जन्म फलोदी निवासी किशनलालजी की धर्मपत्नी लाभूदेवी की कुक्षि से वि० सं० १९३८ की शरद-पूर्णिमा को हुआ था। आपका नाम धूलि रखा गया। धर्मसंस्कारों में पली, योग्य शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न ‘धूलि’ को १३ वर्ष की उम्र में, अईदानजी गुलेछा के साथ, विवाहसूत्र में बाँध दिया गया किन्तु कुदरत को कुछ और ही मंजूर था। शादी को साल भर भी पूरा नहीं हुआ, पति की मृत्यु हो गई, दुख होना स्वाभाविक था।

संयमी सिंहश्रीजी म० सा० के सुयोग एवं सदुपदेश से धूलिबाई के हृदय में सम्यग्ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हुई। धीरे-धीरे चिरसंचित वैराग्यभावना को पोषण मिला। संसार में होने वाले कर्मबन्धन के चिन्तन से वे काँप उठीं। आखिर गुरुवर्याश्री के चरणों में संयम लेने की प्रबल-भावना जाग उठी। सुयोग्य पात्र देखकर गुरुवर्याश्री ने भी उन्हें सहर्ष स्वीकृति दे दी। १६ वर्ष की उम्र में वि० सं० १९५४ मि० वदी १० को आपने बड़े समारोहपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। आपके जीवन में प्राणीमात्र के प्रति प्रेम का माधुर्य छलकता देखकर गुरुवर्याश्रीजी ने आपका अन्वर्थक नाम ‘प्रेमश्रीजी’ रखा। तीक्ष्ण बुद्धि, प्रखर-प्रतिभा, गुरु-समर्पण, अटूट-लगन,

सेवाभाव, संयमनिष्ठा, निस्पृहता आदि अलौकिक गुणों ने आपको ज्ञानी, प्रखर-व्याख्यात्री, विशुद्ध-संयमी एवं ध्यानी बना दिया।

वि० सं० २०१० की भादवा सु० १५ को अनिच्छा से आपको प्रवर्तिनी पद से विभूषित किया गया। अपने पूर्व संकेतानुसार आ० कृ० १३ को मानते वस्त्र परिवर्तन कर रही हों, इस तरह पूर्ण तैयारीपूर्वक हैंसते-हैंसते मृत्यु का वरण किया। आपने गच्छ व शासन को १७ विदुषी, विशुद्धसंयमी, शासन-प्रभाविका, प्रखर व्याख्यात्री शिष्याओं की अपूर्व भेंट दी। जिनके द्वारा की गई शासन सेवा एवं वर्तमान में २५ प्रशिष्याओं द्वारा हो रही शासनसेवा के लिये गच्छ को बड़ा गौरव है। आपके यशश्रीजी म०, शान्तिश्रीजी म०, क्षमाश्रीजी म०, अनुभवश्रीजी म०, शुभश्रीजी म०, तेजश्रीजी म० आदि अनेक शिष्यार्यें हुईं। वर्तमान में साध्वीश्री विनोद-श्रीजी म०, प्रियदर्शनाश्रीजी म०, विकासश्रीजी म०, हेमप्रभाश्रीजी, सुलोचनाश्रीजी म० आदि विचरण कर रही हैं।

ज्ञानश्रीजी

आप लोहावट निवासी पारख गोत्रीय मुकनचन्दजी एवं कस्तूरदेवी की सुपुत्री थीं। आपका जन्म वि० सं० १९२८ की श्रावण शुक्ला ३ को हुआ था। आपका नाम जड़ाव था। वास्तव में आपका जीवन सुसंस्कार एवं सद्गुणों से जड़ा हुआ था। आपका विवाह लोहावट में ही लक्ष्मीचन्द जी सा० चौपड़ा के साथ हुआ। किन्तु काल ने १२ वर्ष की अल्प अवधि में ही संस्कारो युगल को वियुक्त कर दिया। जड़ावबाई विधवा हो गईं। पतिवियोग की व्यथा उनकी आत्मोन्नति में प्रेरक बनी। इसे सफल बनाने का काम किया पू० श्रीसिंहश्रीजी म० के सदुपदेशों ने। ५ वर्ष के अथक प्रयास से आखिर सफलता मिली और वि० सं० १९६१ की मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी के दिन दीक्षा ग्रहण की। ज्ञानश्रीजी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। बड़ी उम्र में दीक्षा लेकर भी आपकी पढ़ने की रुचि अद्वितीय थी। यही कारण है कि आपने बड़ी उम्र में अच्छा अध्ययन किया। आपकी ज्ञानरुचि ने ही लोहावट फलोदी आदि में कन्या पाठशाला खुलवाई। आपके उपदेश से खीचन, जैसलमेर का संघ निकला। वल्लभश्रीजी म० जैसी महान् साध्वी-रत्न आपकी ही देन है। धर्मशालाओं का निर्माण हुआ। १९९६ वै० सु० १३ को फलोदी में आप समाधिपूर्वक दिवंगत हुईं। आप १३ सुयोग्य शिष्याओं की गुरुणी थीं। पू० शासन दीपिका मनोहरश्रीजी म० सा० आपकी ही प्रशिष्या है।

वल्लभश्रीजी

आपका जन्म लोहावट में पारख गोत्रीय सूरजमलजी की धर्मपत्नी श्रीमती गोगादेवी की कुक्षि से वि० सं० १९५१ पौष कृष्ण ७ को हुआ था। १० वर्ष की उम्र में ही भुवाजी (ज्ञानश्रीजी म०) द्वारा प्रदत्त संस्कार प० पू० गुरुवर्या श्री सिंहश्रीजी म० के प्रभावशाली, वैराग्यमय प्रवचनों से अंकुरित हुए। भुवाजी के साथ दीक्षा लेने का संकल्प कर लिया। महान् तपस्वी छगनसागर जी म० सा० के कर-कमलों से दीक्षित हो भुवा-भतीजी की यह अलबेली जोड़ी पू० गुरुवर्या सिंहश्रीजी म० सा० का शिष्यत्व स्वीकार कर कृतार्थ बनी। छोटी उम्र, तीक्ष्ण बुद्धि, दृढ़ लगन, अध्ययन रुचि से आप थोड़े वर्षों में ही महान् विदुषी बन गईं। प० पू० प्रेमश्रीजी म० सा० के दिवंगत होने के पश्चात् उनकी परम कृपा-पात्र आपको छोटी सादड़ी में वि० सं० २०१० शरदपूर्णिमा को भव्य समारोह के साथ शिव-मण्डल का नेतृत्व रूप प्रवर्तिनी पद से विभूषित किया गया। आपके हाथों शासन-प्रभावना के अनेकों कार्य हुए। अन्त में जंघाबल क्षीण होने पर अमलनेर महाराष्ट्र में ६ साल स्थानापन्न रहीं। आप वि० सं० २०१८ फा० सु० १४ को समाधिपूर्वक स्वर्ग सिधारीं। आपके विशाल शिष्या-प्रशिष्या परिवार में कई साध्वियाँ बड़ी विदुषी, अच्छी व्याख्यात्री, लेखिका एवं कवयित्री हैं। आपश्री ने करीब २० पुस्तकों का लेखन, संपादन व प्रकाशन करवाया था।

जिनश्रीजी

आप वर्तमान में शिव-मंडल के प्रवर्तिनी पद पर प्रतिष्ठित प० पू० प्र० श्री वल्लभश्रीजी म० सा० की प्रधान शिष्या हैं। आपका जन्म वि० सं० १९५७ आश्विन सु० ८ को तिवरी (राज०) में हुआ था। आपके पिता श्री लादुराम जी बुरड़ एवं मातुश्री घूडी देवी थीं। आपका नाम 'जेठीबाई' था। १४ वर्ष की उम्र में आपका विवाह राजमलजी श्रीमाल के साथ हुआ था किन्तु डेढ़ वर्ष के बाद ही आप विधवा हो गईं। कभी-कभी दुःख सुख के लिए होता है। अन्धकार में प्रकाश को किरण चमक जाती है। वि० सं० १९७६ में प० पू० ज्ञानश्रीजी एवं प्र० पू० वल्लभश्रीजी म० तिवरी पधारीं। आप भी गुरुवर्याओं के दर्शनार्थ गईं। कुछ ही क्षणों के संसर्ग ने जेठीबाई की चेतना को जगाया। गुरुवर्या श्री तो दूसरे दिन जोधपुर की ओर विहार कर गईं किन्तु जेठीबाई के दिल में हलचल बढ़ती गई। उनके पुण्य से खिंची पू० गुरुवर्या का वह चातुर्मास तिवरी में ही

हो गया। जेठीबाई की मनोकामना सफल हुई। पू० गुरुवर्या के सान्निध्य से उन्होंने अध्ययन के साथ-साथ अपने आत्मबल एवं वैराग्य-भावना को दृढ़ बनाया। चातुर्मास बाद वि० सं० १९७६ मि० सु० ५ को दीक्षा ग्रहण कर पू० वल्लभश्रीजी म०सा० की प्रधान शिष्या बनीं। अध्ययन के साथ आप सामुदायिक विचार-विमर्श, देखभाल आदि का उत्तरदायित्व निभाने में अपनी गुरुवर्या का पूर्ण सहयोग करने लगीं। आपकी सूझ-बूझ इतनी विवेकपूर्ण थी कि बिगड़ती बात बना लेती थीं। पूज्या प्रवर्तिनी जी के पास आपका पद सदा 'मन्त्री' जैसा ही रहा। गुरुसेवा आपके जीवन का सर्वस्व था। शिष्य का विनय, गुरु के वात्सल्य को खींचता है। जहाँ ये दोनों होते हैं, वहाँ आनन्द का पूछना ही क्या? आपने अपने समूचे अस्तित्व को गुरु में विलीन कर दिया था। उनकी अपनी इच्छा, भावना कुछ भी नहीं सब कुछ गुरु समर्पित था। आप उन शिष्याओं में थीं, जो गुरुहृदय में बसकर 'धन्यतम' की कोटि में आते हैं। इसी के परिणाम-स्वरूप प० पू० प्रमोदश्रीजी म० सा० के स्वर्गवास के बाद शिव-समुदाय का संचालन आपके हाथों सौंपा गया। आज आपकी उम्र ८८ वर्ष की है फिर भी अपने उत्तरदायित्व को बड़ी कुशलता के साथ निभा रही हैं। आपकी दीर्घायु की कामना के साथ शासन देव से प्रार्थना है कि आपके सफल नेतृत्व में, समुदाय अधिकाधिक रत्नत्रय की आराधना एवं शासन प्रभावंना करते हुए समृद्ध बने।

वर्तमान में विचरण कर रही साध्वी श्री कुसुमश्रीजी म०, निपुणश्रीजी म०, कमलप्रभाश्रीजी म० आदि प्रवर्तिनी श्री वल्लभश्रीजी म० सा० की ही विदुषो शिष्याएँ हैं।

विमलश्रीजी

आपका जन्म-स्थान एवं समय उपलब्ध न हो सका। आप शिवश्रीजी म० सा० की शिष्या थीं। आपका सबसे बड़ा योगदान है प० पू० प्र० प्रमोदश्रीजी म० सा० जैसे व्यक्तित्व का निर्माण करना। पू० शिवश्रीजी म० सा० तो मातापुत्री (पू० जयवन्तश्रीजी म०, प्रमोदश्रीजी म०) को दीक्षा देकर उनकी शिक्षा-दीक्षा का सारा उत्तरदायित्व पू० विमलश्रीजी म० को सौंपकर अजमेर पधार गई थीं। करीब ११ महीने बाद आपका स्वर्गवास भी हो गया था। अतः बालसाध्वी प्रमोदश्रीजी की विलक्षण बुद्धि और विलक्षण प्रतिभा को सफल बनाने का सारा उत्तरदायित्व आप पर ही था। आपने उसको बखूबी निभाया और एक तेजस्वी व्यक्तित्व का

निर्माण कर शासन की अपूर्व सेवा की। आपका यह योगदान सदा अविस्मरणीय रहेगा।

प्रमोदश्रीजी

शारीरिक सौन्दर्य से बाह्य-व्यक्तित्व एवं ज्ञान की आभा से आपका आन्तरिक व्यक्तित्व देदीप्यमान था। आप फलोदी में सूरजमलजी गुलेछा की सद्धर्मपरायण पत्नी जेठी देवी की कुक्षि से वि० सं० १९५५, कार्तिक सु० ५ को जन्मी थीं। आपका नाम लक्ष्मी था। ज्ञानपंचमी को जन्मी लक्ष्मी शायद ज्ञान साधना के लिए ही अवतरित हुई थीं। युवावस्था में ही पति की मृत्यु हो जाने से लक्ष्मी की माता का झुकाव धर्म की ओर बढ़ने लगा। ५० पू० गुरुवर्या सिंहश्रीजी म० सा० के सम्पर्क ने उनमें एक नई चेतना, नई-स्फूर्ति और नया जीवन जीने की तीव्र आकांक्षा पैदा कर दी तथा राग के स्थान पर उनके मन में वैराग्य घोल दिया। इधर लक्ष्मी की सगःई ढाई साल की उम्र में ही, संपन्न ढढा परिवार के सपूत श्रीलालचन्दजी से कर दी गई थी। जैसे-जैसे बड़ी होती गई, माता के साथ उनका भी गुरुवर्या में सम्पर्क बढ़ता गया। ९ वर्ष की उम्र होते-होते तो पूर्वजन्म के संस्कार एवं वर्तमान के वातावरण के कारण लक्ष्मी पूर्ण विरक्ता बन गईं। बुद्धि इतनी तीव्र थी कि एक बार सुन लिया तो सदा के लिए हृदयंगम हो गया। प्रतिभा इतनी प्रखर कि कैसा भी प्रश्न क्यों न हो, तुरन्त जवाब तैयार, साहस इतना कि बड़ों-बड़ों को बेहिचक जवाब दे देती। माता से अधिक जल्दी थी उन्हें दीक्षा ग्रहण की। दादाजी, नानाजी एवं स्वसुरपक्ष तीनों की ममता का केन्द्र लक्ष्मी के लिए इतना आसान नहीं था, घर छोड़ना। किन्तु जहाँ संकल्प है, वहाँ सिद्धि है। एक सुनहरा प्रभात आ ही गया, माता-पुत्री के संयम-ग्रहण का। वि० सं० १९६४ माघ० सु० ५ को दोनों सिंहश्रीजी म० सा० का शिष्यत्व स्वोकार शासन को समर्पित हो गईं।

आप कई विषयों में निष्णात थीं किन्तु आगम-अध्ययन के प्रति आपकी विशेष रुचि एवं प्रयास रहा। यही कारण था कि आपका आगम-ज्ञान अगाध एवं मार्मिक था। आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा एवं सतत-चिन्तन के आधार पर प्रचलित कई मान्यताओं को नया मोड़ दिया। कई बार वे शास्त्रीय चर्चा में अच्छे भले विद्वान् मुनिवरों को विषय की अतल गहराई में ले जाकर चकित कर देती थीं। आप ओजस्वी प्रवचनकार थीं, आपकी प्रवचन-शैली इतनी निराली एवं रसपूर्ण थी कि एक-एक शब्द से अमृत रस

स्रतरगच्छीय प्रवर्तिनी सिंहश्रीजी म० के साध्वी-समुदाय का परिचय : २६३

झरता था। आप केवल विदुषी ही नहीं तपस्विनी भी थीं। ७४ वर्ष की उम्र में आपने मास-खमण जैसी महान् तपस्या की। आपके द्वारा लिखित वैराग्य-शतक का संक्षिप्त विवेचन उपलब्ध है। आपकी १३-१४ शिष्यायें हैं।

आप अन्तिम अवस्था में अस्वस्थता के कारण बाड़मेर में स्थानापन्न हो गई थीं। वहाँ वि० सं० २०३९ की पौष कृष्ण १० को समाधिपूर्वक आपका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी श्रीराजेन्द्रश्रीजी म०, श्रीचन्द्रयशाश्रीजी म०, श्रीचन्द्रोदय-श्रीजी म०, श्रीचंपकश्रीजी म०, आदि आपकी प्रखर शिष्याओं में से थीं। वर्तमान में साध्वी प्रकाशश्रीजी म०, विजयेन्द्रश्रीजी म०, स्वयंप्रभा-श्रीजी म०, कोमलश्रीजी म०, रतनमालाश्रीजी म०, विद्युत्प्रभाश्रीजी म० आदि आपकी शिष्या समूह रूपी साध्वीमण्डल विचरण कर रहा है।



स्थानकवासी आचार्य अमरसिंहजी की परम्परा की जैन साध्वियाँ*

—उपाचार्य देवेन्द्रमुनि जी

साध्वीश्री भागाजी

भागाजी ने स्थानकवासी आचार्यश्री अमरसिंह जी के समुदाय में किसी साध्वी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। इनके श्रमणी-जीवन का नाम महासती भागाजी था। इनके माता-पिता तथा सांसारिक नाम आदि के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती। इनके द्वारा लिखे हुए अनेकों शास्त्र, रास तथा अन्य ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ श्री अमर जैन ज्ञान भण्डार, जोधपुर में संग्रहीत हैं। लिपि उतनी सुन्दर तो नहीं है, पर प्रायः शुद्ध है। आचार्यश्री अमरसिंह के नेतृत्व में पंचेवर ग्राम में जो सन्त सम्मेलन हुआ था उसमें उन्होंने भी भाग लिया था, और जो प्रस्ताव पारित हुए थे उस पर उनके हस्ताक्षर भी हैं। भागाजी का विहार-क्षेत्र दिल्ली, पंजाब, जयपुर, जोधपुर, मेड़ता और उदयपुर रहा है—ऐसा प्रशस्तियों के आधार से ज्ञात होता है। इनकी अनेक विदुषी शिष्यायें थीं। उनमें वीराजी प्रमुख थी। वीराजी की जन्मस्थली आदि के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं है।

साध्वीश्री सद्दाजी

सद्दाजी वीराजी की प्रमुख शिष्या थीं। इनका जन्म राजस्थान के सांभर ग्राम में वि० सं० १९५७ में हुआ था। सद्दाजी की माता का नाम पाटनदे तथा पिता का नाम पीथाजीमोदी था। इनके ज्येष्ठ भाई मालचन्द और बालचन्द थे। जोधपुर के तत्कालीन महाराजा अभयसिंह के मनोनीत अधिकारी सुमेरसिंह मेहता सद्दाजी के रूपगुण से अत्यधिक प्रभावित थे। बाद में सद्दाजी का पाणिग्रहण सुमेरसिंह के साथ सम्पन्न हुआ। युवावस्था में पति की आकस्मिक मृत्यु से सद्दाजी का मन सांसारिकता से परे वैराग्य की ओर उन्मुख हुआ अन्ततः वे साध्वी वीराजी के पास दीक्षित

* यह विवरण उपाचार्य देवेन्द्रमुनिजी के लेख का संक्षिप्तकरण है, जो पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ में छपा है।

हुई । । सद्दाजी की अनेक शिष्यायें हुईं जिनमें फत्तूजी, रत्नाजी, चेनाजी और लाधाजी मुख्य थीं । अन्त समय में महासती सद्दाजी ने तिविहार-संधारा धारण कर देह का त्याग किया ।

साध्वीश्री लछमाजी

लछमाजी का जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम में सं० १९१० में हुआ था । आपके पिता का नाम रिखबचन्दजी माण्डोत और माता का नाम नन्दूबाई था । आपके दो भ्राता थे किसनाजी और वच्छराजजी । आपका पाणिग्रहण मादडा गाँव के साँकलचन्दजी चौधरी के साथ हुआ था । कुछ समय के पश्चात् पति की आकस्मिक मृत्यु हो गई । उस समय महासती रत्नाजी की शिष्या गुलाबकुँवर मादडा आयीं और उनके उपदेश को सुनकर लछमाजी के मन में वैराग्य-भावना विकसित हुयी । वि० सं० १९२८ में लक्षमाजी ने गुलाबकुँवर से भगवती दीक्षा ग्रहण की । संधारा धारण करने के ६७ दिन बाद वि० सं० १९५६ में उन्होंने प्राण त्याग दिया । लछमाजी की शिष्या परम्परा के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती ।

परम विदुषी महासती श्री सद्दाजी की शिष्याओं में महासती श्री रत्नाजी परम विदुषी सती थीं । उनकी एक शिष्या रंभाजी हुईं । रंभाजी प्रतिभा की धनी थीं । उनकी सुशिष्या महासती नवलाजी हुईं ।

साध्वीश्री नवलाजी

नवलाजी परम विदुषी साध्वी थीं, इनकी प्रवचन शैली अत्यंत मधुर थी । जो एक बार आपके प्रवचन को सुन लेता वह आपकी त्याग, वैराग्य-युक्त वाणी से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । आपकी अनेक शिष्यायें हुईं जिनमें पाँच शिष्याओं के नाम और उनकी परम्परा उपलब्ध होती है—(१) कंसुवाजी, (२) गुमानाजी, (३) केसरकुँवरजी, (४) जसाजी और (५) अमृताजी ।

साध्वी कंसुवाजी

कंसुवाजी महासती नवलाजी की सुशिष्या थीं । कंसुवाजी की एकमात्र शिष्या का नाम सिरिकुँवरजी था । सिरिकुँवरजी की दो शिष्यायें—साँकर-कुँवरजी और नजरकुँवरजी थीं । महासती साँकरकुँवरजी की कितनी शिष्यायें हुईं यह विदित नहीं है, नजरकुँवरजी की पाँच शिष्यायें हुईं ।

साध्वी नजरकुँवरजी

नजरकुँवरजी एक विदुषी साध्वी थीं। इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के वल्लभनगर के सन्निकट मेनार गाँव थी। आप जाति से ब्राह्मण थीं। आपकी पाँच शिष्याओं के नाम इस प्रकार हैं—रूपकुँवरजी—ये उदयपुर के सन्निकट देलवाड़ा ग्राम की निवासिनी थीं। साध्वी प्रतापकुँवरजी—ये भी उदयपुर राज्य के वीरपुरा ग्राम की थीं। साध्वी पाटजी—ये समदड़ी (राज्यस्थान) की थीं। इनके पति का नाम गोडाजी लुकड था। इनकी दीक्षा वि० सं० १९७८ में हुई। चौथाजी—इनकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के बंबोरा गाँव में थी और इनकी ससुराल वाटी ग्राम में थी। महासती एजाजी—आपका जन्म उदयपुर राज्य के शिशोदे ग्राम में हुआ, आपके पिता का नाम भेरूलालजी और माता का नाम कत्थुबाई था। आपका पाणिग्रहण वारी (मेवाड़) में हुआ और वहीं पर महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दीक्षा ग्रहण की। वर्तमान में इनमें से चार साध्वियों का स्वर्गवास हो गया तथा एजाजी जीवित हैं किन्तु इनकी कोई शिष्या नहीं है, इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक रही है।

महासती गुमानाजी

महासती श्रीनवलाजी की द्वितीय शिष्या गुमानाजी थीं। उनकी शिष्या परम्परा में बड़ी आनन्दकुँवर विदुषी थीं। वे बहुत प्रभावशाली थीं। उनकी प्रधान शिष्या बालब्रह्मचारिणी अभयकुँवर हुईं।

साध्वी अभयकुँवर

आपका जन्म वि० सं० १९५२ फाल्गुन वदी १२ मंगलवार को राजवी के बाटेला गाँव में हुआ। आपकी माता का नाम हेमकुँवर था। कालांतर में आनन्दकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९६० में पाली-मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपका शास्त्र-ज्ञान गंभीर था। जीवन की सान्ध्यवेला में नेत्र-ज्योति चली जाने से आप मेवाड़ (भीम) में स्थिरवास रहीं और वि० सं० २०३३ में संथारापूर्वक स्वर्गवास हुआ। आपकी दो शिष्यायें हुई— बदामकुँवरजी तथा जसकुँवरजी।

साध्वी बदामकुँवर

बदामकुँवर का जन्म वि० सं० १९६१ को भीम गाँव में हुआ। आपका पाणिग्रहण भी वहीं हुआ। वि० सं० १९७८ में आपने महासती अभयकुँवर के पास दीक्षा ग्रहण की। आपका स्वर्गवास भीम ग्राम में सं० २०३३ में हुआ।

साध्वी जसकुँवर

आपका जन्म सं० १९५३ में पदराडा ग्राम में हुआ। आपने महासती आनन्दकुँवर के पास सं० १९८५ में कम्बोल ग्राम में दीक्षा ग्रहण की और महासती अभयकुँवरजी की सेवा में रहने से वे उन्हें अपनी गुरुणी की तरह मानती थीं। आपमें सेवा की भावना अत्यधिक थी। सं० २०३३ में आपका स्वर्गवास भीम ग्राम में हुआ। इस प्रकार यह परम्परा यहाँ तक चली।

महासती नवलाजी की तृतीय शिष्या केसरकुँवरजी थीं। उनकी सुशिष्या छगनकुँवर हुईं।

साध्वी छगनकुँवर

आप कुशलगढ़ के सन्निकट केलवाड़े ग्राम की निवासिनी थीं। लघुवय में ही आपका पाणिग्रहण हो गया था। किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से आपके अन्तर्मानस में धार्मिक साधना के प्रति विशेष रुचि जागृत हुई। आप तीर्थयात्रा के दौरान महासती गुलाबकुँवर के उपदेश को सुनकर अति प्रभावित हुईं और बाद में उन्हीं से दीक्षा ग्रहण कर लीं। छगनकुँवरजी की अनेक शिष्यायें थीं जिनमें फूलकुँवर प्रमुख थीं। उदयपुर में वि० सं० १९६५ में संथारे द्वारा आपका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी ज्ञानकुँवर

महासती छगनकुँवरजी की एक शिष्या ज्ञानकुँवर थीं। आपका जन्म वि० सं० १९०५ में उम्मड ग्राम में हुआ और बम्बोरा के शिवलालजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ था। सं० १९४० में आपने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम हजारीमल रखा गया। आचार्य श्री पूनमचन्दजी तथा महासती छगनकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने १९५० में महासती छगनकुँवरजी के पास जालोट में दीक्षा ग्रहण की। आपके पुत्र ने आगे चलकर दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के उपरान्त उनका नाम ताराचन्दजी महाराज रखा गया। कालांतर में ताराचन्दजी उपाध्याय श्री पुष्करमुनि के गुरु बने। ज्ञानकुँवरजी बहुत ही सेवाभावी तथा तपोनिष्ठा साध्वी थीं। महासती श्रीगुलाबकुँवरजी के उदयपुर विराजने पर आपने उनकी वर्षों तक सेवा की और वि० सं० १९८७ में उदयपुर में संथारा सहित प्राण त्याग दिया।

साध्वी फूलकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के दुलावतों के गुढ़े में वि० सं० १९२१ में हुआ। आपके पिता का नाम भगवानचन्दजी और माता का नाम:

२६८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

चुन्नीबाई था। लघुवय में आपका पाणिग्रहण तीरपाल में हुआ किन्तु कुछ समय के पश्चात् पति का देहान्त हो जाने से महासती छगनकुँवरजी के उपदेश को सुनकर विरक्त हुई और १७ वर्ष की उम्र में आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी मुख्य शिष्यायें निम्न थीं—माणककुँवरजी, धूलकुँवरजी, आनन्दकुँवरजी, लाभकुँवरजी, सोहनकुँवरजी, प्रेमकुँवरजी और मोहनकुँवरजी।

वि० सं० १९८९ में बारह दिन का संथारा पूर्ण करने पर आपका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी माणककुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के कानोड में वि० सं० १९१० में हुआ। आपकी प्रकृति सरल एवं सरस थी। सेवा की भावना अत्यधिक थी। ७५ वर्ष की उम्र में वि० सं० १९८५ में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

साध्वी धूलकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के मादडा ग्राम में वि० सं० १९३५ में हुआ। आपके पिता का नाम श्री पन्नालाल एवं माता का नाम नाथीबाई था। १३ वर्ष की आयु में आपका पाणिग्रहण चिमनलाल के साथ हुआ, किन्तु कुछ समय पश्चात् पति के देहान्त होने पर, आपकी भावना फूलकुँवरजी के उपदेश को सुनकर संयम ग्रहण करने की हुई। बाद में वि० सं० १९५६ में महासती फूलकुँवर से दीक्षा ग्रहण की। आपकी शिष्यायों में आनन्दकुँवरजी, सौभाग्यकुँवरजी, शम्भूकुँवरजी, शीलकुँवरजी, मोहनकुँवरजी, कंचनकुँवरजी, सुमनवतीजी और दयाकुँवरजी प्रमुख थीं। पुष्करमुनिजी को सर्वप्रथम आपके उपदेश सुनने से ही वैराग्य जागृत हुआ था। आपका विहार-क्षेत्र मेवाड़, मारवाड़, मध्य प्रदेश, अजमेर और ब्यावर था। वि० सं० २००३ में आप गोगुन्दा ग्राम में विराजीं और वि० सं० २०१३ में २४ घण्टे के संथारे के बाद आपका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी लाभकुँवरजी

आपका जन्म वि० सं० १९३३ में उदयपुर राज्य के ढोल ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम मोतीलालजी ढालावत और माता का नाम तीजबाई था। लघुवय में ही पति का देहान्त हो जाने से आपका मन वैराग्य की ओर अग्रहित हुआ। महासती फूलकुँवर के उपदेश से प्रभावित होकर वि० सं० १९५९ में आपने मारवाड़ में दीक्षा ग्रहण की। आपकी

बो शिष्यायें हुई—(१) लहरकुँवरजी और (२) दाखकुँवरजी। आपका स्वर्गवास वि० सं० २००३ में यशवंतगढ़ में हुआ।

साध्वी लहरकुँवरजी

आपका जन्म नान्देशमा ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम सूरजमल सिंघवी और माता का नाम फूलकुँवरबाई था। आपका पाणिग्रहण ढोल निवासी गेगराजजी ढालावत के साथ हुआ था। पति का देहान्त होने पर कुछ समय के पश्चात् एक पुत्री का भी देहान्त हो गया। अपनी सात वर्षीया दूसरी पुत्री को उसकी दादी को सौंपकर वि० सं० १९८१ में नान्देशमा ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। आपकी एक शिष्या का नाम खमानकुँवरजी है। आपका स्वर्गवास वि० सं० २०२६ में १२ घण्टे के संधारे के उपरान्त हुआ।

साध्वी प्रेमकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के गोगुन्दा ग्राम में हुआ और आपका पाणिग्रहण उदयपुर में हुआ था। पति का देहान्त होने पर महासती फूलकुँवरजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी शिष्या का नाम पानकुँवरजी था। आपका स्वर्गवास वि० सं० १९९४ में उदयपुर में हुआ।

साध्वी मोहनकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के वाटी ग्राम में हुआ था। आप लोदा परिवार की थीं। आपका पाणिग्रहण मोलेरा ग्राम में हुआ था। महासती फूलकुँवरजी के उपदेश को श्रवण कर चारित्रधर्म ग्रहण किया। आपको थोकड़ों का अच्छा अभ्यास था और साथ ही मधुर व्याख्यानी भी थीं।

साध्वी सौभाग्यकुँवरजी

आपका जन्म बड़ी सादडी नागोरी परिवार में हुआ था तथा सादडी-निवासी प्रतापमलजी मेहता के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ था। आपने एक पुत्र को जन्म दिया। महासती धूलकुँवरजी के उपदेश को सुनकर आपने प्रव्रज्या ग्रहण की। आपकी प्रकृति भद्र थी तथा ज्ञानाभ्यास साधारण था। वि० सं० २०२७ में गोगुन्दा में आपका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी शम्भुकुँवरजी

आपका जन्म वि० सं० १९५८ में वागपुरा ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम गेगराजजी धर्मावत और माता का नाम नाभीबाई था।

खाखड़ निवासी धनराजजी के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ था। आपके दो पुत्रियाँ हुईं। बड़ी पुत्री भूरबाई का पाणिग्रहण उदयपुर निवासी चन्दनमलजी कर्णपुरियाके साथ हुआ। कुछ समय पश्चात् पति का निधन होने पर आप उदयपुर में अपनी पुत्री के साथ रहने लगीं। महासती धूलकुँवरजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य भावना जागृत हुई। अपनी लघु पुत्री अचरजबाई के साथ, वि० सं० १९८२ में खाखड़ ग्राम में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के उपरान्त पुत्री का नाम शीलकुँवरजी रखा गया। आपको थोकड़ों का तथा आगम साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपका स्वर्गवास वि० सं० २०२३ में संथारापूर्वक हुआ।

इसी परम्परा में परम विदुषी महासती श्री शीलकुँवरजी हुईं। उनकी प्रमुख शिष्याएँ मोहनकुँवरजी, सायरकुँवरजी, चन्दनबालाजी, चेलनाजी, साधनाकुँवरजी, विनयप्रभाजी आदि हुईं।

साध्वी जसाजी

महासती नवलजी की चतुर्थ शिष्या जसाजी हुईं। उनके जन्म आदि वृत्त के सम्बन्ध में सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। उनकी शिष्या-परम्पराओं में लाभकुँवरजी थीं।

साध्वी लाभकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के कंबोल ग्राम में हुआ था। इन्होंने लघुवय में दीक्षा ग्रहण की। ये बहुत ही निर्भीक वीरांगना थीं। एक बार अपनी शिष्याओं के साथ खामनेर ग्राम से सेमल गाँव जा रही थीं। रास्ते में सशस्त्र डाकू आपको लूटने के लिए आ पहुँचे। अन्य साध्वियाँ अत्यधिक भयभीत हो गईं किन्तु लाभकुँवरजी ने आगे बढ़कर कहा—तुम वीर हो! क्या अपनी बहू-बेटी साध्वियों पर हाथ उठाना तुम्हारी वीरता के अनुकूल है? तुम्हें शर्म आनी चाहिए, इस वीरभूमि में तुम साध्वियों के वस्त्रादि लेने पर उतारू हो रहे हो। क्या तुम्हारा क्षात्रतेज तुम्हें यही सिखाता है? इस प्रकार महासती के निर्भिकतापूर्वक वचनों को सुनकर डाकूओं के दिल परिवर्तित हो गये। वे महासती के चरणों में गिर पड़े और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि हम भविष्य में किसी बहन या माँ पर हाथ नहीं उठाएँगे और न बालकों पर। डाका डालना तो हम नहीं छोड़ सकते, पर इस नियम का हम दृढ़ता से पालन करेंगे।

इसी प्रकार की अन्य कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ साध्वीजी के साधनामय

जीवन में घटित हुई किन्तु इन्होंने प्रत्येक दशा में अपने शील को सुरक्षित रखते हुए निडरता पूर्वक सामना किया। लाभकुंवरजी की अनेक शिष्याओं में एक शिष्या छोटे आनन्द कुंवरजी प्रमुख थीं।

साध्वी छोटे आनन्दकुंवरजी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर राज्य के कमोल ग्राम में थी। ये बहुत ही मधुरभाषिणी थीं। आपके जीवन में त्याग की प्रधानता थी, इसलिए इनके प्रवचनों का असर जनता के अन्तर्मानस पर सीधा होता था। आपकी अनेक शिष्याएं हुई जिनमें मोहनकुंवरजी और लहरकुंवरजी का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

साध्वी मोहनकुंवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के भूताला ग्राम में हुआ था। आपका गृहस्थाश्रम का नाम मोहनबाई था। जाति से आप ब्राह्मण थीं। नौ वर्ष की लघुवय में आपका पाणिग्रहण हो गया। एक बार तीर्थयात्रा के दौरान नर्मदा नदी में स्नान कर रहे आपके पति की पानी में बह जाने से मृत्यु हो गई। विधवा जीवन जी रही मोहनबाई महासती आनन्दकुंवर के उपदेशों से अतिप्रभावित हुई। वैराग्य भावना के वशीभूत हो जब इन्होंने दीक्षा ग्रहण करने का संकल्प किया, तब परिवारजनों की ओर से अत्यधिक रुकावटें डाली गईं। किन्तु दृढ़ वैराग्य भावना के आगे सबको झुकना पड़ा और इन्होंने १६ वर्ष की आयु में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। ३२ वर्ष की आयु में संथारा विधिपूर्वक देह का त्याग किया।

साध्वी लहरकुंवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के सलोदा ग्राम में हुआ और पाणिग्रहण भी सरोदा में ही हुआ। लघुवय में पति का देहान्त हो जाने से आप महासती आनन्दकुंवरजी के पास दीक्षा ग्रहण कीं। आपने आगम साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। एक बार सायरा ग्राम में श्वेतांबर मूर्तिपूजक और तेरापंथ की सतियों के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ जिसमें आपने अपने अकाट्य तर्कों से उन्हें परास्त किया। सं० २००७ में आपका वर्षावास यशवन्तगढ़ (मेवाड़) में था। शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई और संथारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी दो शिष्याएं हुई—(१) सज्जनकुंवरजी और (२) कंचनकुंवरजी।

साध्वी सज्जनकुँवरजी

सज्जनकुँवरजी का जन्म उदयपुर राज्य के तिरपाल ग्राम के बंबोरी परिवार में हुआ। आपके पिता का नाम भैरूलालजी और माता का नाम रंगुबाई था। १३ वर्ष की अवस्था में आपका पाणिग्रहण कमोल के तारा-चन्दजी दोशी के साथ सम्पन्न हुआ। आपका गृहस्थाश्रम का नाम जमुना-बाई था। सोलह वर्ष की उम्र में पति का देहान्त होने पर विदुषी महासती आनन्दकुँवरजी के उपदेश से सं० १९७६ में दीक्षा ग्रहण की। ५४ वर्षों तक दीक्षा पर्याय का पालन कर सं० २०३० में आपका यशवन्तगढ़ में स्वर्गवास हुआ। सज्जनकुँवरजी की एक शिष्या हुई जिसका नाम बालब्रह्मचारिणी कौशल्याजी था। कौशल्याजी की चार शिष्याएँ हुई—(१) विजयवतीजी, (२) हेमवतीजी, (३) दर्शनप्रभाजी और (४) सुदर्शनप्रभाजी।

साध्वी कंचनकुँवरजी

महासती लहरकुँवरजी की दूसरी शिष्या कंचनकुँवर थीं। आपका जन्म उदयपुर राज्य के कमोल गाँव के दोशी परिवार में हुआ। तेरह वर्ष की आयु में आपका विवाह पदराडा में हुआ और चार महीने के पञ्चात् ही पति के देहान्त हो जाने से लघुवय में विधवा हो गईं। महासती लहर-कुँवरजी के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण कीं। आपका स्वर्गवास नान्देशमा ग्राम में संथारे के साथ हुआ। आपकी एक शिष्या हैं जिनका नाम महासती वल्लभकुँवरजी है।

महासती अमृताजी

महासती सदाजी की पाँच शिष्याओं में रत्नाजी, रंभाजी एवं नवलाजी की पाँच शिष्याएँ हुईं, उनमें से चार शिष्याओं के परिवार का परिचय दिया जा चुका है। उनकी पाँचवीं शिष्या अमृताजी हुईं। उनकी परम्परा में ही रायकुँवरजी हुईं जो महान् प्रतिभा सम्पन्न थीं।

महासती रायकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर के सन्निकट कविता ग्राम में थी। आप ओसवाल तलेसरा वंश की थीं। आपके अन्य जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। पर यह सत्य है कि वे एक प्रतिभा-सम्पन्न साध्वी थीं। आपके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक शिष्याएँ बनीं। उनमें से दस शिष्याओं के नाम उपलब्ध होते हैं, अन्य शिष्याओं के विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं हो सकी है।

महासती सूरजकुँवरजी

इनकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपका पाणिग्रहण साडोल (मेवाड़) के हनोत परिवार में हुआ था। महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर आपने साधनामार्ग स्वीकार किया। आपकी कितनी शिष्याएँ हुईं यह ज्ञात नहीं है।

साध्वी फूलकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आंचलिया परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ था। महासती के पावन प्रवचनों से प्रभावित होकर श्रमणीधर्म स्वीकार किया, आपकी कितनी शिष्याएँ हुईं ज्ञात नहीं है।

साध्वी हुल्लासकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली भी उदयपुर थी। आपका पाणिग्रहण हरखावत परिवार में हुआ था। आपने भी महासती के उपदेश से प्रभावित होकर संयम धर्म ग्रहण किया था। आपके उपदेश से प्रभावित होकर पाँच शिष्याएँ बनीं जिनका परिचय निम्नवत् है—

साध्वी देवकुँवरजी

आपका जन्म कर्णपुर के पोरवाड परिवार में हुआ था तथा विवाह उदयपुर के पोरवाड परिवार में हुआ था।

साध्वी प्यारकुँवरजी

आपका जन्म बाठैडा तथा विवाह डबोक में हुआ था।

साध्वी पदमकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट थामला के सियार परिवार में हुआ था और पाणिग्रहण डबोक के झगड़ावत परिवार में हुआ था। आपकी प्रमुख शिष्या कैलाशकुँवरजी थीं।

साध्वी कैलाशकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपके पिता का नाम हीरालाल और माता का नाम इन्दिराबाई था। आपका पाणिग्रहण गणेशीलालजी के साथ हुआ था। सं० १९९३ में आपने देलवाड़ा में दीक्षा ग्रहण की। आपकी चरित्र-वाचन की शैली बहुत ही सुन्दर थी। सं० २०३२ में आपका अजमेर में संथारा सहित स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम रतनकुँवरजी है।

साध्वी सौभाग्यकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपके पिता का नाम मोडीलालजी खोखावत और माता का नाम रूपाबाई था। आपका स्वभाव मधुर है। आपकी शिष्या मोहनकुँवरजी हुईं जिनका जन्म दरीबा (मेवाड़) में हुआ और पाणिग्रहण डबोक ग्राम में हुआ। वि० सं० २००६ में आपने दीक्षा ग्रहण की और सं० २०३१ में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

महासती हुल्लासकुँवरजी की पाँचवीं शिष्या चतुरकुँवरजी हैं जो बहुत ही सेवापरायणा साध्वी हैं।

साध्वी हुकुमकुँवरजी

महासती रायकुँवरजी की चतुर्थ शिष्या हुकुमकुँवरजी थीं उनकी सात शिष्याएँ हुईं, जिनका उल्लेख अग्रलिखित है।

साध्वी भूरकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर राज्य के कविता नामक ग्राम में हुआ था। आपको थोकड़े (साहित्य) का अच्छा ज्ञान था। पचहत्तर वर्ष की उम्र में आपका स्वर्गवास हुआ। आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम प्रताप—कुँवरजी था।

साध्वी रूपकुँवरजी

हुकुमजी की दूसरी शिष्या रूपकुँवर थीं। आपकी जन्मस्थली देवास (मेवाड़) थी। लोढा परिवार में आपका पाणिग्रहण हुआ था। आपने महासती के पास दीक्षा ग्रहण कर वर्षों तक संयम का पालन किया, अन्त में आपका उदयपुर में स्वर्गवास हुआ।

साध्वी बल्लभकुँवरजी

हुकुमकुँवरजी की तृतीय शिष्या बल्लभकुँवर थीं। आपका जन्म उदयपुर के बाफना परिवार में हुआ था और आपका पाणिग्रहण उदयपुर के गेलडा परिवार में हुआ था। आपने दीक्षा ग्रहण कर आगम शास्त्र का अच्छा अभ्यास किया। आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम महासती गुलाबकुँवरजी था। गुलाबकुँवरजी का जन्म 'गुलुंडिया' परिवार में हुआ था और पाणिग्रहण 'वया' परिवार में हुआ था। आपको आगम व स्तोक साहित्य का सम्यक् ज्ञान था। आपका स्वर्गवास संथारा विधिपूर्वक उदयपुर में हुआ।

साध्वी सज्जनकुँवरजी

महासती हुकुमकुँवरजी की चौथी शिष्या सज्जनकुँवर थीं। आपका जन्म उदयपुर के बाफना परिवार में तथा पाणिग्रहण दुगड़ों के परिवार में हुआ था। आपकी एक शिष्या हुईं जिनका नाम मोहनकुँवरजी था। मोहनकुँवरजी की जन्मस्थली अलवर तथा ससुराल खण्डवा में थी। वर्षों तक संयम-साधना कर उदयपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी राजकुँवरजी

महासती हुकुमजी की पाँचवीं शिष्या राजकुँवरजी थीं। आप उदयपुर के माहेश्वरी वंश की थीं। महासती हुकुमकुँवरजी की एक शिष्या देवकुँवरजी थीं जो उदयपुर के सन्निकट कर्णपुर ग्राम की निवासिनी थीं। हुकुमकुँवर की सातवीं शिष्या गेंदकुँवर थीं। आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट भुआना के पगारिया कुल में हुआ था। चन्देसरा गाँव के बोकड़िया परिवार में आपकी ससुराल थी। सं० २०१० ब्यावर में आपका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी मदनकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपकी प्रतिभा गजब की थी। एक बार आचार्य श्री मुन्नालालजी जो आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे, उन्होंने उदयपुर में आयोजित एक प्रवचन सभा में मदनकुँवरजी से उन्नीस प्रश्न किये। महासतीजी ने उनके सभी प्रश्नों का अतिशयपूर्वक उत्तर दिया। मदनकुँवरजी जिस प्रकार प्रकृष्ट प्रतिभा की धनी थीं उसी प्रकार उत्कृष्ट आचारनिष्ठा भी थीं। गुप्त तप उन्हें पसन्द था। वे साध्वियों के आहारादि से निवृत्त होने पर जो अवशेष आहार बच जाता और पात्र धोकर जो पानी बाहर डालने का होता उसी को खा-पीकर सन्तोष कर लेतीं। सन् १९४१ में तीन दिन के संधारे के साथ उदयपुर में उनका स्वर्गवास हुआ।

साध्वी सल्लेकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर थी। आपका पाणिग्रहण उदयपुर के मेहता परिवार में हुआ था। आपमें महासतीजी के उपदेश को सुनकर वैराग्य-भावना जागृत हुई। उसके फलस्वरूप आपने अपनी पुत्री सज्जन-कुँवर सहित आर्हती दीक्षा अंगीकार की।

साध्वी तीजकुँवरजी

आपकी जन्मस्थली उदयपुर के निकट तिरपाल गाँव में थी। आपका पाणिग्रहण उसी गाँव के सेठ रोडमलजी के साथ सम्पन्न हुआ था। आपके दो पुत्र और एक पुत्री थी। पति के स्वर्गवास होने पर महासतीजी के उपदेश से प्रभावित होकर दो पुत्र और एक पुत्री सहित आपने दीक्षा ग्रहण की। अन्त में एक दिन का संथारा ग्रहण कर आपने देह-त्याग दिया।

साध्वी सोहनकुँवरजी

आपका जन्म उदयपुर के सन्निकट तिरपाल गाँव में सं० १९४९ (सन् १८९२) में हुआ। आपके पिता का नाम रोडमलजी और माता का नाम गुलाबदेवी था। नौ वर्ष की लघुवय में ही आपका वाग्दान डुलावती के गुडे के तकतमलजी के साथ हो गया। किन्तु परम विदुषी महासती रायकुँवरजी और पं० मुनि नेमीचन्द्रजी के त्याग-वैराग्ययुक्त उपदेश को श्रवण कर आपमें वैराग्य भावना जागृत हुई और जिनके साथ वाग्दान किया गया था उनका सम्बन्ध छोड़कर अपनी मातेश्वरी और अपने ज्येष्ठ भ्राता प्यारेलाल एवं भैरूलाल के साथ क्रमशः महासती रायकुँवरजी के पास दीक्षा ग्रहण की। आपकी प्रवचन शैली अत्यन्त मधुर थी। जिस समय आप प्रवचन करती थीं, विविध आगम के रहस्यों के साथ रूपक, दोहे, कवित्त, श्लोक और उर्दू शायरी का भी यत्र-तत्र उपयोग करती थीं।

अध्ययन के साथ ही तप के प्रति आपकी स्वाभाविक रुचि थी। माता के संस्कारों के साथ तप की परम्परा आपको विरासत में मिली थी। आपने अपने जीवन की पवित्रता हेतु अनेक नियम ग्रहण किये थे। अजमेर में सन् १९६३ में श्री वर्द्धमान चन्दनबाला श्रमणी संघ का निर्माण किया गया तथा श्रमणियों के ज्ञान-दर्शन चारित्र के विकास हेतु इक्कोस नियमों का निर्माण किया। उसमें पच्चीस प्रमुख साध्वियों की एक सभिति का निर्माण हुआ। चन्दनबाला श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी पद पर सर्वानुमति से सोहनकुँवरजी को नियुक्त किया गया जो आपकी योग्यता का स्पष्ट प्रतीक था। सं० २०२३ (सन् १९६६) में संथारे के साथ आपका स्वर्गवास हुआ। महासती सोहनकुँवरजी की प्रथम शिष्या विदुषी कुसुमवतीजी हैं। उनकी चार शिष्याएँ हैं—(१) चारित्रप्रभाजी, (२) दिव्यप्रभाजी, (३) दर्शनप्रभाजी और (४) पुष्पवतीजी। पुष्पवतीकी

तीन शिष्याएँ हैं—(१) चन्द्रावतीजी, (२) प्रियदर्शनाजी और (३) किरणप्रभाजी । तृतीय सुशिष्या महासती प्रभावतीजी की चार शिष्याएँ हैं—(१) श्रीमतीजी, (२) प्रेमकुँवरजी, (३) चन्द्रकुँवरजी तथा (४) हर्षप्रभाजी ।

इस प्रकार प्रस्तुत परम्परा वर्तमान में चल रही है ।

परम विदुषी सद्दाजी की एक शिष्या फत्तूजी हुई । फत्तूजी का मुख्य विहार क्षेत्र मारवाड़ रहा । उनकी अनेक शिष्याएँ हुईं जिनमें आनन्दकुँवरजी एक तेजस्वी साध्वी थीं । आनन्दकुँवर ने कब दीक्षा ली यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । उनका स्वर्गवास सं० १९८१ में जोधपुर में संथारा पूर्वक हुआ । आपकी प्रमुख शिष्याएँ राजाजी और नैनूजी थीं । राजाजी का स्वर्गवास सं० १९७८ में हुआ ।

महासती राजाजी की एक शिष्या रूपजी हुई । आनन्दकुँवरजीकी एक शिष्या परतापाजी हुई, जिनका वि० सं० १९८३ में स्वर्गवास हुआ । फूलकुँवरजी भी आनन्दकुँवर की शिष्या थीं । फूलकुँवरजीकी शिष्या झमकूजी थीं जिन्होंने अपनी पुत्री कस्तूरीजीके साथ दीक्षा ग्रहण की थी । कस्तूरीजीकी एक शिष्या गवराजी थीं, इनका स्वर्गवास जोधपुर में हुआ ।

महासती आनन्दकुँवरजी की बभूताजी, पन्नाजी, धापूजी और किसनाजी आदि अनेक शिष्याएँ थीं । किसनाजी की शिष्या हरकूजी थीं । हरकूजी की समदाजी और समदाजी की पानाजी शिष्या थीं । आपका (पानाजी) जन्म जालौर में हुआ, पाणिग्रहण भी जालौर में हुआ । गढ़-सिवाना में दीक्षा ग्रहण कीं और वर्तमान में जालौर में विराजित हैं ।

इस समय महासती आनन्दकुँवरजी की वर्तमान परम्परा में केवल एक साध्वीजी विद्यमान हैं ।

महासती फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में पन्नाजी हुई, उनकी शिष्या जसाजी हुई, उनकी शिष्या सोनाजी हुई, उनकी भी शिष्याएँ हुईं किन्तु नाम स्मरण नहीं है ।

महासती जसाजी की नैनूजी एक प्रतिभासम्पन्न शिष्या थीं । उनकी अनेक शिष्याएँ हुईं । महासती फत्तूजी के शिष्या-परिवार में चम्पाजी एक तेजस्वी साध्वी थीं, उनकी ऊदाजी, बायाजी आदि अनेक शिष्याएँ हुईं, वर्तमान में उनकी शिष्या परम्परा में कोई नहीं है । महासती फत्तूजी की शिष्या-परम्परा में दीपाजी, बल्लभकुँवरजी आदि अनेक विदुषी एवं

२७८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

सेवाभावी साध्वियाँ हुईं। उनकी परम्परा में सरल मूर्ति साध्वी सीताजी, गवराजी आदि विद्यमान हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के समय से महासती भागाजी की जो साध्वी परम्परा चली उस परम्परा में आज तक ग्यारह सौ से भी अधिक साध्वियाँ हुई हैं। किन्तु इतिहास-लेखन के प्रति उपेक्षा होने से उनके सम्बन्ध में बहुत कम जानकारी प्राप्त है। इन सैकड़ों साध्वियों में बहुत सी साध्वियाँ उत्कृष्ट तपस्विनियाँ रहीं। अनेक साध्वियाँ बड़ी ही प्रतिभाशालिनी थीं।



स्थानकवासी ऋषि सम्प्रदाय की साध्वियों का संक्षिप्त परिचय*

—पं० र० मोतीऋषिजी

महासती श्री राधा जी

इनका विशेष परिचय तो प्राप्त नहीं होता है, लेकिन ये अपने समय की प्रभावक स्थानकवासी साध्वियों में थीं। इन्होंने चतुर्विध संघ के संगठन एवं महिला वर्ग की जागृति में विशेष योगदान दिया था। प्रतापगढ़ भण्डार से प्राप्त एक प्राचीन पत्र से ज्ञात होता है कि इन्होंने सं० १८१० (ई० सन् १७५३) में हुए चार स्थानकवासी सम्प्रदायों के सम्मेलन में ऋषि सम्प्रदाय की ओर से भाग लिया था। इनकी प्रधान शिष्या महासती श्री किसना जी, श्री किसना जी की शिष्या जोता जी, श्री जोता जी की शिष्या मोता जी हुईं। श्री मोता जी की शिष्या श्री कुशलकुंवर जी थीं।

साध्वी श्री कुशलकुंवर जी

ये मालवा प्रान्त में बागड़देशीय हाबड़ा ग्राम की थीं। इन्होंने साध्वी मोताजी से दीक्षा ग्रहण की थी। वे प्रभावक एवं संयमनिष्ठ तथा व्याख्यानकुशल साध्वी थीं। इनके ज्ञान और चारित्रिक धर्म से प्रभावित होकर १२५ साधू, १५० साध्वी संघ के प्रमुख श्री धन ऋषि ने इन्हें अग्रणी माना और प्रवर्तिनी पद से सुशोभित किया। इनकी प्रमुख शिष्या थीं—

१. साध्वी श्री सरदारा जी, २. श्री धनकुंवर जी, ३. श्री दया जी, श्री लक्षमा जी।

इनमें साध्वी श्री दया जी और श्री लक्षमा जी की शिष्या-परम्परा आगे चली।

साध्वी श्री सरदारा जी

इन्होंने साध्वी श्री कुशल कुंवर जी से दीक्षा ग्रहण की थी। ये साध्वी रंभा जी से स्नेह रखने के कारण साथ-साथ विचरण करती थीं। ये प्रकृति से सरल, भद्र परिणामी, धार्मिक और व्याख्यान कुशल थीं।

❀ यह विवरण पं० र० मोती ऋषिजी कृत ऋषिसम्प्रदाय के इतिहास पर आधारित है और उसका ही संक्षिप्तीकरण मात्र है।

साध्वी श्री धनकुंवर जी

आपने अपना अधिकांश समय अपनी गुरुणी साध्वी श्री कुशल कुंवर की सेवा में बिताया तथा मालवा और मेवाड़ में भ्रमण कर धर्मोपदेश दिया। इनकी शिष्या परम्परा में श्री फूल कुंवर जी का नाम मिलता है। अन्य साध्वियों श्री सरसा जी, श्री केसर जी तथा श्री रंभा जी का परिचय प्राप्त नहीं होता है।

साध्वी श्री दयाकुंवर जी

ये साध्वी कुशल कुंवर जी की शिष्या थीं। आगम-ज्ञान और व्याख्यान कुशल थीं। इनका विहार क्षेत्र मालवा, मेवाड़ और बागड़ प्रदेश रहा।

इनका अन्तिम समय रतलाम में बीता। ये शारीरिक लक्षणों तथा समय की भविष्य द्रष्टा थीं।

इनकी प्रमुख शिष्या साध्वी श्री घीसा जी, श्री झुमकू जी, श्री हीरा जी, श्री गुमना जी, श्री गंगा जी, श्री मानकंवर जी थीं। इनमें घीसा जी और मानकंवर जी को छोड़कर शेष सभी से शिष्य परम्परा आगे चली।

साध्वी श्री झुमकू जी

आप पिपलोदा निवासी श्री माणकचन्द जी नांदेचा की सुपुत्री थीं। सं० १९२१ में इनकी दीक्षा के उपलक्ष में बड़ी माँ जी ने रतलाम में साहू बावड़ी के समीप एक धर्म स्थानक भेंट दिया था। इन्होंने मालवा और दक्षिण में धर्म प्रचार किया। इनकी १६ शिष्याएँ थीं।

साध्वी श्री हीरा जी

ये वस्तुतः ऋषि सम्प्रदाय की सती मंडल में हीरे के समान थीं। इनका जन्म स्थान रतलाम था। पिता का नाम श्री दुलीचन्द जी सुराना और माता का नाम नानूबाई था। बाल्यावस्था में ही इनकी शादी हो चुकी थी। माता जी को दीक्षा लेने के लिए प्रवृत्त देखकर ये भी दीक्षा लेने के लिए तैयार हुईं। पारिवारिक प्रलोभनों के बावजूद भी ये अपने मार्ग से विचलित नहीं हुईं।

सं० १९३५ में जावरा चातुर्मास पूर्ण करने के बाद जब पूज्य श्री तिलोक ऋषि जी दक्षिण की ओर पधारे तब इन्होंने भी उधर विचरण हेतु प्रस्थान किया। वि० संवत् १९४० में तिलोक ऋषि का देहान्त हो

जाने पर ये रत्नऋषि जी के ज्ञानाभ्यास के लिए प्रेरणा-स्रोत रहीं। इनकी १३ शिष्याएँ थीं।

साध्वी श्री सिरिकंवर जी

इनका जन्म सं० १९३५ में हुआ। इनकी माता का नाम सेरुबाई और पिता का नाम रामचन्द्र जी था। इनकी शादी श्री ताराचन्द्र जी से हुई थी लेकिन शीघ्र ही पति का स्वर्गवास हो गया। इन्होंने संवत् १९५४ आषाढ कृष्ण चतुर्थी को रत्नऋषि जी से दीक्षा अंगीकार की थी। ये भद्र प्रकृति की विदुषी साध्वी थीं। ऋषि सम्प्रदाय द्वारा इनको सं० १९९१ चैत्र कृष्ण ७ को पूना में प्रवर्तिनी पद से अलंकृत किया गया था। इनका विचरण स्थल दक्षिण ही रहा। सं० २०२१ में घोड़नदी में इनका स्वर्गवास हो गया।

साध्वी श्री सायरकंवर जी

इनका जन्म जेतारण (मारवाड़) निवासी श्री कुन्दमल जी बोहरा की धर्मपत्नी श्रीमती श्रेयकंवर जी की कुक्षि से सं० १९५८ कार्तिक वदी १३ को हुआ था। इनका विवाह सिकन्द्राबाद निवासी श्री सुगालचन्द्र जी के साथ हुआ। इन्होंने ३२ वर्ष की वय में सं० १९८१ फाल्गुन कृष्ण २ को मिरी में श्री अमोलक ऋषि से दीक्षा ली और साध्वी श्री नन्दू जी की निश्रामें शिष्या हुईं।

इनका विहार क्षेत्र दक्षिण तथा मद्रास रहा। इनके सद्गुपदेश से अनेक धार्मिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं का निर्माण हुआ। सं० २००१ में इनको मुनिश्री कल्याणऋषिजी की उपस्थिति में प्रवर्तिनी पद से अलंकृत किया गया।

साध्वी श्री रामकंवर जी

इनके पिता घोड़नदी (पूना) निवासी श्री गम्भीरमल जी लोढा थे। माता का नाम चम्पाबाई था। इनका लौकिक नाम छोटीबाई था। अठारह वर्ष की उम्र में पति के स्वर्गवासी हो जाने पर माता-पिता ने इन्हें संयम मार्ग की ओर अग्रसर किया। सं० १९३६ आषाढ शु० १ को माता सहित दीक्षा ग्रहण कर साध्वी हीरा जी की शिष्या हुईं। इनका स्वभाव नम्र और सेवाभावी था। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ग्रयन किया।

५३ वर्ष संयमी जीवन बिताकर अपने गृहनगर घोड़नदी में संवत् १९८९ कार्तिक कृष्ण २ को मध्य रात्रि के बाद अनशन द्वारा भौतिक

२८२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

पारिरी का त्याग किया। इनकी २३ शिष्याएँ हुईं। १. श्री रंगु जी, २. श्री बड़े सुन्दर जी ३. श्री हुलासा जी ४. श्री सूरजकुँवर जी ५. श्री बड़े राजकुँवर जी ६. श्री बड़े केसर जी ७. श्री कस्तूरा जी ८. श्री छोटे सुन्दर कुँवर जी ९. श्री शांति कुँवर जी १०. श्री सदा कुँवर जी ११. श्री छोटे राजकुँवर जी १२. श्री प्रेमकुँवर जी १३. श्री श्रेयकुँवर जी १४. श्री चन्द्रकुँवर जी १५. श्री जडावकुँवर जी १६. श्री सुव्रता जी १७. श्री चाँद कुँवर जी १८. श्री पान कुँवर जी १९. श्री जसकुँवर जी २०. श्री सरस कुँवर जी २१. रम्भा जी २२. श्री केसर जी २३. श्री सोना जी।

साध्वी श्री सुमतिकुँवर जी

इनका जन्म सं० १९७३ चैत्र शु० १० को घोड़नदी में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम श्रीमती हुलासबाई और श्री हस्तीमल जी दूगड़ था। इन्होंने बाल्यकाल में ही साध्वी रामकुँवर से धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। विवाह के १८ महीने बाद ही पति का देहावसान होने से सं० १९९२ में दीक्षा ग्रहण कर ली। इनका नाम सुमतिकुँवर रखा गया।

दीक्षा के बाद इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, न्याय, व्याकरण, आगम साहित्य का अच्छा अध्ययन किया। इन्होंने देश के सभी क्षेत्रों में विहार किया है। वर्तमान में राजगृह में विराजित हैं। इनकी साध्वी चन्दनाजी आदि अनेक विदुषी और प्रतिभाशालिनो शिष्याएँ हैं।

साध्वी श्री गंगा जी

साध्वी श्री गंगा जी ने साध्वी श्री झुमकू जी से दीक्षा ग्रहण की। अपना सम्पूर्ण जीवन संयम और सेवा में बिताया। आपने मालवा, मेवाड़ और मारवाड़ा में विचरण किया। वृद्धावस्था में रतलाम के साहुबाबाड़ी नामक धर्म स्थानक में स्थिरवास विराजित रहीं। वहीं आपका स्वर्गवास भी हुआ। इनकी दो शिष्याएँ हुईं। साध्वी श्री राजकुँवर जी और साध्वी श्री सुमति कुँवर जी।

साध्वी श्री गंगा जी (द्वितीय)

इनका जन्म राजपूत जाति में हुआ था। आप संवत् १७२५ में सपरिवार रतलाम आर्यों और साध्वी श्री दयाकुँवर जी से दीक्षित हुईं। शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त कर आपने मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदि प्रान्तों में धर्मोपदेश दिया। भोपाल में आपने श्री अमृता जी को अपनी शिष्या बनाया। आपका स्वर्गवास सुजालपुर (मालवा) में हुआ।

साध्वी श्री अमृतकुंवर जी

ये भोपाल (मालवा) की रहनेवाली थी । इनका जन्म गोड़ जाति में हुआ था । नौ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह इच्छावर में हुआ किन्तु एक माह में ही विधवा हो गईं । आपने साध्वी श्री गंगा जी से दीक्षा ग्रहण की । बांबोरी में आपने साध्वी श्री हेमकुंवर जी, साध्वी श्री जयकुंवर जी और साध्वी राधा जी को दीक्षा प्रदान की । आपका स्वर्गवास बरार प्रांत में हुआ ।

साध्वी श्री हेमकुंवरजी

इनका जन्म सं० १९४५ में भाद्रपद कृष्ण १४ को पूना जिले के भिवरी में हुआ था । इनके माता-पिता का नाम क्रमशः भोमबाई और फोजमल था । परिवार द्वारा विघ्न उपस्थित करने पर भी ये बड़ले में सं० १९५३ माघ शुक्ल १५ के दिन साध्वी श्री गंगाजी से दीक्षा ग्रहण कर साध्वी श्री अमृतकुंवरजी की निश्चा में शिष्या हुईं । मालवा, खानदेश, आदि प्रान्त आपके विचरण स्थल रहे ।

साध्वी श्री जयकुंवरजी

ये बांबोरी निवासी श्रीमान् हजारीमलजी पगारिया की पुत्री थीं । इनका विवाह श्रीमान् फोजमलजी खिवसरा (भिवरी, पूना) के साथ हुआ था । ये २५ वर्ष की अवस्था में सं० १९५४ चैत्र शुक्ल ९ के दिन साध्वी श्री अमृतकुंवरजी से दीक्षा ग्रहण कीं । इनकी तीन शिष्याएँ हुईं । (१) श्री गुलाबकुंवरजी, (२) श्री रामकुंवरजी (३) श्री दुर्गाकुंवरजी ।

साध्वी श्री गुलाबकुंवरजी

ये सरावगी जाति में अजंड ग्राम में पैदा हुई थीं । ये १८ वर्ष की वय में संवत् १९६४ माघ शुक्ल ५ (पंचमी) को साध्वी श्री जयकुंवरजी की शिष्या बनीं । सं० १९९० मार्गशीर्ष ८ (अष्टमी) के दिन बरड़ावदा (मध्य भारत) में स्वर्गवासी हुईं ।

साध्वी श्री रामकुंवरजी

ये ललितपुर की रहनेवाली थीं । इनके माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीमती मूलीबाई और श्रीमान् गिरधारीलालजी था । सं० १९८९ फाल्गुन शुक्ल ९ (नवमी), सोमवार के दिन १४ वर्ष की अवस्था में साध्वी

२८४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

श्री जयकुँवरजी से दीक्षा ग्रहण की और न्याय, व्याकरण तथा साहित्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया ।

साध्वी श्री दुर्गाकुँवरजी

ये कुसुंबा (नासिक) निवासी श्रीमान् बादरमलजी धाड़ीवाल की धर्मपत्नी एवं श्रीमती गंगुबाई की पुत्री थीं । चौदह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह पीपलपाड़ा (नासिक) निवासी श्री उदयरजजी सोलंकी के साथ हुआ । मात्र बीस दिन में ही विधवा हो गईं । सं० १९९८ माघ शुक्ल १३ (त्रयोदशी) शुकवार के दिन निफाड (नासिक) में ५१ वर्ष की अवस्था में साध्वी श्री जयकुँवरजी से दीक्षा ग्रहण कीं ।

साध्वी श्री गुमनाजी

इनका जन्म प्रतापगढ़ स्टेट के कोटड़ी नामक ग्राम में हुआ था । इनके माता-पिता का नाम क्रमशः झूमाबाई और नाहरमलजी था । इन्होंने २१ वर्ष की अवस्था में जावरा शहर में साध्वी श्री दयाकुँवरजी से दीक्षा ग्रहण की थी । इनका स्वर्गवास मालवा प्रान्त में हुआ । इन्होंने सं० १९३९ में अमरावती में श्री सिरिकुँवरजी को दीक्षित किया ।

साध्वी श्री सिरिकुँवरजी

आप नागपुर के श्री नवलमलजी की धर्मपत्नी श्रीमती विनयकुँवर बाई की पुत्री थीं । इनका विवाह अमरावती निवासी श्री नाहरजी के साथ हुआ । संवत् १९३९ में साध्वी श्री गुमनाजी से दीक्षा ग्रहण की और शास्त्रीय ज्ञान अर्जित किया । इनका विचरण स्थल मालव देश था । संवत् १९५८ मार्गशीर्ष ३ (तीज) को स्वर्गवास हो गया ।

इनकी नौ शिष्याएँ हुईं । जिनमें छह के नाम उपलब्ध हैं ।

(१) श्री चूनाजी, (२) श्री गुलाबजी, (३) श्री गंगाजी (४) श्री चम्पाजी (५) श्री घोंसाजी और (६) श्री रतन कुँवर । इनमें श्री रतन कुँवरजी की परम्परा चली ।

साध्वी श्री रतनकुँवरजी की परम्परा

इनका जन्म सं० १९४९ में जोधपुर स्टेट के मोगरा ग्राम में हुआ था । इनके पिता श्री गणेशरामजी राजपूत थे और माता श्री रंभाबाई थीं । ये आठ वर्ष की उम्र में सं० १९५७ फाल्गुन कृष्ण पंचमी के दिन साध्वी श्री सिरिकुँवरजी की शिष्या हुईं । संस्कृत और प्राकृत के अध्ययन के साथ-हिन्दी, उर्दू भाषा का भी विशेष अध्ययन किया ।

प्रतापगढ़ में संवत् १९८९ पौष वदी ५ को प्रवर्तिनी पद से अलंकृत हुईं ।

इनका विचरण स्थल, मालवा, मेवाड़, मारवाड़, पंजाब, खानदेश, बरार, महाराष्ट्र आदि क्षेत्र रहा । आपका स्वर्गवास शाजापुर (मध्य-प्रदेश) में हुआ ।

आपकी दस शिष्याएँ हुईं । उनके नाम निम्न हैं—

(१) श्री उमरावकुँवरजी, (२) पं० श्री वल्लभ कुँवरजी (३) श्री श्रीमतीजी (४) श्री राजीमतीजी (५) श्री सोहन कुँवरजी (६) श्री पान कुँवरजी, (७) श्री सूरज कुँवरजी, (८) श्री कुसुम कुँवरजी, (९) श्री विमल कुँवरजी (१०) श्रीयत कुँवरजी ।

साध्वी श्री उमरावकुँवरजी

इनका जन्म सं० १९३८ में टाटोटी (अजमेर) में हुआ था । इनके माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीमती केशरबाई और श्री पन्नालालजी डारिया था । १६ वर्ष की आयु में अजमेर निवासी श्री कानमलजी सुराणा के साथ विवाह सम्पन्न हुआ । विवाह के बाद मात्र पन्द्रह दिन में ही विधवा हो गईं । अजमेर में २० वर्षों तक धार्मिक जीवन बिताने के बाद संवत् १९७५ की चैत्र शुक्ल पञ्चमी के दिन साध्वी श्री रतनकुँवरजी से दीक्षा ग्रहण की । आपका स्वर्गवास शाजापुर (म. प्र.) में हुआ ।

साध्वी श्री वल्लभकुँवरजी

इनका जन्म संवत् १९६८ में शाजापुर (म. प्र.) में हुआ था । इनके माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीमती देवकुँवर बाई और श्री मोतीलालजी कोठारी था । ११ वर्ष की उम्र में इनका विवाह नलखेड़ा (मालवा) निवासी श्री छगनलालजी नाहर के साथ हुआ । लेकिन विवाह के एक वर्ष पश्चात् आप विधवा हो गईं । संवत् १९८३ आषाढ़ शुक्ल पञ्चमी के दिन शाजापुर में साध्वी श्री रतनकुँवरजी की शिष्या बनीं ।

इन्हें श.स्त्रीय ग्रन्थों के विशेष ज्ञान के साथ-साथ संस्कृत, ऊर्दू, अरबी, फारसी एवं अंग्रेजी का भी ज्ञान था । मालवा, मेवाड़, मारवाड़, पंजाब, खानदेश, दक्षिण महाराष्ट्र इनका विचरण स्थल रहा । आपका स्वर्गवास शाजापुर (म. प्र.) में हुआ ।

साध्वी श्री श्रीमतीजी

इनका जन्म बखतगढ़ (जिला धार-मध्यभारत) में सं० १९७६ में

२८६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

हुआ था। इनकी माँ का नाम श्री प्यारी बाई था और पिता का नाम श्री चम्पालालजी था। इनका विवाह नगदा निवासी श्री वस्तीमलजी सुराणा के साथ हुआ था। किन्तु शीघ्र ही विधवा हो गईं। २१ वर्ष की अवस्था में संवत् १९८८ मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी के दिन श्री रतन-कुँवरजी की शिष्या बनीं।

साध्वी श्री सोहनकुँवरजी

इनका जन्म संवत् १९५५ में इन्दौर में हुआ था। इनके माता का नाम दाखाबाई और पिता का नाम श्री इन्द्रचन्द्रजी सुराणा था। इनका विवाह उज्जैन निवासी श्री ज्ञानचन्द्रजी मूथा के साथ हुआ। साध्वी रतनकुँवरजी से ३४ वर्ष की उम्र में सं० १९८९ माघ शुक्ल १३ (त्रयोदशी) के दिन दीक्षित हुईं। वर्तमान में आप शाजापुर में स्थिर वास कर रही हैं।

साध्वी श्री पानकुँवरजी

इनका जन्म सं० १९६३ में शाजापुर (म० प्र०) में हुआ। इनके पिता का नाम श्री हुक्मीचन्द्रजी ओस्तवाल था। इनका विवाह कानड निवासी श्री देववक्षजी के साथ हुआ। आप विवाह के ६ मास पश्चात् विधवा हो गईं। ये श्री रतनकुँवरजी के प्रतिबोध से वैराग्य प्राप्त होने पर सं० १९९३ की माघ पंचमी के दिन दीक्षित हुईं। आप सरल स्वभावी और स्वाध्यायी साध्वी हैं। वर्तमान में आप शाजापुर (म० प्र०) में स्थिरवास हैं।

साध्वी श्री सूरज कुँवरजी

इनका जन्म सं० १९५९ में चिचोड़ी पटेल (अहमदनगर) में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीमती राजकुँवर बाई और श्री नेमिचन्द्र जी था। इनका विवाह धवलपुरी (अहमदनगर) निवासी श्री सुलतानचन्द्रजी पोखरणा के साथ हुआ। इन्होंने धवलपुरी में ही सं० १९९४ मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी के दिन ३५ वर्ष की वय में श्री रतन कुँवरजी से दीक्षा ग्रहण की।

साध्वी श्री कुसुमकुँवरजी

इनका जन्म सं० १९९३ में रांजणी (खानदेश) में हुआ। ये श्री बालारामजी की धर्मपत्नी श्रीमती धापूबाई की पुत्री हैं। ये दस वर्ष की उम्र से ही साध्वी श्री रतनकुँवर के सान्निध्य में रहकर हिन्दी तथा धार्मिक ग्रन्थों

का अध्ययन करती रहीं और फिर उन्हीं से १४ वर्ष की वय में संवत् २००७ में वैशाख शु० तृतीया को दीक्षित हुईं ।

साध्वी श्री विमलकुँवरजी

ये राणावास (मारवाड़) निवासी श्री दौलतरामजी की पुत्री हैं । इनका विवाह मारवाड़ निवासी श्री हीराचन्दजी के पुत्र से हुआ । सं० २०१० के वैशाख वदी २ को साध्वी श्री रतनकुँवरजी की शिष्या बनीं ।

साध्वी श्री चतरकुँवरजी

इनका जन्म सं० १९४० में कालूखेड़ा (मालवा) निवासी श्री हुकुमीचन्द जो भंडारी की धर्मपत्नी श्रीमती दयाकुँवर बाई की पुत्री के रूप में हुआ था । इनका विवाह रतलाम निवासी श्री हजारीमलजी के साथ हुआ । किन्तु शीघ्र ही विधवा हो गईं । सं० १९६८ वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय-तृतीया) के दिन २८ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर साध्वी श्री रतनकुँवरजी की शिष्या हुईं । इनकी दो शिष्याएँ हुईं—(१) श्री लक्षमाजी और (२) श्री मृगावती जो ।

साध्वी श्री लछमाजी

इनका जन्म कालूखेड़ा (मालवा) में सं० १९५४ में हुआ था । इनके पिता का नाम श्री किशनाश्री और माता का नाम श्रीमती नवलकुँवर बाई था । सात वर्ष की कम उम्र में इनकी शादी हुई लेकिन ६ माह बाद ही पति स्वर्गवासी हो गये । सं० १९६९ मार्गशीर्ष वदी २ (दूज) १५ वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर साध्वी श्री चतरकुँवरजी की शिष्या बनीं । इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, ऊर्दू, फारसी आदि भाषाओं का भी अध्ययन किया । इनकी एक शिष्या श्री शांतिकुँवर जी हुई ।

साध्वी श्री मृगावतीजी

इनका जन्म सं० १९७१ में महु छावणो (मध्यभारत) में हुआ । इनकी माता का नाम श्रीमती घीसाबाई और पिता का नाम श्री पन्ना लालजी था । इनका विवाह श्री गेंदालालजी से हुआ था । सं० १९८९ मार्गशीर्ष वदी पंचमी के दिन तलगारा ग्राम में साध्वी श्री रतनकुँवरजी से दीक्षा ग्रहण कर साध्वी श्री चतरकुँवर की शिष्या हुईं ।

साध्वी श्री नन्दूजी

इनका जन्म सं० १९१४ मार्गशीर्ष में हुआ था । इनके माता-पिता का

२८८ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

नाम क्रमशः श्रीमती चन्दनबाई और श्री मेघराज जी नाबरिया था। इनका विवाह देरवाडी (नासिक) निवासी श्री दगडूजी खिचसरा के साथ हुआ। २२ वर्ष की उम्र में संवत् १९३६ चैत्र शुक्ल १३ (त्रयोदशी) को साध्वी श्री हीराजी की शिष्या बनीं। शास्त्रीय ज्ञानों की अच्छी जानकारी रखती रखती थीं। सं० १९८३ मार्गशीर्ष शुक्ल ३ (तीज) गुरुवार को उपवास के साथ अहमदनगर में इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी सात शिष्याएँ थीं—

(१) श्री छोटाजी, (२) श्री सिरिकुँवरजी, (३) रायकुँवरजी, (४) श्री राधाजी, (५) श्री केसरजी, (६) श्री सायरकुँवरजी, और (७) श्री जडावकुँवरजी।

साध्वी श्री हुलासकुँवरजी

इनका जन्म संवत् १९६२ मार्गशीर्ष शुक्ल को गउरवेल (बीड मोगलाई) में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीमती छगनीबाई और श्री रतनचन्दजी गुगलिया था। इनका विवाह सम्बन्ध हिंडरा (बीड) निवासी रतनचन्दजी मुथा के साथ हुआ था। सं० १९८८ माघ शुक्ल १३ (त्रयोदशी) के दिन अहमदनगर में साध्वी श्री सिरिकुँवर से दीक्षित हुईं।

साध्वी श्री रायकुँवरजी

इन्होंने साध्वी श्री नन्दूजी से दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी प्रवृत्ति नाम-स्मरण तथा तपश्चर्या में विशेष थी। ये ४३ दिन तक अनशन व्रत का पालन करती हुई सं० १९८५ चैत्र शुक्ल ४ (चतुर्थी) दिन सोमवार को दिन स्वर्गवासी हुई थी।

साध्वी श्री राधाजी

साध्वी श्री नन्दूजी के उपदेश से दीक्षित हुईं। इनका स्वभाव विनम्र और सेवाभावी था।

साध्वी श्री केशरजी

इनका जन्म सं० १९३१ में नारायणपुर (पूना) में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री गेनमलजी दूगड़ और माता का नाम कुन्दनबाई था। इनका विवाह पूना निवासी श्री पेमराजजी पोखरणा के साथ हुआ था। ३२ वर्ष की अवस्था में सं० १९६३ माघ शुक्ल ३ (तीज) शनिवार के दिन अपने पैतृक ग्राम में ही साध्वी श्री नन्दूजी से दीक्षा ग्रहण की। सं० २०१२ में अनशन व्रत द्वारा स्वर्गवासी हुईं।

साध्वी श्री सायरकुँवरजी

इनका जन्म सं० १९५८ कार्तिक वदी १३ (त्रयोदशी) के दिन जेतारण (मारवाड़) निवासी श्रीमान् कुन्दनमलजी बोहरा की धर्मपत्नी श्रीमती श्रेयकुँवर बाई की पुत्री के रूप में हुआ । इनका विवाह सिकन्दरा बाद के श्री सुगालचन्दजी मकोना के साथ हुआ । धर्म की ओर झुकाव होने के कारण सं० १९५१ फाल्गुन कृष्ण २ (दूज) बुधवार के दिन मिरि (अहमद नगर) में श्री अमोलक ऋषि से दीक्षित होकर साध्वी श्री नन्दूजी की शिष्या बनीं । इन्हें धार्मिक ग्रन्थों का अच्छा अध्ययन था । इनकी छह शिष्याएँ हुई—

(१) श्री सोनाजी (२) श्री सुमतिकुँवरजी (३) श्री पदमकुँवरजी (४) श्री पारस कुँवरजी (५) श्री दर्शनकुँवरजी और (६) श्री इन्द्रकुँवरजी । वर्तमान में श्री इन्द्रकुँवरजी की परम्परा चल रही है ।

साध्वी श्री हीराजी की शिष्या श्री चंपाजी

ये घोड़नदी (पूना) निवासी श्री गम्भीरमलजी लोढ़ा की धर्मपत्नी थीं । सं० १९३६ आषाढ शुक्ल ९ (नवमी) के दिन श्री तिलोक ऋषिजी से पुत्री सहित दीक्षित होकर श्री हीराजी की शिष्या हुईं । सं० १९५१ भाद्र पद शुक्ल ३ (तीज) के दिन अनशनव्रत द्वारा स्वर्गवासी हुईं । इनकी दो शिष्याएँ हुई—(१) श्री छोटाजी एवं (२) श्री जमुनाजी ।

साध्वी श्री रामकुँवरजी की शिष्या श्री चाँदकुँवरजी

इनका जन्म सं० १९५९ में सलबतपुर निवासी श्री भगवानदास जी फिरोदिया की धर्मपत्नी श्रीमती नानीबाई की पुत्री के रूप में हुआ था । सं० १९७२ माघ शुक्ल १३ (त्रयोदसी) के दिन १३ वर्ष की वय में साध्वी श्री रामकुँवरजी से दीक्षित हुईं । इनकी दो शिष्याएँ हुई—(१) पुष्पकुँवरजी एवं (२) श्री मनोहर कुँवरजी ।

साध्वी श्री भूराजी

ये सं० १९३७ को दीक्षा लेकर महासती श्री हीराजी की शिष्या बनीं और शास्त्रीय ज्ञानार्जन किया । सं० १९७९ पौष वदि १३ को इनका स्वर्गवास हो गया ।

इनकी चार शिष्याएँ हुई—(१) श्री रतनकुँवरजी (२) श्री जयकुँवरजी (३) श्री पानकुँवरजी और (४) श्री राजकुँवरजी ।

२९० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

श्री पानकुंवरजी

इन्होंने साध्वी श्री भूराजी से दीक्षा ग्रहण कर शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया। इनकी दो शिष्याएँ हुई—(१) श्री प्रेमकुंवरजी एवं (२) श्री फूलकुंवरजी।

साध्वी श्री राजकुंवरजी

ये रतलाम निवासी श्री कस्तूरचन्द जो मुणोत की धर्मपत्नी प्रेमकुंवर की पुत्री थीं। ये वैशाख शुक्ल ६ (षष्ठी) मंगलवार सं० १९५८ में श्री भूराजी से दीक्षित होकर उनकी शिष्या बनीं। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू और फारसी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया और विदुषी साध्वी बनीं। फाल्गुन शु० ४ बुधवार संवत् १९९६ को स्वर्गवासी हो गयीं। इनकी १४ शिष्याएँ हुईं।

(१) साध्वी श्री सुगनकुंवर जी, (२) साध्वी श्री चन्द्रकुंवरजी, (३) श्री जसकुंवर जी, (४) श्री शान्तिकुंवर जी, (५) श्री सिरै-कुंवर जी, (६) श्री विनयकुंवर जी, (७) श्री बदामकुंवर जी, (८) श्री लाभकुंवर जी, (९) श्री रमणीककुंवर जी, (१०) श्री सज्जन कुंवर जी, (११) श्री चन्दनबाला जी, (१२) श्री गुलाबकुंवर जी, (१३) श्री माणककुंवर जी और (१४) श्री उज्ज्वलकुंवर जी।

इनमें साध्वी उज्ज्वलकुंवर जी की शिष्या-परम्परा आगे चली।

इनका विवाह न्यायडोंगरी निवासी श्री भागचन्द जी दूगड़ के साथ हुआ था। फाल्गुन शु० १२ सं० १९७९ को श्री प्रेमकुंवर जी से २२ वर्ष की वय में दीक्षित होकर श्री राजकुंवर जी की शिष्या बनीं। आषाढ़ कृ० १४, सं० १९९४ में इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी एक शिष्या हुई—श्री सूरजकुंवर जी।

साध्वी श्री उज्ज्वलकुंवरजी

इनका जन्म चैत्र वदि १३ सं० १९७५ को बरवाला (सौराष्ट्र) निवासी श्रीमान् माधव जी भाई डगली की धर्मपत्नी श्रीमती चंचलबाई की पुत्री के रूप में हुआ। इन्होंने दीक्षा के पूर्व ही संस्कृत, दर्शन, गुजराती, हिन्दी, उर्दू आदि का व्यापक अध्ययन कर लिया था। सं० १९९१ की अक्षय तृतीया के दिन करमाला में मुनि श्री आनन्दऋषि जी से दीक्षित होकर श्री राजकुंवर जी की शिष्या बनीं और सं० १९९६ की फाल्गुन शु० ५ गुरुवार के दिन खामगाँव में प्रवर्तिनी पद मिला। बम्बई, पूना,

अहमदाबाद, नासिक, खानदेश, बरार आदि क्षेत्र इनका विचरण स्थल रहा। ये बहुत ही प्रभावशाली साध्वी थीं। महात्मा गांधी आदि देश के प्रबुद्ध नेताओं से भी आपका विचार-विमर्श होता रहता था। इनकी चार प्रमुख शिष्याएँ हुई—(१) श्री प्रभाकुंवर जी, (२) श्री सुगनकुंवर जी, (३) श्री विमलकुंवर जी, (४) श्री प्रमोदकुंवर जी। इनका शिष्या परिवार विशाल है और उसमें कई प्रबुद्ध साध्वियाँ भी हैं जिन्होंने एम० ए० और पी-एच० डी० स्तर तक अध्ययन किया है।

साध्वी श्री लछमाजी

इनका जन्मस्थल मन्दसौर (मालवा) था और इनके पिता का नाम घनराज जी बीसा पोरवाड़ तथा माता का नाम श्रीमती गंगूबाई था। ये कुशलकुंवर जी से दीक्षित होकर उन्हीं की शिष्या बनीं। इनको भगवतीसूत्र का अच्छा अध्ययन था। चौवालीस वर्ष तक संयम का पालन किया। प्रतापगढ़ में संधारा द्वारा अपना शरीरोत्सर्ग किया। इनकी निम्नलिखित शिष्याएँ थीं—

(१) श्री रुक्माजी, (२) श्री हमीराजी, (३) श्री देवकुंवर जी, (४) श्री रंभाजी, (५) श्री दयाकुंवरजी, (६) श्री जड़ावकुंवर जी, (७) श्री गेंदाजी, (८) श्री लाडूजी, (९) श्री बड़े हमीराजी और (१०) श्री सोनाजी। इनमें से निम्न की शिष्य परम्परा चली।

साध्वी श्री देवकुंवरजी

मालवा प्रान्त में पैदा होकर साध्वी श्री लछमाजी से दीक्षा अंगीकार की। शास्त्रीय ज्ञान अर्जित किया। संयम की आराधना करके स्वर्गवासी हुई। श्री सरदारा जी नाम की इनकी एक शिष्या हुई।

साध्वी श्री सरदाराजी

इनका जन्म मालवा प्रान्त के इंगणोद ग्राम में माली बिरादरी में हुआ। साध्वी श्री देवकुंवर जी से दीक्षित होकर उनकी शिष्या बनीं और शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया। इनकी श्री सुन्दरकुंवर नाम की एक शिष्या हुई।

साध्वी श्री गुलाबकुंवरजी

इनका जन्म सं० १९४८ में निनोर (मालवा) नामक स्थान में हुआ। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीमती सरसाबाई और श्री

२९२ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

अमरचंद जी था। करीब नौ वर्ष की वय में श्री लाडूजी से चैत्र शु० ३ (तीज) सं० १९४७ में दीक्षित होकर श्री मूलाजी की शिष्या बनीं। इन्हें साधारण ज्ञान था। मालवा इनका विहार क्षेत्र रहा। इनकी तीन शिष्याएँ हुई—(१) श्रीधापू जी, (२) श्री सूडा जी एवं (३) श्री सुमति-कुंवर जी।

साध्वी श्री (बड़े) हमीराजी

ये साध्वी श्री लछमा जी से दीक्षा ग्रहण कर उनकी शिष्या बनीं। मालवा और बागड़ प्रान्त इनके विहार क्षेत्र रहे।

इनकी पाँच शिष्याएँ हुई—(१) श्री छोटा जी, (२) श्री जमना जी, (३) श्री हुलासकुंवर जी, (४) श्री मानकुंवर जी और (५) श्री रंभा जी।

साध्वी श्री रंभाजी और उनकी परम्परा

इनका जन्म प्रतापगढ़—निवासी श्री घासीलाल जी पोरवाड़ की धर्मपत्नी श्रीमती रुक्माबाई की पुत्री के रूप में हुआ। नौ वर्ष की उम्र में विवाह हुआ और तेरह वर्ष की उम्र में वैधव्य की प्राप्ति हो गयी। दो वर्ष पश्चात् माता-पिता से अनुमति पाकर अपने पैतृक गाँव में ही श्री (बड़े) हमीरा जी से दीक्षित हुईं।

सं० १९९१ की चैत्रवदि ७ (सप्तमी) के दिन पूना में प्रवर्तिनी षद मिला।

मालवा, बागड़, गुजरात, महाराष्ट्र, खानदेश आदि प्रान्त इनकी, विहार भूमि रही।

सं० २००२ की ज्येष्ठ शु० १५ (पूर्णिमा) सोमवार को इनका स्वर्ग-वास हो गया।

इनकी १८ शिष्याएँ हुईं। (१) श्री पानकुंवर जी, (२) श्री राज-कुंवर जी, (३) श्री रामकुंवर जी, (४) श्री केसर जी, (५) श्री गुलाबकुंवर जी, (६) श्री जतन कुंवर जी, (७) श्री सुन्दरकुंवर जी, (८) श्री जसकुंवर जी, (९) श्री सूरज कुंवर जी, (१०) श्री विजय कुंवर जी, (११) श्री जयकुंवर जी, (१२) श्री जड़ावकुंवर जी, (१३) श्री रतनकुंवर जी, (१४) श्री प्रेमकुंवर जी, (१५) श्री फूलकुंवर जी, (१६) श्री बसन्तकुंवर जी, (१७) श्री चन्द्रकुंवर जी और (१८) श्री आनन्दकुंवर जी। इनमें से निम्न की शिष्या परम्परा चली।

साध्वी श्री चन्द्रकुंवरजी

इनका जन्म कड़ा (अहमद नगर) में हुआ था । इनके पिता का नाम नवलमल जी सिंधी था । इनका विवाह पारनेर निवासी श्रीमान् चुन्नीलाल जी के साथ हुआ था । डेढ़ वर्ष बाद उन्हें पतिवियोग का सामना करना पड़ा । १५ वर्ष की उम्र में उन्होंने श्री रंभा जी महाराज से दीक्षा ग्रहण की ।

इन्होंने संस्कृत और प्राकृत के माध्यम से शास्त्री तक का ज्ञान प्राप्त किया ।

सं० १९९३ में जीवन की अन्तिम अवस्था दौड़ (पूना) में बिताकर स्वर्गवासी हुईं ।

इनकी दो शिष्याएँ हुईं—

(१) श्री प्रभाकुंवर जी और (२) श्री इन्द्रकुंवर जी ।

साध्वी श्री आनन्दकुंवरजी

इनका जन्म सं० १९६० में माघ शुक्ल ७ (सप्तमी) दिन सोमवार को हुआ । इनकी माता का नाम श्रीमती रतनबाई और पिता का नाम श्री लाधूराम जी था । इनका विवाह मालेगाँव निवासी श्री मुलतानमल जी के साथ हुआ । पति की आज्ञा प्राप्त करके सं० १९७९ में बसंत पंचमी के दिन श्री रंभा जी की शिष्या बनीं ।

मनचर (पूना), बम्बई, कर्णाटक इनका विचरण स्थल रहा ।

इनकी पाँच शिष्याएँ हुईं—

(१) श्री सज्जनकुंवर जी (२) श्री पुष्प कुंवरजी (३) श्री मदनकुंवर जी (४) श्री वल्लभकुंवर जी और (५) श्री हर्षकुंवर जी ।

साध्वी श्री सोनाजी

इनका जन्म संवत् १९०० में जावद (मालवा-मंडल) नामक कस्बे में हुआ था । इनकी माता का नाम रोडी बाई और पिता का नाम ओंकार जी था । तरुणावस्था में साध्वी श्री लछमा जी से दीक्षित होकर सं० १९२५ में उनकी शिष्या बनीं और शास्त्रीय ज्ञान अर्जित किया ।

सं० १९५६ में प्रतापगढ़ में संस्थारा द्वारा स्वर्गवासी हुईं ।

इनकी ग्यारह शिष्याएँ हुईं, जिनमें से पाँच के नाम उपलब्ध हैं ।

(१) श्री कासा जी (२) श्री चम्पा जी (३) श्री बड़े हमीरा जी (४) श्री प्यारा जी और (५) श्री छोटे हमीरा जी ।

२९४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

साध्वी श्री कासाजी

इनका जन्मस्थल मन्दसौर और पिता का नाम श्री तिलोकचन्द जी और माता का नाम जोताबाई था। साध्वी श्री सोना जी से दीक्षित होकर ज्ञान और विनय की प्रतिमूर्ति बनीं।

इनका विचरण स्थल मालवा, मेवाड़, बागड़ आदि प्रान्त रहा।

सं० १९४५ में पैतृक ग्राम आकर संस्थारा द्वारा स्वर्गवासी हुईं।

इनकी निम्न शिष्याएँ थीं—

(१) श्री मथुरा जी (२) श्री सरसा जी (३) श्री कस्तूराजी और (४) श्री हगामकुँवर जी।

साध्वी श्री फूलकुँवरजी

मालवा प्रान्त के गौरवी ग्राम में पैदा हुईं। श्री बालचन्द जी इनके पति थे। २५ वर्ष की तरुणावस्था में श्री दौलत ऋषि से दीक्षित होकर सं० १९७१ के फाल्गुन मास में साध्वी श्री सरसा जी की शिष्या बनीं और शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया।

वि० सं० १९९२ में आषाढ़ शु० ११ (एकादशी) के दिन प्रतापगढ़ में इनका स्वर्गवास हो गया।

साध्वी श्री हगामकुँवर जी

ये प्रतापगढ़ के श्री माणकचन्द चंडालिया की धर्मपत्नी एवं श्रीमती अमृताबाई का पुत्री थीं। इनका विवाह मालोट निवासी श्री गुलाबचन्द जी के साथ हुआ था। लेकिन सौभाग्य थोड़े दिन तक रहा। फाल्गुन शुक्ल ३ (तीज) सं० १९६० में साध्वी श्री कासा जी से दीक्षित हुईं और उनकी शिष्या बनीं और शास्त्रीय ज्ञान अर्जित किया।

मालवा, मेवाड़, वागड़, वरार, मध्यप्रदेश आदि इनका विहार क्षेत्र रहा।

सं० १९८७ में इन्हें प्रवर्तिनी पद मिला। इनकी नौ शिष्याएँ हुईं, जिनमें निम्न नाम उपलब्ध हैं—

(१) श्री जानकुँवर जी (२) श्री सुन्दरकुँवर जी (३) श्री नजरकुँवर जी (४) श्री केसर जी (५) श्री हुलास जी (६) श्री कस्तूराजी (७) श्री दाखा जी और (८) श्री नन्दकुँवर जी।

साध्वी श्री छोटे हगामकुँवर जी

इनका जन्मस्थान भिंडर (मेवाड़) है। इनके पिता का नाम श्री

रामलाल जी और माता का नाम केशरीबाई था। कुन्ता निवासी श्री लाभचंद जी गनोर के साथ इनका पाणिग्रहण संस्कार हुआ। २२ वर्ष की आयु में सं० १९६५ मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा के दिन धरियाबाद में श्री हमीरा जी की शिष्या बनीं।

इनका विहार स्थल मालवा और मध्यप्रदेश रहा।

साध्वी श्री ज्ञानकुँवर जी

इनकी जन्मभूमि धरियाबाद (मालवा), पिता श्री ताराचन्द जी कोठारी और माता का नाम हुलासबाई था। दस वर्ष की अल्पायु में कुन्था नामक ग्राम में सं० १९९१, माघ शुक्ल चतुर्थी, गुरुवार के दिन श्री मनसुख ऋषि से दीक्षित होकर श्री हगामकुँवर जी की शिष्या बनीं। तीव्र बुद्धि के कारण इन्होंने संस्कृत, गुजराती, हिन्दी के साथ-साथ शास्त्रीयज्ञान भी प्राप्त किया। सं० १९९४, आषाढ शुक्ल प्रतिपदा के दिन भण्डारा (मध्य प्रदेश) में इनका स्वर्गवास हो गया।

इनकी एक शिष्या श्री मगनकुँवर जी हुईं।

साध्वी श्री कस्तूराजी

इनका जन्म गरोठ (मालवा) में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री लक्ष्मीचन्द जी पोरवाड़ और माता का नाम श्रीमती चन्दनबाई था। माघ शुक्ल तृतीया वि० सं० १९२३ में इनका पाणिग्रहण संस्कार हुआ था। शाजापुर में आषाढ शुक्ल १२, सं० १९४९, में साध्वी श्री कासा जी की शिष्या बनीं और ज्ञानाभ्यास द्वारा शास्त्रों का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। मालवा, मेवाड़, मध्यप्रदेश, वागड़, बरार आदि प्रान्त इनके विचरण स्थल रहे। सं० १९८९ में इन्हें प्रवर्तिनी पद प्राप्त हुआ।

सं० २००८ में कार्तिकवदि ८ के दिन स्वर्गवासी हो गयीं।

इनकी तीन शिष्याएँ हुईं—(१) श्री जड़ावकुँवर जी (२) श्री इन्द्रकुँवर जी एवं (३) श्री नजर कुँवर जी।

साध्वी श्री जड़ावकुँवर जी

इनका जन्म धार जिला के कानवन में सं० १९४०, श्रावण शुक्ल षष्ठी दिन बुधवार को हुआ था। इनके पिता का नाम श्री नन्दूलाल जी और माता का नाम श्रीमती मोतीबाई था। नागदा निवासी श्री लक्ष्मी चन्द्र जी के साथ पाणिग्रहण सम्बन्ध हुआ था। पीपलोदा में पं० मुनिश्री भैरों ऋषि से दीक्षित होकर साध्वी श्री कस्तूराजी की शिष्या बनीं। ये

२९६ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

शान्ति, सरलता, विनम्रता की प्रतिमूर्ति थीं। मालवा, मेवाड़ आदि प्रान्त इनके विचरण स्थल रहे। सं० १९७९, श्रावण शुक्ल नवमी के दिन प्रतापगढ़ में संस्थारा द्वारा स्वर्गवासी हुईं। इनकी तीन शिष्याएँ हुईं—
(१) श्री मानकुँवरजी (२) श्री बरजूजी और (३) श्री अमृतकुँवरजी।

साध्वी श्री इन्द्रकुँवरजी

इनका जन्म मन्दसौर में सं० १९४२ में हुआ था। इनकी माँ का नाम श्रीमती सरदार बाई और पिता का नाम श्री चम्पालालजी छाजेड़ था। १९ वर्ष की उम्र में, पौष वदी ४ सं० १९६० के दिन साध्वी श्रीकस्तुराजी की शिष्या बनीं और शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त किया। ये प्रकृति से शान्ति-प्रिय थीं। इनका विहार क्षेत्र मालवा, मध्य प्रदेश, विदर्भ और खानदेश रहा।

मध्यप्रदेश में इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी एक शिष्या श्री दौलतकुँवरजी हुईं।

साध्वी श्री दौलतकुँवरजी

इनका जन्म धार जिला के वड़का में कार्तिक वदी ११ (एकादशी), सं० १९५८ में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम क्रमशः श्रीमती रूमा बाई और श्री चुन्नीलालजी कंदोई था। इनका विवाह प्रतापगढ़ निवासी श्री कारूलाल कंदोई के साथ हुआ था। मंदसौर में मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमी, सं० १९९० में आनंदऋषिजी से दीक्षित होकर साध्वी श्री इन्द्रकुँवर की शिष्या बनीं और हिन्दी के साथ-साथ शास्त्रीय ज्ञान भी प्राप्त किया।

मालवा, बरार, मध्य प्रदेश, खानदेश आदि प्रान्त विहार क्षेत्र रहे।

कार्तिक वदी चतुर्दशी, सं० २००० में यवतमाल में इनका स्वर्ग, वास हो गया। श्री हुलासकुँवरजी और श्री गुलाबकुँवरजी इनकी दो शिष्याएँ हुईं।

साध्वी श्रीअमृतकुँवरजी और उनकी परंपरा

इनका जन्म प्रतापगढ़ में पौष शुक्ल दशमी, गुरुवार के दिन सं० १९५९ में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री बालचंदजी और माता का नाम सरसीबाई था।

सं० १९७४ में श्री महावीर जग्रन्ती के दिन अपने पैतृक ग्राम में साध्वी श्री कासाजी से दीक्षित होकर साध्वी श्री जड़ावकुँवरजी की शिष्या

बनीं। इसके उपरान्त शास्त्रों और थोकड़ों आदि का यथोचित् ज्ञान अर्जित किया।

मालवा, विदर्भ, खानदेश, मध्य प्रदेश, दक्षिण आदि प्रान्त इनका विहार क्षेत्र रहा।

मनमाड़ में चैत्र शु० नवमी, सं० २००६ में इनका स्वर्गवास हो गया।

इनकी निम्नलिखित शिष्याएँ हुई—(१) श्री कंचनकुँवर जी (२) श्री राजा जी (३) श्री सोना जी (४) श्री फूलकुँवर जी (५) श्री केसर जी (६) श्री राधा जी (७) श्री जयकुँवर जी (८) श्री अजितकुँवर जी (९) श्री विमलकुँवर जी (१०) श्री वल्लभकुँवर जी (११) श्री चाँद-कुँवर जी।



स्थानकवासी पंजाबी सम्प्रदाय की प्रमुख साधवियाँ

—साध्वी सरला जी

१. प्रवर्तिनी महासती पार्वती देवी

जन्म—आपका जन्म सं० १९११ में आगरा के निकट एक गाँव मोड़-पुरी में हुआ था। यह गाँव चौहानों का था। इनके पिता श्री बलदेव सिंह एक प्रतिष्ठित जमींदार थे और माता धनवंती देवी धार्मिक संस्कारों की महिला थीं। सुलक्षणों को देखते हुए बालिका का नाम पार्वती रखा गया। लड़की स्वभाव से शान्त, किन्तु तेजस्वी थी। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण और हृदय सरल था।

अध्ययन—पार्वती देवी के अध्ययन की उचित व्यवस्था के बारे में श्री बलदेव सिंह जी सोच हो रहे थे कि इसी बीच किसी मुकदमे के सिलसिले में उन्हें आगरा जाना पड़ा। मुकदमे के कारण वे काफी चिन्तित थे। उनके एक शुभचिन्तक ने उन्हें मुनि रत्नचन्द्र जी महाराज के दर्शन एवं उनके प्रवचन-श्रवण की सलाह दी। इससे सचमुच श्री बलदेव सिंह जी को बड़ी शान्ति मिली और उन्होंने विचार किया कि इन्हीं ज्ञानी तपस्वी के सान्निध्य में कन्या पार्वती को शिक्षा दिलाई जाय। मुनि से प्रार्थना की तो वे तैयार हो गये और पार्वती आगरा में रहकर कँवरसेन जी महाराज की देखरेख में अध्ययन करने लगी। महासती हीरादेवी की छत्रछाया में वह रहती और मुनिजनों के चरणों में बैठकर दिनभर अध्ययन करती थी। कुछ ही दिनों में उस विलक्षण प्रतिभाशाली बालिका ने अमरकोष, दशवैकालिक और उत्तराध्ययनसूत्रादि कंठस्थ कर डाले। साथ ही पालि-प्राकृत, हिन्दी, पंजाबी आदि भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

वैराग्य—सत्संगति के प्रभाव से पार्वती के हृदय का स्वाभाविक वैराग्य क्रमशः पुष्ट होता गया और उसके मन में प्रव्रजित होने की उत्कंठा प्रबल होने लगी। जब उन्होंने यह प्रस्ताव अपने अभिभावकों के समक्ष प्रस्तुत किया तो वे लोग स्तब्ध रह गये। बहुत ऊँच-नीच समझाया किन्तु पार्वती अपने निश्चय पर अडिग रही। अन्ततः १३ वर्ष की अवस्था में

ॐ प्रस्तुत विवरण 'साधना पथ की अमर साधिका' नामक पुस्तक से संक्षिप्त करके लिया गया है।—सम्पादक

वि० सं० १९२४, चैत्र सुदी १ को श्री हीरादेवी जी महाराज के सान्निध्य में काधँला के निकटअल्लमगाँव में पार्वती की दीक्षा तीन अन्य कुमारिकाओं के साथ सोल्लास सम्पन्न हुई ।

उनकी अध्ययन की प्रवृत्ति प्रबल थी । वे प्राकृत-पालि के साथ आगमों और जैनशास्त्र का गंभीर अध्ययन करना चाहती थीं अतः श्री हीरादेवी म० उन्हें लेकर पुनः आगरा पहुँची और कँवरसेन महाराज के निकट सं० १९२५ से २८ तक शास्त्रों का गंभीर अध्ययन कराया । पार्वती म० ने अंग्रेजी पढ़ना भी प्रारम्भ किया किन्तु गुरुणी ने समझाया कि जितना श्रम अंग्रेजी के लिए करोगी उतना आगम पढ़ने में करने से अधिक लाभ होगा, अतः गुरुणी का संकेत पाकर उन्होंने अपना पूरा समय आगमों के अनुशीलन में ही लगाया ।

सम्प्रदाय परिवर्तन—गम्भीर ज्ञानप्राप्ति के पश्चात् महासती पार्वती महाराज स्वतंत्र चेता बन गयीं । उनकी इच्छा थी कि वे अपने अध्ययन का लाभ जन-जन तक पहुँचावें किन्तु सम्प्रदायगत रूढ़ियाँ और संकीर्णतायें आड़े आ रही थीं । साध्वियों के लिए स्वतन्त्र विहार, प्रवचन, धर्म प्रचार में कई प्रकार की बाधायें थीं अतः उन्होंने सम्प्रदाय परिवर्तन का निश्चय किया और पंजाब के पूज्य अमरसिंह जी के सम्प्रदाय से सं० १९२९ के मृगसर वदि १३ को नाता जोड़ लिया । आप इस सम्प्रदाय में महासती खूबाँजी तथा महासती मेलोजी की अनुवर्तिनी बनीं । सं० १९३० में आपने गुरुणी जी के साथ देहली से पंजाब-अमृतसर, स्यालकोट, जम्मू आदि तक विहार किया और धर्म प्रचार किया ।

चातुर्मास, व्रत, उपवास—आपने सं० १९३० में जम्मू और ३१ में होशियारपुर में चातुर्मास किया । यहाँ भक्ष्याभक्ष विषय पर अपने तर्कों से इन्होंने आत्माराम जी महाराज को चमत्कृत कर दिया । उन दिनों पंजाब में स्वामी दयानन्द सरस्वती का बड़ा प्रभाव था । वे मूर्तिपूजा का खंडन, रूढ़ियों का विरोध, स्त्री-शिक्षा, अछूतोंद्वारा आदि का प्रचार करके वास्तविक वैदिक धर्म का स्वरूप लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे थे । इनकी बहुत सी बातें स्थानकवासी सम्प्रदाय से मेल खाती थीं । दोनों सम्प्रदाय सुधारवादी थे, मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करते थे अतः दोनों में कुछ समानताओं के बावजूद कभी-कभी प्रतिस्पर्धा भी होती थी, पारस्परिक वाद-विवाद होते थे । इन शास्त्रार्थों में महासती पार्वती जी अपनी ओजस्वी वाणी से अपना पक्ष बड़े आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करती थीं । उनकी धर्म

३०० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

प्रतिपादन शैली बड़ी प्रभावशाली, उनका ज्ञान विस्तृत और स्वभाव सौम्य, सरल था। इसलिए उनका प्रभाव व्यापक रूप से पड़ता था।

सं० १९३८ में जब वे जम्मू में चातुर्मास कर रही थीं तो जम्मू नरेश के पुजारी की शंकाओं का भी समाधान उन्होंने उचित ढंग से किया। महाराज नाभा ने सं० १९४४ में कुछ प्रश्न पूछे थे। पार्वती म० स० ने उनका यथोचित उत्तर दिया जिससे महाराज उनके प्रति आस्थावान हो गये।

प्रवर्तिनी पद—सं० १९५१ में चैत्र वदि ११ को आचार्य मोतीराम जी म० ने आगमां के महान् मर्मज्ञ पूज्य श्री सोहनलाल जी म० को युवाचार्य पद दिया। उसी के साथ उन्होंने महासती पार्वती म० को प्रवर्तिनी का पद प्रदान कर इनकी योग्यता का सम्मान किया। तब से लेकर ४७ वर्षों तक निरन्तर महासती पार्वती जी इस गरिमाय पद पर सुशोभित रहीं और दूर-दूर तक जैन शासन की प्रभावना थीं।

शिष्यायें—महासती पार्वती म० की चार प्रमुख शिष्यायें हुई— (१) श्री जोवी जी म०, (२) श्री कर्मदेवी जी म०, (३) श्री भगवान देवी जी म० और (४) श्री राजमणी जी म० सं०। १९५७ में आपने जयपुर में चातुर्मास किया, उसके पश्चात् अलवर पधारीं। यहीं पर महासती जी के चरणों में सेवा का संकल्प लेकर पन्नादेवी आई और रोहतक में उनकी भगवती दीक्षा बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुई। महासती राजीमती और महासती पन्ना कुंवर म० स० का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

अन्तिम दिनों में वार्धक्य और शारीरिक दुर्बलता के कारण महासती पार्वती जी जालंधर में स्थिरवास कर रही थीं। वहीं सं० १९९६, माघ वदि ९ शुक्रवार को उन्होंने स्वर्गारोहण किया।

२. महासती श्री राजीमती म० स०

बचपन—आप का जन्म स्यालकोट के प्रसिद्ध जैन परिवार लाला खुशहाल साह के घर हुआ था। इनके माता-पिता संस्कार सम्पन्न थे। उन्होंने बचपन से ही इन्हें उत्तम गुणों की शिक्षा दी। वे सरल-निर्मल मन की बालिका थीं ही, इस शिक्षा से मानों सोने में सुगन्ध आ गई। यद्यपि विधिवत् पाठशाला की शिक्षा नहीं मिल पाई फिर भी साधु-सतियों की संगति से इन्हें जैनधर्म एवं तत्त्वज्ञान की अच्छी जानकारी हो

गई थी। इनका विवाह जम्मू निवासी प्रसिद्ध धनिक श्री देशराज के भाई श्री जयदयाल मल्ल के साथ हुआ था।

वैराग्य एवं दीक्षा—पार्वती म० स० के सत्संग एवं प्रवचन-उपदेश से राजीमती का वैराग्य पुष्ट हो गया क्योंकि सं० १९४८ में जब पार्वतीजी म० स्यालकोट आई थीं उसी समय राजीमती भी अपने पिता के घर स्यालकोट आई थीं। यहीं उन्होंने दीक्षा का संकल्प ले लिया। महासती से प्रस्ताव किया तो उन्होंने पति और पिता से आज्ञा लेने का सुझाव दिया। पिता ने इनके वैराग्य की दृढ़ता देखकर अपनी अनुमति दे दी। वे अपनी ससुराल जम्मू गई और अवसर पाकर पति के सम्मुख अपनी दीक्षा का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। पति ने बहुत समझाया किन्तु वे अपने निश्चय पर अटल रहीं। अन्ततः पति को भी स्वीकृति देनी पड़ी। सं० १९४८ वैशाख सुदी १३ सोमवार को दीक्षा संस्कार महासती पार्वती जी के सान्निध्य में सोल्लास अमृतसर में सम्पन्न हो गया।

स्वाध्याय और तप साधना—दीक्षा के पश्चात् आप की रुचि स्वाध्याय, ध्यान, मौन जपादि की ओर अधिकाधिक उन्मुख होती गई। आप घण्टों समाधि लगाकर ध्यान, जप आदि करती रहती थीं। आप परम तितिक्षु थीं। कठोर सर्दों, भयंकर गर्मी आप सहज ढंग से सहन करती थीं। आप एक निस्पृह, एकान्त साधिका थीं। उनका शिष्या-समुदाय छोटा किन्तु महान् प्रभावशाली रहा। इनकी अग्रलिखित छह प्रमुख शिष्यायें थीं—(१) श्री हीरादेवी म० (२) श्री पन्नादेवी म०, (३) श्री चन्द्रा जी म०, (४) श्री मानिक देवी जी म०, (५) श्री रतनदेवी जी म० और (६) की ईश्वरा देवी जी म०। आज इन शिष्याओं का परिवार स्थानकवासी साध्वी समाज में काफ़ी अध्ययन-शील और संयम साधना मार्ग पर अग्रणी तथा जिन शासन की प्रभावना में निपुण माना जाता है।

प्रवर्तिनी पद—प्रवर्तिनी महासती पार्वती जी शारीरिक अस्वस्थता के कारण अन्तिम दिनों में जालन्धर में स्थिरवास रहीं। उस समय महासती राजीमती ने अपूर्व निष्ठा एवं लगन से गुरुणी की सेवा की। वि० सं० १९९६ में जब प्रवर्तिनी जी का देहावसान हुआ तो उनके पश्चात् उनकी सबसे श्रेष्ठ योग्य शिष्या होने के कारण आपने उस पद को सुशो-भित किया।

स्वर्गारोहण—अब तक आप का शरीर भी वृद्धावस्था के कारण दुर्बल हो चला था। अतः आप ने भी जालन्धर में स्थिरवास किया।

इस अवस्था में भी आप जप, ध्यान और तप आदि अपूर्व मनोयोग पूर्वक निरन्तर विधिवत् सम्पन्न करती रहीं। सं० २०१० कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी को वैराग्य की इस साक्षात् प्रतिमूर्ति ने समाधिपूर्वक देह त्याग किया। इन दो महासतियों के देह त्याग (अन्तिम कल्याणक) के कारण जालन्धर एक तीर्थ बन गया है।

३. महासती पन्नादेवी जी म०

आज से प्रायः एक शताब्दी पूर्व राजस्थान-मारवाड़ के सोजत नगर निवासी क्षत्रिय श्री किशनचन्द जी को एक कन्या हुई जो आगे चलकर स्थानकवासी जैन समाज की गौरवमयी साध्वी हुई। इनकी माता नानकी देवी बड़ी धर्मप्राण, सरल एवं सुशील महिला थीं। इनका प्रभाव सुकुमार कन्या पर गहरा पड़ा और वह सुन्दर तथा शीलवान हुई। कन्या का नाम पन्नाकुँवर रखा गया। उसकी एक बड़ी बहन थी तुलसाबाई और एक छोटा भाई था कान्हचन्द।

पन्ना बचपन से ही जैन साध्वियों का सत्संग करने लगी और उत्तम कहानियाँ सुना करती थी जो उसे मिठाइयों से भी ज्यादा मीठी लगती थी। इन कथा-कहानियों के माध्यम से वह जैनधर्म की गूढ़ बातें भी सहज ही हृदयंगम कर पाई।

होनहार को कौन रोक पाया है। इधर ठाकुर परिवार में जन्मी कन्या पर जैन साध्वियों के साथ सत्संग पर रोक लगी, उधर अदृष्ट कुछ और ही खेल रच रहा था। श्री किसनचन्द के एक घनिष्ठ ओसवाल जैनी मित्र हुलास सिंह को कोई कन्या न थी। वे उसे गोद लेने का आग्रह करने लगे। उनकी पत्नी गेंदाबाई पन्नाकुँवर की माँ नानकी देवी की घनिष्ठ सहेली थीं। दोनों में काफी समय तक इस विषय पर चर्चा होती रही। अन्त में यह क्षत्रिय कन्या एक ओसवाल जैन परिवार में गोद आ गई। यहाँ उसे साधु-साध्वी संगति का खूब सुअवसर मिलने लगा। सं० १९५७ में महासती पार्वती का चातुर्मास जयपुर में था। उनके उपदेश से पन्नाकुँवर के सुप्त संस्कार जाग्रत हो गये। उसका विरक्ति भाव दृढ़ होने लगा और वह दीक्षा का आग्रह करने लगी। बहुत समझाया-बुझाया गया पर वह अडिग रही। श्री भामाराम महाराज ने इस बालिका की प्रखरता से प्रभावित होकर गेंदाबाई से उसकी प्रशंसा की, उन्होंने उसके वैराग्य की अनेक प्रकार से परीक्षा ली। पन्नाकुँवर सभी परीक्षाओं में खरी उतरी। सं० १९५७ में प्रवर्तिनी पार्वती महासती जब जयपुर चातुर्मास के बाद

अलवर गईं तब गेंदाबाई के साथ पन्नाकुँवर भी वहाँ गईं और माता-पिता की स्वीकृति लेकर साध्वी जी से दीक्षा लेने का निवेदन किया ।

दीक्षा—माता-पिता और प्रमुख गुरुजनों की प्रार्थना पर महासती ने उन्हें ज्ञानाभ्यास शुरू कराया । प्रतिक्रमण सूत्र, नवतत्व पदार्थ, दशवैकालिक, उत्तराध्वयन आदि अनेक ग्रन्थ कंठस्थ कराये । महासती पार्वती का सं० १९५८ का चातुर्मास रोहतक में निश्चित हुआ और चातुर्मास से पूर्व आषाढ सुदी १०सं० १९५८ को दीक्षा मुहूर्त निश्चित हुआ । बड़ी तैयारी और धूमधाम के साथ समारोह सम्पन्न हुआ और पन्नाकुँवर महासती पन्नादेवी के रूप में अवतरित हुईं । आपने अल्प समय में कठोर स्वाध्याय करके आगमों का ज्ञान प्राप्त कर लिया । सं० १९५९ में कांधला चातुर्मास के अवसर पर इन्होंने अपनी विद्या और प्रवचन पटुता से लोगों को चकित कर दिया । आपने स्वयं तो अध्ययन किया ही, साथ ही दूसरों को भी अध्ययन की प्रेरणा दी और कराया ।

आप सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति थीं । सेवा को दिव्यज्योति आपके अन्तःस्थल में निरन्तर जलती रहती थी । आप अपने गुरुणीजी की सेवा में प्राण-प्रण से लगी रहती थीं । सं० १९९६ में जब महासती पार्वती जी म० काफी अस्वस्थ हो गई थीं उस समय आपने उनकी दिन-रात बड़ी लगन से सेवा की और उन्हें स्वास्थ्यलाभ कराया । उसी समय रावलपिंडी के श्री संघ के आग्रह पर इन्हें वहाँ जाना पड़ा । वे जालन्धर, कपूरथला, पटियाला, अमृतसर, लाहौर होती गुजरानवाला पहुँची तभी इन्हें महासती पार्वती के स्वर्गवास का दुःखद समाचार मिला । इस समय इन्हें वही मार्मिक अनुभूति हुई जैसी गौतम गणधर को हुई होगी । सं० २००१ में आपने अपनी गुरुबहन हीरा देवी की देहली में रहकर खूब सेवा की । आपने अपनी सहधर्मिणी एवं शिष्याओं को भी सेवा की । आपकी सेवा परायणता अन्यो के लिए आदर्श है ।

शिष्या परिवार—१. आपकी चार प्रमुख शिष्यायें हैं :—श्री जयन्ती जी म० २. श्री रामकली जी म० सं०, ३. श्री हर्षावती जी म० ४. श्री गुणवती जी म० । श्री जयन्ती जी म० की शिष्याओं में प्रजावती और विजेन्द्रकुमारी जी उल्लेखनीय हैं । श्री प्रजावती जी म० सा० की शिष्याओं में श्री मृगावती जी म० और श्री प्रमोद कुमारी म०, कविता कुमारी म० इस समय जैन विद्या और संयम के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण साध्वियाँ हैं ।

३०४ : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलाएँ

श्री प्रमोद कुमारी जी म० होशियारपुर के लाला किशोरीलाल जैन की सुपुत्री हैं। आपने १५ वर्ष की वय में सं० २०१४ में दीक्षा ली। आपने उच्चस्तरीय शिक्षा प्राप्त की है। हिन्दी के साथ अंग्रेजी में भी आपकी अच्छी गति है। आप मधुरकंठी, तेजस्वी वक्ता एवं आगमों की मर्मज्ञसाध्वी हैं। आपकी छोटी बहन श्री कविता कुमारी जी म० ने भी १८ वर्ष की अवस्था में सं० २०२२ में बड़ी धूमधाम से दीक्षा ली थी। आपकी धर्म दर्शन के साथ ही अन्य साहित्य में अच्छी पैठ है।



तेरापंथ की अग्रणी साधवियाँ*

□ साध्वी श्री मधुस्मिता

एक व्यक्ति ने एक बार तेरापंथ के प्रथम आचार्य भोखणजी से कहा—भोखणजी ! आपका तीर्थ अधूरा है । भोखणजी ने पूछा—कैसे ? उसने कहा—आपके तीर्थ में साधु, श्रावक और श्राविकाएँ हैं साधवियाँ नहीं हैं । तब तक तेरापंथ में बहिर्ने दीक्षित नहीं हुई थीं । तीर्थ वास्तव में अधूरा था । संयोग से वि० सं० १८२१ में तीन बहिर्ने दीक्षित होने हेतु आचार्य भिक्षुक के सम्मुख उपस्थित हुईं । आचार्य भिक्षु ने उनसे प्रश्न किया—यदि संयोगवश एक की मृत्यु हो जाए तो शेष दो को आजीवन संलेखना करनी पड़ेगी । तीन साधवियों से कम रहना कल्पता नहीं । तत्क्षण तीनों ने कहा—हमें मंजूर है । आचार्य भिक्षु ने तीनों को प्रव्रजित कर लिया । साधवियों की संख्या क्रमशः अभिवृद्धि को प्राप्त होती रही । न केवल संख्या की दृष्टि से ही, अपितु साध्वी समाज का गुणात्मक विकास भी होता गया । आज तेरापंथ धर्म संघ अपने दो शतक पूरे कर अब तीसरे शतक में चल रहा है । इस अवधि में लगभग दो हजार बहिर्नों ने दीक्षा ली और आत्म-साधना के साथ-साथ जनहित में पूर्ण योग दिया है । आचार्य भिक्षु ने साध्वी समाज को एक व्यवस्था दी । उत्तरवर्ती आचार्यों ने समय-समय पर उसको संवर्द्धित किया, युग-प्रधान आचार्य श्रीतुलसी ने तो साध्वी समाज के विकासार्थ अपने बहुमूल्य समय का विसर्जन किया है, कर रहे हैं ।

इस लेख में केवल उन साधवियों के जीवन प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिन्होंने साध्वी समाज का नेतृत्व कर अपनी बुद्धि और विवेक के बल पर नारी जाति के जागरण में योगदान दिया है । अब तक तेरापंथ शासन में ११ साध्वी-प्रमुखाएँ हुई हैं—

- | | |
|---------------------|---------------------|
| १. महासती बरजूजी | २. महासती हीराजी |
| ३. महासती दीपांजी | ४. महासती सरदारांजी |
| ५. महासती गुलाबांजी | ६. महासती नवलांजी |

* केसरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ से साभार

- | | |
|-------------------------|-----------------------|
| ७. महासती जेठांजी | ८. महासती कानकुमारीजी |
| ९. महासती झमकूजी | १०. महासती लाडांजी |
| ११. महासती कनकप्रभाजी । | |

प्रथम तीन साध्वियाँ प्रमुखा पद प्राप्त नहीं थीं, किन्तु उन्होंने साध्वी प्रमुखा की तरह सारा कार्यभार सँभाला था, अन्य ८ साध्वियों को आचार्यों ने साध्वीप्रमुखा पद पर स्थापित कर साध्वी समाज की देखरेख का कार्यभार सौंपा। सर्वप्रथम जयाचार्य ने महासती सरदारोंजी को विधिवत् प्रमुखा पद पर नियुक्त किया। प्रस्तुत है अग्रणी साध्वियों का उपलब्ध जीवनवृत्त।

१. **महासती दीपांजी**—साध्वी श्री दीपांजी का जीवन अनेक गुणों से परिपूर्ण था। सहज श्रद्धा का उद्रेक, चारित्र के प्रति निष्ठा, संयम के प्रति अनुराग, सहधार्मिकों के प्रति स्नेह और वात्सल्य ये आपके मौलिक गुण थे। निर्भीकता, वाक्कौशल, गति, मति, स्थिति गुरुदृष्टि-अनुसारिणी थीं। पठन-पाठन में विशेष रुचि थी। एक बार डाकू से साक्षात्कार हुआ। उसने साध्वियों को लूटना चाहा। आपने ओज भरे शब्दों से कहा—“हम जैन साध्वियाँ हैं। पुरुष का स्पर्श नहीं करतीं। छूना मत।” सामान नीचे रख दिया। एक वृत्त बनाकर सभी साध्वियाँ बैठ गयीं। महासती दीपांजी उनके बीच में बैठ गयीं। उच्च स्वर से नमस्कार महामन्त्र का जाप शुरू कर दिया, लुटेरे ने समझा यह तो किसी देवी की आराधना कर रही है, न मालूम मेरी क्या दशा कर देगी। वह डरकर सामान छोड़कर भाग गया। आपका जन्म स्थान जोजावर था। आचार्य भारमलजी के हाथों १६ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली। ५० वर्ष तक साधना कर वि० सं० १९१८ की भाद्रपद कृष्ण ११ को आमेट में २० प्रहर के अनशनपूर्वक स्वर्ग सिधारीं।

२. **महासती सरदारोंजी**—संकल्प में बल होता है और आशा में जीवन। सरदारों सती का जीवन संकल्प और आशा की रेखाओं का स्पष्ट चित्र है। वि० सं० १८६५ में चूरु में आपका जन्म हुआ। दस वर्ष की बाल्यावस्था में विवाह हुआ। चार मास पश्चात् पति का वियोग सहन करना पड़ा। सुकुमार हृदय पर वज्राघात लगा। उसी वर्ष मुनि श्री जीतमलजी का चातुर्मास चूरु में हुआ। सरदारों सती ने उस पावस में अपनी जिज्ञासाओं का समुचित समाधान पा तत्त्वों को मान, तेरापथ की श्रद्धा स्वीकार की। १३ वर्ष की अवस्था में यावज्जीवन चौविहार का व्रत ले लिया, सचित्त-त्याग आदि अनेक प्रत्याख्यान किए, विविध प्रकार का

तप करके आपने साधना पक्ष को परखा। दीक्षा ग्रहण की भावना उत्कृष्ट हुई। पारिवारिक जनों के बीच अपनी भावना रखी। स्वीकृति न मिलने पर सरदारांसती ने अनेक प्रयास किए, सब कसौटियों पर खरी उतरने के पश्चात् दोनों परिवारों से अनुज्ञा प्राप्त हुई। दीक्षा श्रीमज्जयाचार्य के हाथों सम्पन्न हुई। लुंचन अपने हाथों से किया। प्रथम बार आचार्यश्री रामचन्द्रजी के दर्शन किए तब औपचारिक रूप से अग्रगण्या बना दिया। दीक्षा के १३ वर्ष बाद आपको साध्वीप्रमुखा का पद मिला। जयाचार्य को आपकी योग्यता व विवेक पर विश्वास था। प्रखर बुद्धि के कारण एक दिन में २०० पद्य कंठस्थ कर लेती थीं। सहस्त्रों पद कंठस्थ थे। उन दिनों साधु-साधवियों का हस्तलिखित प्रतियों पर अपना अधिकार था। महासती सरदारांजी ने एक उपाय ढूँढ़ निकाला। सारी पुस्तकें सरदारसती को अर्पित की गईं। सरदारसती ने सारी पुस्तकें जयाचार्य को भेंट कर दीं। जयाचार्य ने आवश्यकतानुसार सबका संघ में वितरण कर दिया। विवेक और बुद्धि कौशल के आधार पर ही उन्होंने साधवियों के हृदय परिवर्तन कर अनेक ग्रुप तैयार किये, जिन्हें तेरापंथ की भाषा में संघाड़ा कहते हैं। जयाचार्य का आदेश पा आपने एक रात्रि में ५२ साधवियों के १० संघाटक तैयार कर श्रीमज्जयाचार्य से निवेदन किया। आचार्यश्री आपकी कार्य-कुशलता व तत्परता पर बहुत प्रसन्न हुए। आहार के समविभाग की परम्परा का श्रेय भी सरदारसती को ही है। साधु जीवन में विविध तपस्याएँ कीं, अनेक साधवियों को प्रोत्साहित किया। अन्त में वि० सं० १९२७, पौष कृष्णा ८ को आजीवन अनशन (पाँच प्रहर के अनशन) में आपका स्वर्गवास हुआ।

३. **महासती गुलाबांजी**—हृदय में कोमलता, भाषा की मधुरता और आँखों की आर्द्रता—ये नारी के सहज गुण हैं। साध्वी श्री गुलाबांजी में इनके साथ-साथ व्यक्तित्व का सुयोग भी था।

जिसका जीवन विवेक रूपी सौन्दर्य से अलंकृत है। वही वास्तव में सुन्दर है, महासती गुलाबांजी में बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार के सौन्दर्य का सहज मेल था। शरीर की कोमलता, अवयवों की सुन्दर संघटना, गौरवर्ण—ऐसा था उनका बाह्य व्यक्तित्व। मिलनसारिता, विद्वता, सौहार्द, वात्सल्य और निश्छलभाव—यह था आपका आन्तरिक व्यक्तित्व।

आपकी दीक्षा जयाचार्य के करकमलों से हुई। महासती सरदारांजी से संस्कृत व्याकरण तथा काव्य का अध्ययन किया। मेधावी तीव्रता, और ग्रहण-पटुता से कुछ समय में ही विदुषी बन गयी।

श्रीमज्जयाचार्य ने भगवती सूत्र की राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध टीका करनी प्रारम्भ की। आचार्यश्री पद्य फरमाते और आप एक बार सुनकर लिपिबद्ध कर लेतीं। एक समय में ६, ७ पद्यों को सुनकर याद रख लेतीं। आपकी लिपि सुघड़ और स्पष्ट थी। आपने अनेक ग्रन्थ लिपिबद्ध किए।

व्याख्यान कला बेजोड़ थी। कण्ठ का माधुर्य रास्ते में चलते पथिक को रोक लेता था। वि० सं० १९२७ में साध्वीप्रमुखा का कार्यभार सँभाला। १५ वर्ष तक इस पद पर रहीं। आपके अनुशासन में वात्सल्य मूर्तिमान था। समस्त साध्वी-समाज का विश्वास आपको प्राप्त था। आपका स्वर्गवास १९४२ की पौष कृष्णा नवमी को हुआ।

४. महासती नवलाँजी—आपका जन्म सं० १८८५ में हुआ। बाल्यावस्था में ही विवाह हो गया। कुछ वर्ष पश्चात् ही पति का वियोग सहन करना पड़ा। तृतीय आचार्य श्री ऋषिराय जी के कर-कमलों से दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ। आपने दीक्षा के दिन अपना केश-लुंचन स्वयं अपने हाथों से किया।

विवेक, नम्रता आदि गुणों से योग्य समझकर आचार्यश्री ने उनको बहुत सम्मान दिया, उसका उदाहरण है, उनको उसी दिन 'साङ्ग' की वन्दना करवाई गई।

आपने बत्तीस आगमों का वाचन किया। तत्त्व को गहराई से पकड़तीं और निपुणतापूर्वक अन्य जनों को समझातीं। कण्ठ में माधुर्य और गाने की कला सुन्दर थी। सिंघाड़े की साध्वियों को पुस्तकें समर्पित करने की पहल आपने की। जयगणिके शासनकाल में १३ वर्ष तक गुरुकुलवास का सुन्दर अवसर आपको प्राप्त हुआ। १२ वर्ष ६ माह तक अग्रणी रूप में बहिर्विहार करते हुए जन-जीवन को जागृत किया।

आचार्यश्री रायचन्द जी, आचार्यश्री जीतमलजी, आचार्यश्री मधराजजी, आचार्यश्री माणकचन्दजी, आचार्यश्री डालगणिके इन पाँच आचार्यों की आज्ञा और इंगित की आराधना करती हुई आचार्यों की करुणा-दृष्टि की पात्र बनीं।

ज्येष्ठा और कनिष्ठा सभी साध्वियों को आप से अनहद वत्सलता मिलती। ३ वर्ष तक बीदासर में आपका स्थिरवास हुआ। आषाढ़ कृष्णा पंचमी के दिन नव प्रहर के अनशनपूर्वक ६९ वर्ष की अवस्था में समाधिपूर्वक स्वर्गगमन किया।

५. महासती जेठाँजी—आपका जन्म वि० सं० १९०१ में हुआ।

दीक्षा वि० सं० १९१६ में चूरू में हुई। प्रमुखा पद वि० सं० १९५५ में लाडनू में प्राप्त हुआ। आपका स्वर्गवास वि० सं० १९८१ में राजलदेसर में हुआ।

व्यक्तित्व स्वयं एक ज्योति है। वह स्वयं प्रकाशशील है। साध्वीश्री जेठाँजी व्यक्तित्व की धनी थीं। शरीर सम्पदा से आपकी आन्तरिक सम्पदा कहीं अधिक महान् थी। यही कारण था कि आपका जीवन उत्तरोत्तर आदर्श बनता गया और आपने तपस्या को अपने में मूर्तकर शरीर के प्रति अभयत्व की भावना का पाठ पढ़ाया।

आपके दो दशक गृहस्थवास में बीते। इस अल्प अवधि में अनेक सुख-दुःखात्मक अनुभूतियाँ आपको हुईं। आपका कुटुम्ब समृद्धिगाली था। आपका विवाह हुआ परन्तु १६वें वर्ष में प्रवेश पाते ही पति का वियोग हो गया और आपका सर्वस्व लुट गया। सब कुछ खोकर भी आपने वह पाया जो अमर आनन्द देने वाला था। दुःख वैराग्य की सुखमय अनुभूति में बदल गया।

जयाचार्य के कर-कमलों से दीक्षा संस्कार हुआ। सरदार सती के सान्निध्य में शिक्षण चला। रुचि एकनिष्ठ थी। महासती सरदारोंजी की वैयावृत्य और शासन के कतिपय कार्यों का दायित्व स्वयं ले लिया। आपने सेवा व्रत को अपने जीवन का अंग बना लिया। ग्लान साधु-साधवियों के लिए औषधि का सुयोग मिलाने का कार्य आपने पूर्ण तत्परता से निभाया। नवदीक्षिता साधवियों को आपकी देख-रेख में रखा जाता। आप उन्हें सुसंस्कारों से संस्कारित बनातीं। कष्टसहिष्णुता का मर्म समझातीं।

तेरापंथ के सप्तमाचार्य श्री डालगणि ने आपको प्रमुख पद पर स्थापित किया। आपकी सेवाओं के विषय में डालगणि कहते थे—“जेठाँजी की सेवाएँ अनुकरणीय हैं। इन्होंने आचार्यों तथा साधु-साधवियों की बहुत सेवाएँ कीं। इनसे सेवा करना सीखो।”

साध्वी श्री जेठाँजी ने १७ और २ को छोड़कर २२ तक चौविहार तपस्या की। तेरापंथ में यह चौविहार तपस्या का उत्कृष्ट उदाहरण है। सहज सौन्दर्य, कर्तव्य-निष्ठा, गुरु-भक्ति सहज ही जन-जन को आकृष्ट कर लेती थी।

कालूगणि फरमाया करते—“जेठाँजी की देखरेख में कितनी भी साधवियाँ को रखा जाए, उनकी व्यवस्था के बारे में मुझे चिन्ता नहीं करनी पड़ती।” इन वचनों में उत्तरदायित्व के प्रति उनकी निष्ठा एवं अपने आश्रित के प्रति वात्सल्य की पूर्ण झलक है।

३१० : जैनधर्म की प्रमुख साध्वियाँ एवं महिलायें

६. महासती कानकवरजी—आपका जन्म वि० सं० १९३० में श्री डूंगरगढ़ में हुआ। दीक्षा वि० सं० १९४४ में वीदासर में हुई। प्रमुखा-पद वि० सं० १९८१ को चूरु में प्राप्त किया।

अहिंसा और अभय एकार्थक है। जहाँ अभय है वहाँ अहिंसा के भाव फूलते-फलते हैं। महासती कानकुमारीजी का जीवन इन दोनों का समवाय था। उनमें यदि नारी की सुकुमारता थी तो साथ-साथ पौरुष का कठोर अनुबन्ध। एक बार विहार में—एक छोटे से गाँव में रुकना पड़ा। रात्रि में वहाँ चोर आये, बाहर सोये कासीद को रस्सी से बाँध दिया और अन्दर घुसे। महासती कानकवरजी ने सब साध्वियों को जगाकर महामन्त्र का जाप करना शुरू कर दिया। चोर बोले तुम्हारे पास जो कुछ है, वह हमें दे दो। महासती ने पन्ने निकालते हुए कहा—इनमें अमूल्य रत्न भरे हैं। और संगीत की थिरकती हुई स्वर लहरी उनके कानों में गूँजने लगी। उसमें बहुत सुन्दर भाव थे। चोरों का मन बदल गया और अपनी धृष्टता के लिए क्षमा माँगते हुए चले गये।

कला जीवन का उदात्त पक्ष है। जो जीने की कला में निपुण है, वह सब कलाओं में निपुण है। आपका जीवन कला की स्फुट अभिव्यक्ति था। जीवन कला के साथ-साथ अन्यान्य कलात्मक वस्तुओं के निर्माण का शिक्षण देना भी आप अपना कर्तव्य समझती थीं। अपनी सन्निधि में रहने वाली साध्वियों को सभी कलाएँ सिखातीं। आप कला में बेजोड़ थीं। आपके अनुशासन में “वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि” यह उक्ति चरितार्थ होती थी।

स्वाध्याय की विस्मृति न हो जाए, यह स्वाध्याय का गौण पक्ष है; मुख्य पक्ष है तत्सम आनन्दानुभूति। महासती कानकवरजी स्वाध्याय में लीन रहतीं। ६ आगम, अनेक भजन, स्वतन, थोकड़े कण्ठस्थ थे। रात में घण्टों पुनरावर्तन करतीं। दिन में आगम-वाचन करतीं। वर्ष भर में ३२ आगमों का वाचन हो जाता।

आपको साध्वी समाज का अटूट विश्वास प्राप्त था। इसका हेतु था अप्रतिम और निश्चल वात्सल्य। दूसरों को समाधि पहुँचाने में अपना स्वार्थ त्याग करने हेतु सबसे आगे थीं।

व्याख्यान शैली प्रभावोत्पादक थी। बड़े-बड़े साधु आपके सामने व्याख्यान देने में सकुचाते थे। आपके प्रति साधुओं के हृदय में बहुमान था।

आपके बारे में आचार्यश्री तुलसी ने ‘कालू यशोविलास’ में लिखा है—

संचालन शैली सुघड़ ज्ञान ध्यान गलतान ।
 कानकँवर गण में लह्यो गुरु कृपा सम्मान ॥
 निमल नीति युत पालियो चरण रमण सुविलास ।
 बाल्यकाल ब्रह्मचारिणी वर्षे गुण पचास ॥
 श्रुति स्वाध्याय विलासिनी हसिनी-कर्मकठोर ।
 विकथावाद विनासिनी आश्वसिनी मन मोर ॥
 अति सुखपूर्वक समालियो निजसंयम जीतव्य ।
 वाह ! वाह सती महासती अवसर लह्यो ! अलभ्य ॥

वि० सं० १९९३ भाद्रपक्ष कृष्ण ५ को अत्यन्त समाधिस्थ अवस्था में राजलदेसर में आपका स्वर्गवास हुआ ।

७. **महासती शमकूजी**—आपका जन्म-स्थान रतन नगर था । गर्भावस्था में माता को लक्ष्मी का स्वप्न दिखायी दिया । स्वप्न में ही माँ ने पूछ लिया—यह क्या ? उत्तर मिला—यह कन्या तेरे कुल की शृङ्गार बनेगी । अतुल स्नेह और वात्सल्य से पालन-पोषण हुआ । अल्पवय में पाणिग्रहण हो गया । ससुराल में जन-धन की वृद्धि होने से आपको लक्ष्मी के रूप में स्वीकार किया गया । योग्यता के कारण कुछ दायित्व तत्काल सौंप दिये । अचानक पति का वियोग हो गया । पुत्री के वैधव्य की बात सुन पिता तीन दिन मूर्च्छित रहे । स्वप्न में आवाज आयी—यह अप्रत्याशित दुःख इसके जीवन को अमरत्व प्रदान करेगा ।

एक बार स्वप्न में महासती ने आम्र से लदे हुए वृक्ष को देखा । मन में दीक्षा का संकल्प किया । माता-पिता का स्नेह और सास-ससुर का अनुराग उन्हें बाँध नहीं सका । दीक्षा से पूर्व पतिगृह की रखवाली का भार आप पर था ।

दीक्षा के समय आपके जेठ ने कहा—‘जितना दुःख मेरे कनिष्ठ भ्राता की मृत्यु पर नहीं हुआ उतना आज हो रहा है ! मेरे घर की रखवाली अब कौन करेगा ?’ ये उद्गार दायित्व के प्रति इनकी गहरी निष्ठा और कुशलता के परिचायक हैं ।

आपके मन में कला के प्रति सहज आकर्षण था । हर कार्य में स्फूर्ति और विवेक सदा बना रहता था । १५ मिनट में चोलपट्टे को सीना, एक दिन में रजोहरण की २५ कलिकाओं को गूथना स्फूर्ति के परिचायक हैं । गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी आपने अनेक साध्वियों को सूक्ष्म कला सिखायो ।

आप स्वाध्याय-रसिक थीं। शैक्ष, ग्लान, वृद्ध की परिचर्या में विशेष आनन्दानुभूति होती थी। जब कभी शल्य-चिकित्सा का प्रसंग आता तो अपने हाथों से उस कार्य को सम्पन्न कर देतीं। हाथ था हल्का और साथ-साथ कार्यकुशलता। एक बार कालूगणि चातुर्मास के लिए चूरू पधार रहे थे। नगर प्रवेश का मुहूर्त ६॥ बजे था। दूरी थी ६ मील को। आचार्यश्री इतने शीघ्र किसी हालत में वहाँ पहुँच नहीं सकते थे। अतः प्रस्थाना रूप आपको भेजा। आप एक घण्टे में ६ मील पहुँच गयीं। स्मृति और पहचान अविचल थी। वर्षों बाद भी दर्शनार्थी की वन्दना अँधेरे में नामोच्चारणपूर्वक स्वोकार करतीं। दर्शनार्थी गद्गद् हाँ जाते और अपना सौभाग्य समझते।

हर्ष से विह्वल और शोक से उद्विग्न होने वाले अनेक हैं। दोनों अवस्थाओं में समरस रहने वाले विरले मिलेंगे। कालूगणि का स्वर्गवास हुआ। सर्वत्र शोक का वातावरण था। ऐसी विकट स्थिति में आपने धैर्य का परिचय दिया। सब में साहस का मन्त्र फूँका। वह शोक अभिनव आचार्य पद प्राप्त तुलसी गणि के अभिनन्दन में हर्ष बनकर उपस्थित हुआ।

तेरापंथ शासन की ३७ वर्षों तक सेवाएँ कीं। आचार्यों का विश्वास, साधु-साध्वियों का अनुराग, श्रावक समुदाय की अविचल भक्ति को स्वीकार करती हुई साधना की आनन्द मुक्ताओं को समेटती-बिखेरती वि० सं० २००२ में पूर्ण समाधि में इस संसार से चल बसीं। आज उनकी केवल स्मृति रह गयी है जो अनेक कार्यों में प्रतिबिम्बित होकर विस्मृति को स्मृति बना देती है।

८. महासती लाडांजी—आपका जन्म वि० सं० १९६० में लाडनू में हुआ तथा दीक्षा भी लाडनू में ही वि० सं० १९८२ में हुई।

साध्वी-प्रमुखा पद-प्राप्ति वि० सं० २००२ में हुई। विवाह के अनुरूप आयु होने पर विवाह किया गया किन्तु अल्पसमय पश्चात् ही पति-वियोग सहना पड़ा। वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित हुआ। आपकी दीक्षा अष्टमाचार्यश्री कालूगणि के करकमलों से मुनि तुलसी, जो बाद में तेरापंथ के नवम आचार्य बने, के साथ हुई। किसने ऐसा चिन्तन किया था कि इस शुभ मुहूर्त में दीक्षित होने वाले ये दोनों साधक शासन के संचालक बनेंगे। शासन का सौभाग्य था।

कालूगणिके स्वर्गारोहण के पश्चात् तुलसीगणि पदासीन हुए।

महासती लाडांजी को गुरुकुलवास मिला। महासती झमकूजी के स्वर्ग-रोहण के पश्चात् उनका कार्यभार महासती लाडांजी को सौंपा गया।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी का जीवन क्रान्ति का जीवन है। आचार्यवर्य के कुशल नेतृत्व में साधु-साध्वियों ने अनेक क्षेत्रों में विकास किया। महासती लाडांजी ने उस विकास को शतगुणित किया। साध्वियों ने शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रगति की है उसका श्रेय प्रमुख रूप से साध्वी-प्रमुखाजी को ही है। वे प्रेरणास्रोत थीं। जीवन भर प्रेरणादीप बनकर जलती रहीं। सागर में गागर समाये इसमें कोई आश्चर्य नहीं किन्तु गागर में सागर समा जाए वह आश्चर्य है। साध्वीप्रमुखा श्री लाडांजी ने गागर बनकर जीवन बियाया किन्तु उनमें सागर लहराता रहा। जिज्ञासा जीवन का जीवन्त आधार है। आप में जिज्ञासायें प्रबल थीं। यत्र-तत्र जिज्ञासाओं को शान्त कर अपनी गागर को भर लेतीं।

आप अभय थीं, भय था तो केवल पाप का। आचार-कौशल इसका फलित था। साध्वीप्रमुखा का पद उन्हें मिला। वे पद से शोभित नहीं थीं, पद उनसे सुशोभित हुआ। वे असामान्य थीं, पर उन्होंने सामान्य से कभी नाता नहीं तोड़ा। वे निःस्पृह थीं। उन्हें सब कुछ मिला पर उसमें आसक्त न बनीं। उनकी मृदुता, सौम्यता, निडरता और कष्ट सहिष्णुता विलक्षण थी। उनका भौतिक शरीर रोगग्रस्त हुआ किन्तु मनोबल सदा स्वस्थ रहा।

बहुत वर्ष तक निरन्तर रक्तस्राव की बीमारी ने आपकी सहिष्णुता को द्विगुणित कर दिया। चिकित्सकों ने तां कैसर तक की कल्पना कर ली। वि० सं० २०२३ में आचार्य प्रवर ने दक्षिण यात्रा प्रारम्भ की। महासती लाडांजी को बीदासर में अस्वस्थता के कारण रुकना पड़ा। व्याधि ने भयंकर रूप धारण कर लिया। जलोदर की भयंकर वेदना में भी चार-चार सूत्रों का स्वाध्याय चलता। अत्यन्त समभाव से वेदना को सहन किया। थोड़े ही महीनों में तीन बार पानी निकाला गया। डॉक्टर पर डॉक्टर आने लगे। सबकी आवाज थी कि इस बीमारी का आपरेशन के सिवा कोई इलाज नहीं। पर आपने स्वीकृति नहीं दी। हँसते-हँसते समरांगण में सुभट की भाँति आत्मविजयी बनीं। आपकी सहिष्णुता को देख, सुनकर महामना आचार्य प्रवर ने आपको “सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति” उपाधि से अलंकृत किया।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की रात्रि के ३। बजे अनशनपूर्वक कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्वर्ग के लिए प्रस्थान किया।

९. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी—आपका मूल निवास स्थान लाडनू था। वि० सं० १९९८ में कलकत्ता में आपका जन्म हुआ। आपने वि० सं० २०१७ को आषाढी पूर्णिमा को केलवा में आचार्य तुलसी से दीक्षा ग्रहण की। साध्वीप्रमुखा का पद वि० सं० २०२८ में गंगाशहर में प्राप्त हुआ।

धार्मिक परिवार में जन्म होने से बचपन से ही आपको धर्म के संस्कार प्राप्त हुए। आपके मन में वैराग्य के अंकुर प्रस्फुटित हुए, पर संकोचशीला बालिका होने के कारण सबके सामने अपने विचार प्रकट नहीं किये।

वैराग्य भावना बलवती होती गई। आखिर सं० २०१३ भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी के दिन आपको श्री पारमार्थिक शिक्षण संस्था में प्रविष्ट किया गया। आपका प्रत्येक कार्य शालीनता व विवेकपुरस्सर होता। साधना की भूमिका में निष्णात पाकर आचार्यश्री तुलसी ने आपकी दीक्षा की स्वीकृति प्रदान की। फलस्वरूप तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के ऐतिहासिक स्थल केलवा में आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा के पश्चात् आपकी स्फूर्तप्रज्ञा और अधिक उन्मिषित हुई। एकान्तप्रियता, गम्भीरता, स्वल्पभाषण, निष्ठापूर्वक कार्य-संचालन आपकी विरल विशेषताएँ हैं। अप्रमत्तता आपका विशेष गुण है। पश्चिम रात्रि में उठकर सहस्र पद्यों का स्वाध्याय आपका स्वभाव बन गया है।

आज भी आपको 'दसवेआलिय' नाममाला, न्यायकर्णिका, नीति-शतकम्, जैन सिद्धान्त दीपिका, शान्तसुधारस, सिन्दूर प्रकर, 'षड्दर्शन' आदि अनेक ग्रन्थ सम्पूर्ण रूप से कण्ठाग्र हैं।

न्याय सिद्धान्त, दर्शन और व्याकरण का आपने गहन अध्ययन किया है। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत भाषा पर पूर्ण अधिकार है। अंग्रेजी भाषा में भी आपकी अच्छी गति है। आपका अध्ययन आचार्य प्रवर की पावन सन्निधि व साध्वी श्री मंजुलाजी की देख-रेख में हुआ।

सब दृष्टियों से पूर्ण योग्य समझकर गंगाशहर मर्यादा महोत्सव के अवसर पर सं० २०२८ की माघ कृष्णा त्रयोदशी को युगप्रधान आचार्य प्रवर ने साध्वीप्रमुखा के रूप में आपका मनोनयन किया। उस समय आप से ४१७ साध्वियाँ रत्नाधिक थीं। आज भी लगभग ४०० साध्वियाँ दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हैं। आपके नम्र व्यवहार को देखकर सब आश्चर्यचकित हैं। आप एक कुशल अनुशासिका, विज्ञ व्यस्थापिका व सफल संचालिका होने के साथ-साथ सफल संपादिका व लेखिका भी हैं।

आपकी सतत प्रवाहिनी लेखनी जनजीवन को नया चिन्तन, नव्य-प्रेरणा व नूतन सन्देश देती है। आगम सम्पादन के गुरुतर कार्य में भी सतत संलग्न हैं। आचार्यप्रवर के प्रमुख काव्य—काल्यशोविलास, डालिम-चरित्र, माणक महिमा, नन्दन निकुंज, चन्दन की चुटकी भली आदि का आपने सफलतापूर्वक सम्पादन किया। 'आचार्यश्री तुलसी दक्षिण के अंचल में, आपको अपूर्व कृति है और 'सरगम' में आपको काव्यमयी प्रतिभा की एक झलक मिलती है जो भक्तिरस से ओत-प्रोत है।

आपका समर्पण भाव अनुठा है। आचार्यश्री के हर इङ्गित को समझ-कर उसको क्रियान्वित करती हैं। नियमितता तथा संकल्प की दृढ़ता आपके जीवन की विशेष उपलब्धि है—जिसके फलस्वरूप इतने व्यस्त कार्यक्रम में भी आप जो करणीय है, वह करके ही रहती हैं।

आपके महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व को शब्दों की सीमा में आवद्ध करना शक्य नहीं है। आप आगे आने वाले सैकड़ों युगों तक जन-जन का मार्ग प्रशस्त करती रहेंगी।



महत्तरा श्री मृगावतीश्री जी

आधुनिक युग की जैन साध्वियों में तपागच्छ के विजयानन्द सूरि की परम्परा की महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी का नाम महत्त्वपूर्ण है। दुर्भाग्य से श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में तपागच्छ की साध्वियों के सन्दर्भ में जानकारी का अभाव ही है। अतः प्रस्तुत विवरण में खरतर-गच्छ को छोड़कर तपागच्छ एवं अन्य संघों की साध्वियों के संबंध में कोई विवरण नहीं दिया जा सका है। किन्तु तपागच्छ में महत्तरा मृगावती श्री जी का नाम एक ऐसा नाम है जिसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। मृगावती श्री जी का जन्म राजकोट से १६ मील दूर सरधार नामक ग्राम में हुआ था। आपश्री ने अपनी माता के साथ विक्रम सं० १९९५ पौष शुक्ला दशमी को बारह वर्ष की उम्र में ही जैन साध्वी की दीक्षा ले ली थी। आपश्री का अध्ययन आगम प्रभाकर श्री पुण्यविजय जी, पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदासजी, पं० दलमुख भाई मालवणिया जैसे जैन विद्या के वरिष्ठ विद्वानों के सान्निध्य में हुआ। आपश्री एक विदुषी साध्वी थीं। उदारदृष्टि सम्पन्न गुरुओं का सान्निध्य पाकर आप उदारहृदया बन गईं थीं। साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त और वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन करने की क्षमता आपमें अद्भुत थी। मूलतः गुजरात की होते हुए भी आपका कार्यक्षेत्र मुख्यरूप से उत्तर भारत रहा। पंजाब का सम्पूर्ण जैन समाज—चाहे वह स्थानकवासी हो, या मूर्तिपूजक, वह आपके प्रति अनन्य आस्थावान रहा है। आपकी प्रवचन शैली में माधुर्य और प्रवाहशीलता थी। आपश्री के बम्बई, कलकत्ता आदि अनेक क्षेत्रों में सार्वजनिक प्रवचन हुए। आपश्री की प्रेरणा में देहली में वल्लभस्मारक और भोगीलाल लहरचन्द भारतीय विद्या संस्कृति मन्दिर की स्थापना हुई। इसी प्रकार कांगड़ा तीर्थ का जीर्णोद्धार भी आपकी प्रेरणा से हुआ। आपके उपदेश से आत्मानन्द हाई स्कूल हरियाणा, आत्मानन्द जैन कालेज अम्बाला जैसी अनेक शिक्षण संस्थाओं का सम्पोषण हुआ है। इसमें वल्लभ-स्मारक का निर्माण कार्य तो अद्भुत है। लगभग तीन करोड़ रुपये के व्यय से निर्मित यह स्मारक साध्वी श्री जी की यशोगाथा को युग-युगों तक स्मृत कराता रहेगा। आप स्वयं तो विदुषी थीं ही, विद्वानों को सम्मान देने में भी सदैव सहृदय रहती थीं। जहाँ आप दूसरों के प्रति अत्यन्त उदार थीं वहीं अपने प्रति

एवं अपने साध्वी वर्ग के प्रति नियम-व्यवस्था की दृष्टि से अत्यन्त कठोर भी थीं। आडम्बर युक्त कार्यों से आप सदैव दूर रहती थीं और साध्वी जीवन के नियमों का पालन अत्यन्त सजगता पूर्वक करती थीं। आपकी शिष्याओं में पूज्य साध्वी सुज्येष्ठा श्री जी, सुव्रताश्री जी, सुयशाश्री जी एवं सुप्रज्ञाश्री जी हैं। इनमें में साध्वी सुज्येष्ठा श्री जी का स्वर्गवास हो गया है। आपका शिष्या मण्डल भी प्राज्ञ एवं सहृदय है और अपनी पूज्य गुरुणी के आदेशों और निर्देशों के पालन में सदैव तत्पर रहता है।

आप श्री का स्वर्गवास १८ जुलाई १९८६ को बल्लभ स्मारक देहली में हुआ।

—सम्पादक

क्षमायाचना

समकालीन साध्वियों में हम केवल उन्हीं साध्वियों का विवरण दे पाये हैं, जिनके सन्दर्भ में हमें कुछ प्रकाशित सामग्री उपलब्ध हो सकी है। जिन संघों और सम्प्रदायों की साध्वियों का विवरण छूट गया है उसका कारण हमारी उनके प्रति उपेक्षा भावना नहीं, वरन् समुचित सामग्री का अभाव है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में हम केवल खरतरगच्छ की साध्वियों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। तपागच्छ के विभिन्न शाखाओं की साध्वियों का कोई भी विवरण नहीं दिया जा सका है। यद्यपि वह श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा का इतना विशाल गच्छ है कि सम्पूर्ण जैन साध्वियों में आधे से अधिक साध्वियाँ इसी गच्छ की हैं और जिनकी संख्या लगभग ४००० से अधिक है। इसी प्रकार अंचल गच्छ, पायचन्द गच्छ, त्रिस्थुतिक गच्छ की साध्वियों का भी कोई विवरण नहीं दिया जा सका है। त्रिस्थुतिक गच्छ में आज कई विदुषी साध्वियाँ हैं। साध्वी सुदर्शनाश्री जी, प्रियदर्शना श्री जी जैसी एम० ए० पी-एच० डी० साध्वियाँ भी इस गच्छ में हैं। स्थानकवासी परम्परा में भी हम पूज्य चम्पालाल जी, पूज्य नानालाल जी, पूज्य हस्तीमल जी और गुजरात की विविध सम्प्रदाय की साध्वियों के सन्दर्भ में कोई विवरण प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं। इसका कारण उस सम्बन्ध में हमारी जानकारी का अभाव ही है। तेरापन्थ धर्म की साध्वियों के सन्दर्भ में हमने केवल साध्वी प्रमुखाओं का विवरण दिया है। इस संघ में भी वर्तमान में अनेक विदुषी साध्वियाँ हैं। प्रस्तुत पुस्तिका तो जैन महिलाओं और साध्वियों के इतिहास के सन्दर्भ में मात्र प्राथमिक सूचना ही है। आशा है भविष्य में इस क्षेत्र में एक सुव्यवस्थित प्रयास किया जायेगा। यदि हमें भविष्य में इस दिशा सूचनाएँ उपलब्ध हुईं तो हम उनके उल्लेख का प्रयत्न करेंगे, अतः जिन संघों की साध्वियों का विवरण यहाँ नहीं दिया जा सका है उनके प्रति हम क्षमाप्रार्थी हैं और उनसे अपेक्षा करते हैं कि इस सन्दर्भ में वे हमें जानकारी प्रेषित करें ताकि भविष्य में इस सन्दर्भ में जो भी ग्रन्थ प्रकाशित हों, उसमें उनके वर्ग की साध्वियों को समुचित स्थान प्रदान किया जा सके।

—सम्पादक

परिशिष्ट-२

वर्तमान जैन साध्वियों का विवरण

(वर्ष १९९० की चातुर्मास सूची के आधारपर)

साध्वियों की संख्या

(अ) स्थानकवासी सम्प्रदाय

(१) श्रमण संघ (आचार्य आनन्द ऋषि जी)	६९०
(२) आचार्य हस्तीमल जी, आचार्य नानालाल जी, पु० चम्पालाल जी एवं अन्य राजस्थानी सम्प्रदाय	६०३
(३) श्री गोंडल मोटा पक्ष सम्प्रदाय, श्री लिम्बडी मोटा पक्ष सम्प्रदाय एवं अन्य गुजराती सम्प्रदाय	९१३

(ब) श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय

(४) त्र्यपागच्छ समुदाय	४२२६
(५) अंचलगच्छ समुदाय	१९४
(६) खरतरगच्छ समुदाय	१९२
(७) त्रिस्तुतिगच्छ समुदाय	१०९
(८) पार्श्वचन्द्रगच्छ समुदाय	६८

(स) श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय

(९) श्वेताम्बर तेरापन्थ समुदाय	५५३
(१०) स्वतन्त्र नवतेरापन्थ समुदाय	९

(द) दिगम्बर सम्प्रदाय

(११) दिगम्बर सम्प्रदाय	१३०
------------------------	-----

कुल साध्वियाँ ७६८७

लेखिका का परिचय

डॉ० (श्रीमती) होराबाई बोरदिया का जन्म उज्जैन (मध्यप्रदेश) में ई० सन् १९१८ में हुआ। उन्होंने सन् १९४७ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से साहित्य-रत्न, सन् १९४८ में आगरा विश्व-विद्यालय से बी०ए० तथा सन् १९५७ में विक्रम विश्वविद्यालय से समाज-शास्त्र में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। सन् १९७६ में "विदुषी जैन महिलाएँ और साध्वियाँ" विषय पर इन्दौर विश्वविद्यालय ने आपको



पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की।

आपका विवाह विश्व-प्रसिद्ध क्षय-रोग विशेषज्ञ पद्मश्री डॉ० नन्दलाल बोरदिया के साथ मई १९३२ में हुआ था। आपने अपने पति के साथ अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, फ्रान्स, डेनमार्क, जर्मनी आदि अनेक देशों की यात्रायें की। विद्या-प्रेम के साथ-साथ आपकी समाज-सेवा में भी प्रारम्भ से ही रुचि रही है। आप अनेक समाजसेवी संस्थाओं से जुड़ी रहो हैं और अनेक संस्थाओं द्वारा सम्मानित भी हुईं। आपके अनेक निबन्ध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। आपके एकमात्र पुत्र डॉ० स्वामी ब्रह्मेशानन्द जी युवावस्था में ही संन्यास ग्रहण कर रामकृष्ण मिशन के अन्तर्गत अध्यात्म-साधना और सेवा में लगे हुए हैं। इस प्रकार आपका सम्पूर्ण परिवार समाज सेवा और विद्योपसना के प्रति समर्पित है।